कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन

(श्रीमद् ज्ञानविमलसूरि कृत रास पर आधारित)

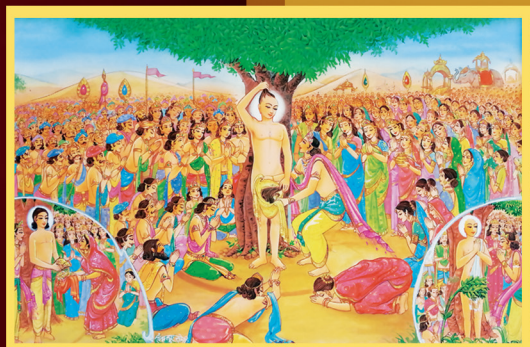

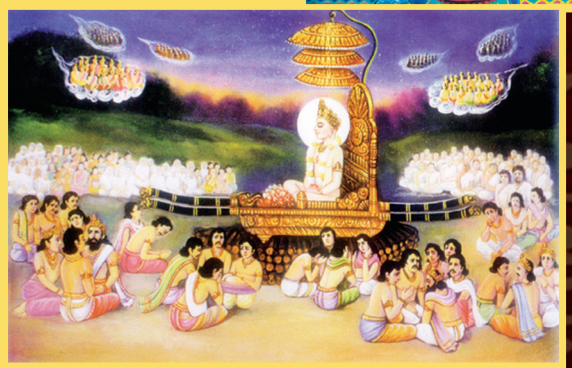

प्रवचनकार : प.पू.आ.श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

त्रिशला महारानी द्वारा १४ स्वप्न दर्शन

(पृष्ठ सं. 98-99 पर)

मेरु पर्वत पर इन्द्र का जन्माभिषेक

(पृष्ठ सं. 98-99 पर)

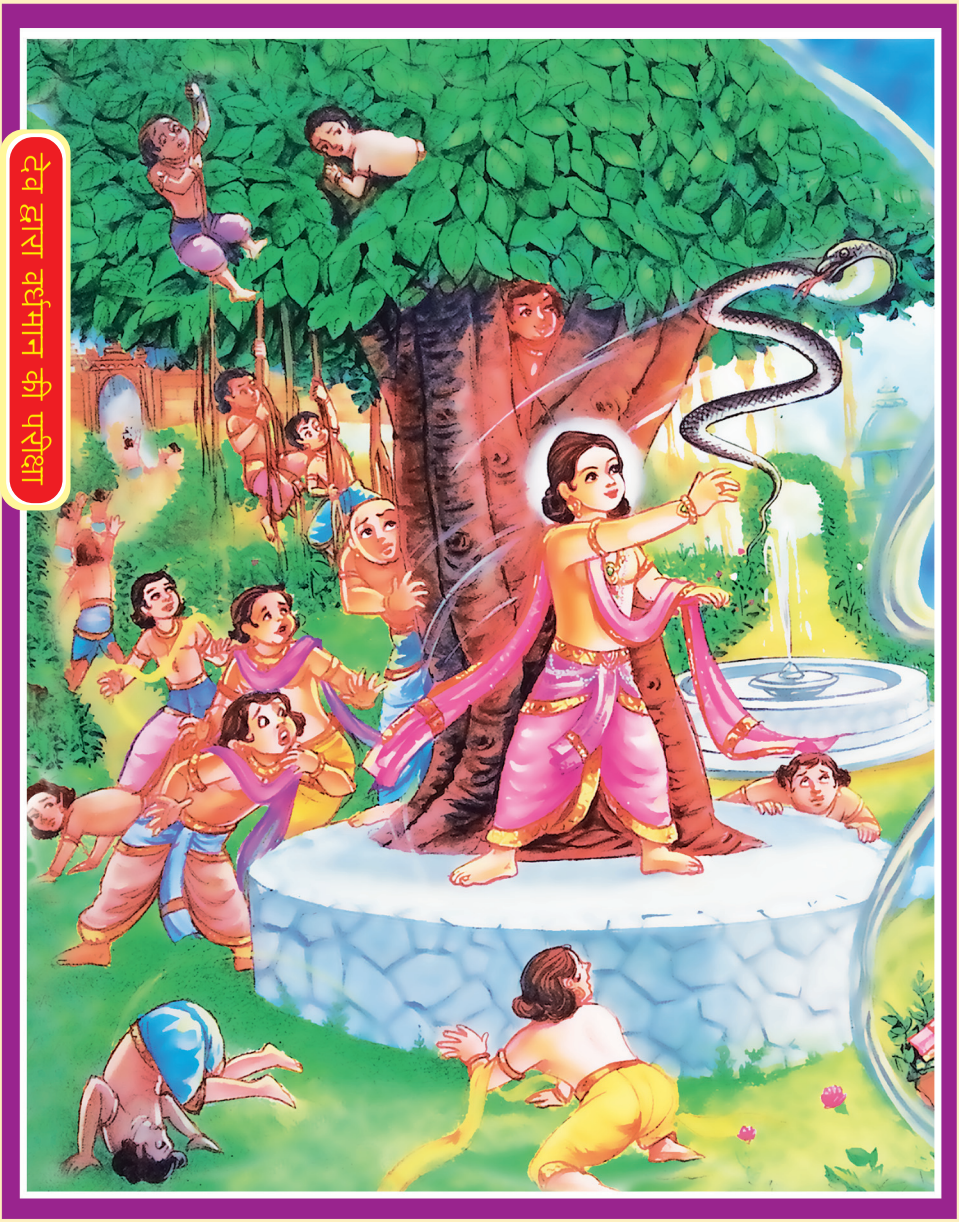

(पृष्ठ सं. 120-121 पर)

(पृष्ठ सं. 120-121 पर)

(पृष्ठ सं. 126-127 पर)

महावीर प्रभु द्वारा केशलोच

(पृष्ठ सं. 126-127 पर)

ब्राह्मण को वस्त्र दान

(पृष्ठ सं. 137-138 पर)

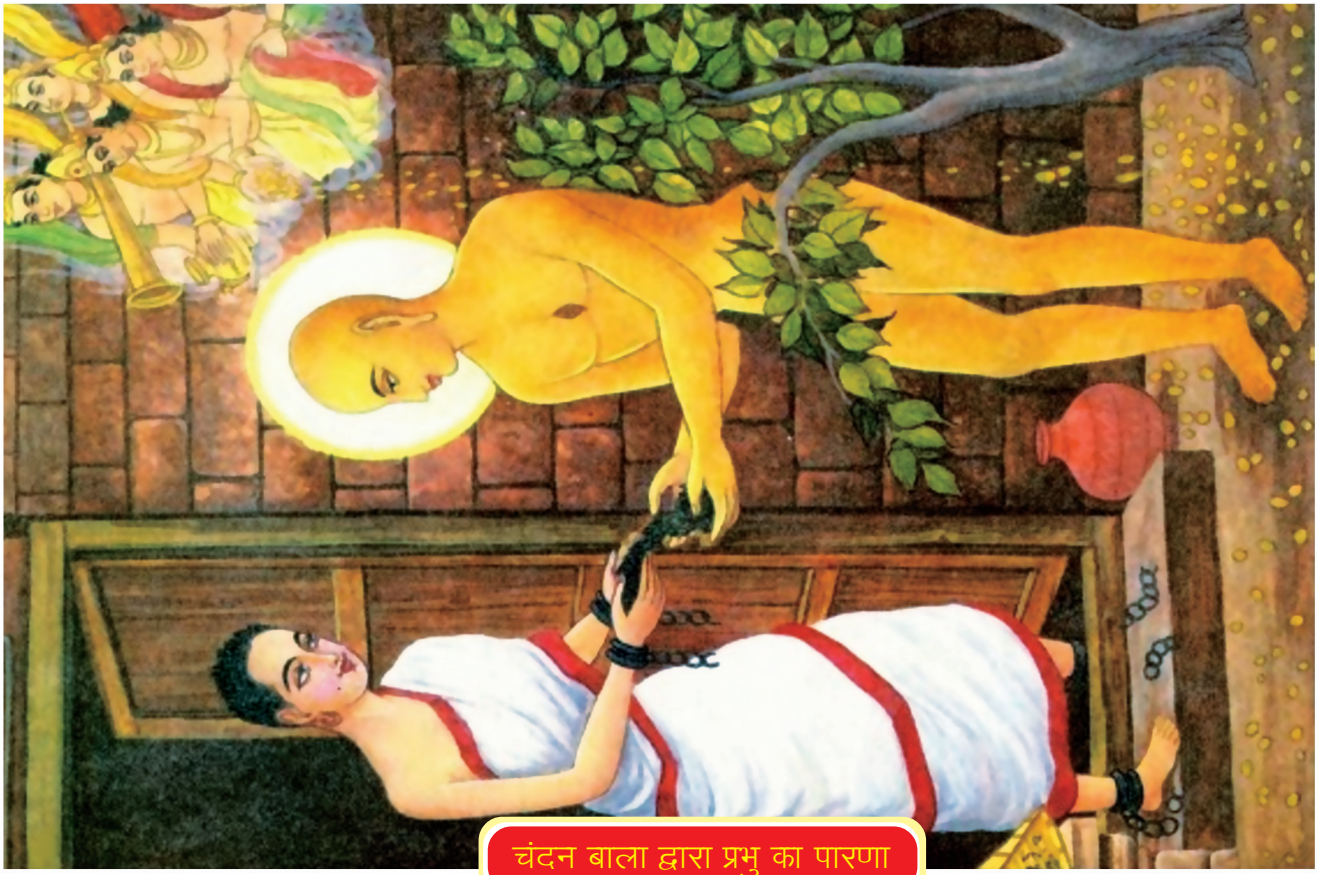

चंदन बाला द्वारा प्रभु का पारणा

(पृष्ठ सं. 137-138 पर)

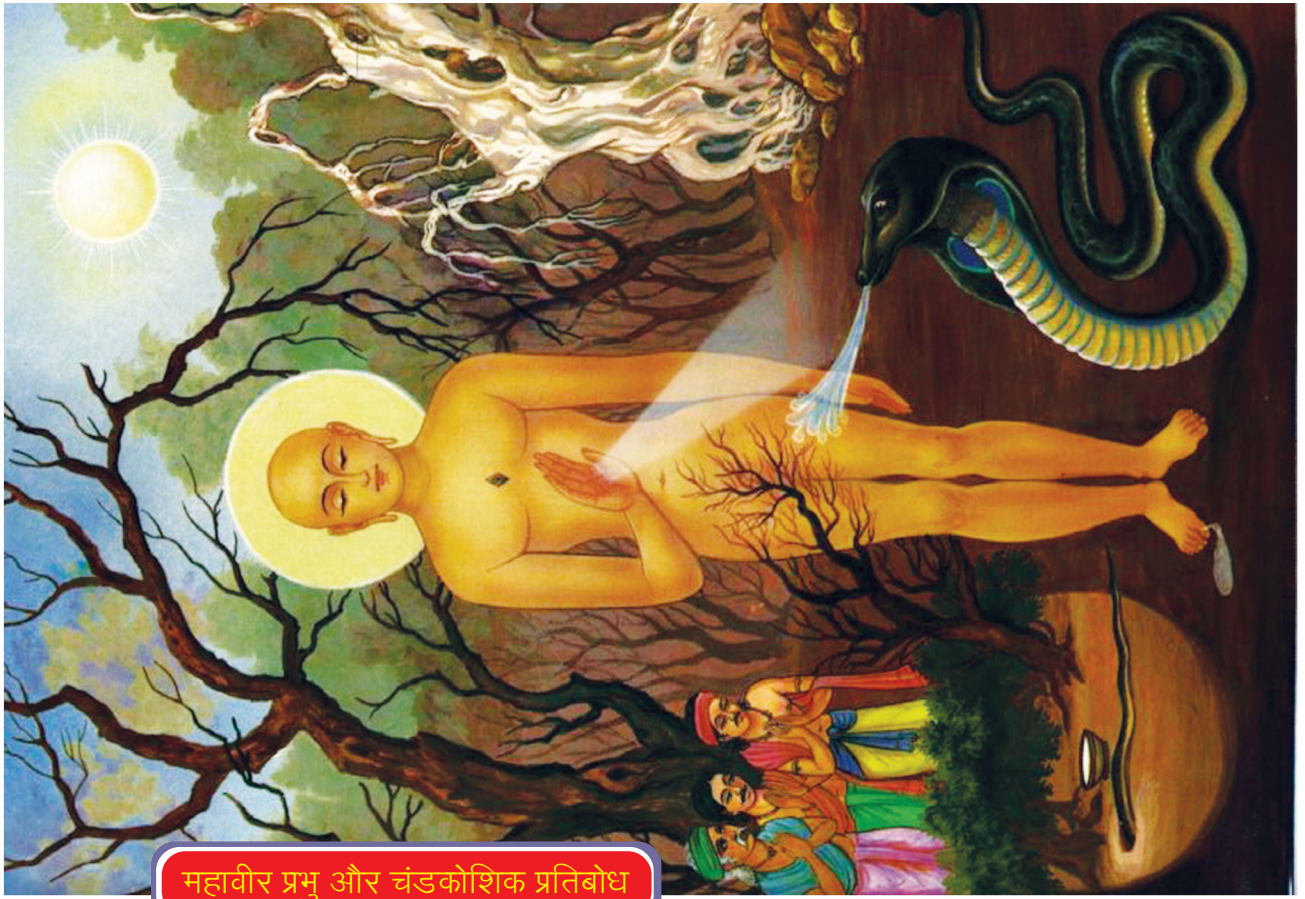

महावीर प्रभु और चंडकोशिक प्रतिबोध

(पृष्ठ सं. 171-172 पर)

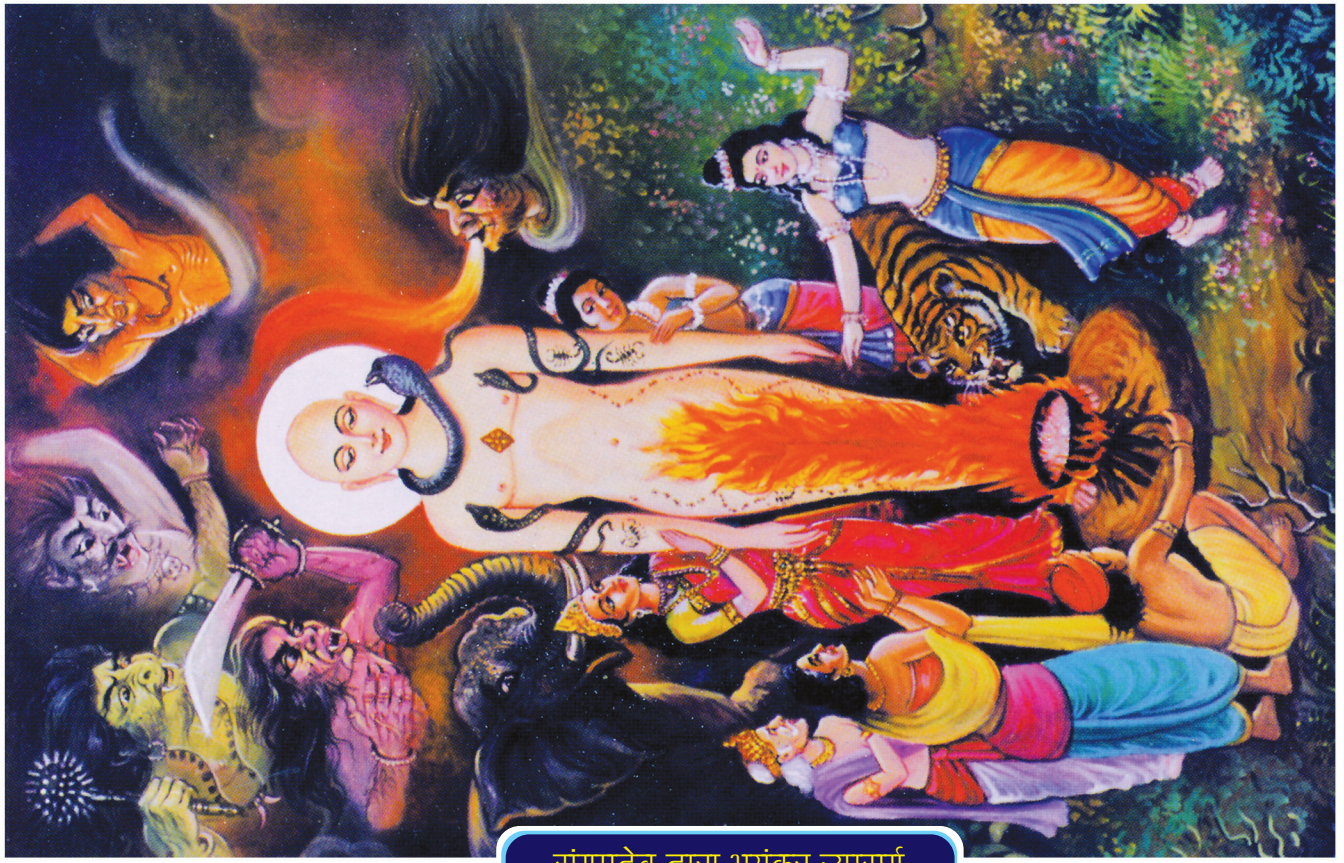

संगमदेव द्वारा भयंकर उपसर्ग

(पृष्ठ सं. 171-172 पर)

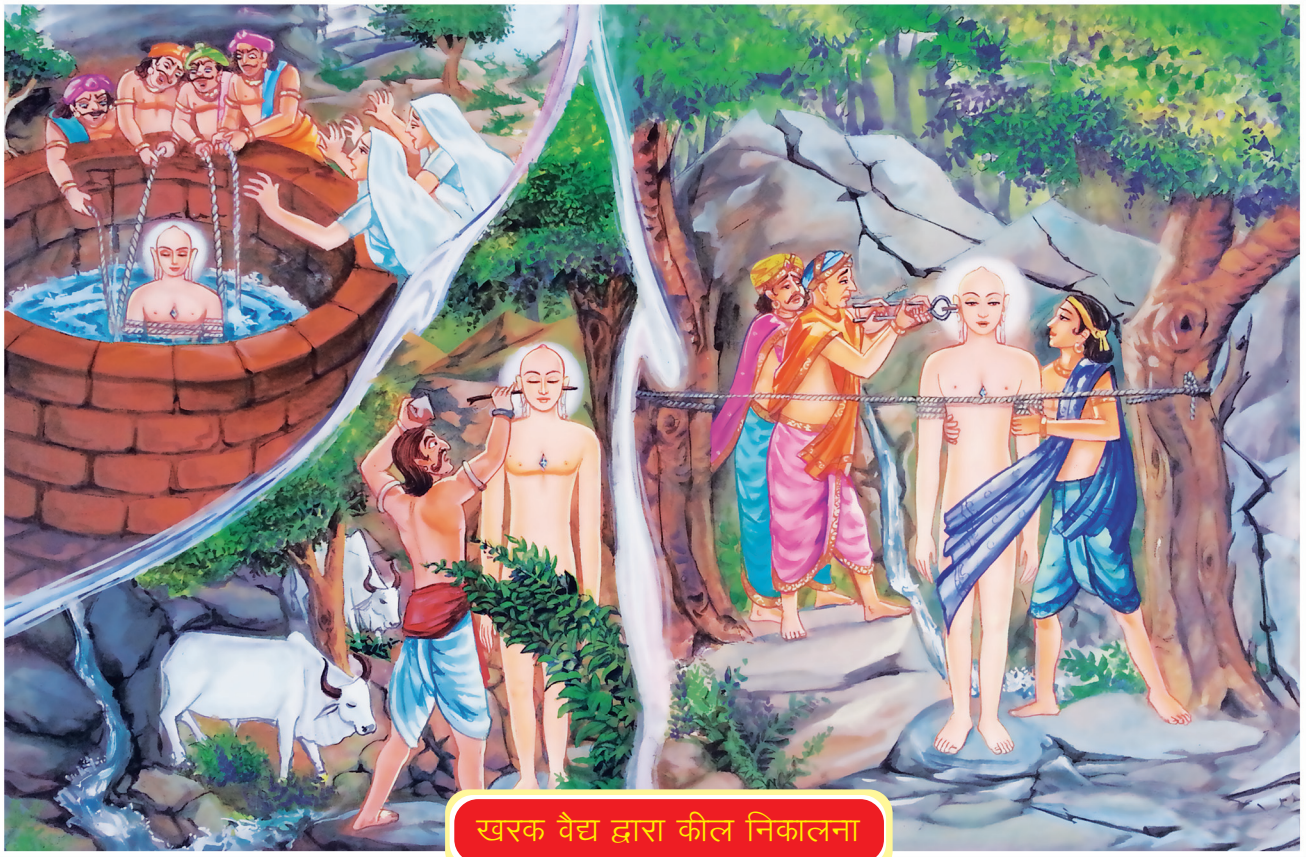

खरक वैद्य द्वारा कील निकालना

(पृष्ठ सं. 171-172 पर)

गोशाला द्वारा तेजो लेश्या

(पृष्ठ सं. 171-172 पर)

महावीर प्रभु को केवलज्ञान

(पृष्ठ सं. 184-185 पर)

गौतम द्वारा अष्टापद यात्रा

(पृष्ठ सं. 184-185 पर)

ऋषभदेव प्रभु की सेवा में नमि-विनमि

(पृष्ठ सं. 190-191 पर)

ऋषभदेव प्रभु का पारणा

(पृष्ठ सं. 190-191 पर)

प्रभु का अष्टप्रातिहार्य युक्त विहार

(पृष्ठ सं. 195-196 पर)

प्रभु के दूसरे तीर्थ की तथा गणधर देवों की स्थापना

(पृष्ठ सं. 195-196 पर)

कुंती द्वारा पांचाली तप

(पृष्ठ सं. 223-224 पर)

मेघयाली (कमठ) द्वारा उपसर्ग

(पृष्ठ सं. 223-224 पर)

नेमिकुमार की लग्न यात्रा

(पृष्ठ सं. 231-232 पर)

नेमिकुमार द्वारा पशुओं को बंधन मुक्ति

(पृष्ठ सं. 231-232 पर)

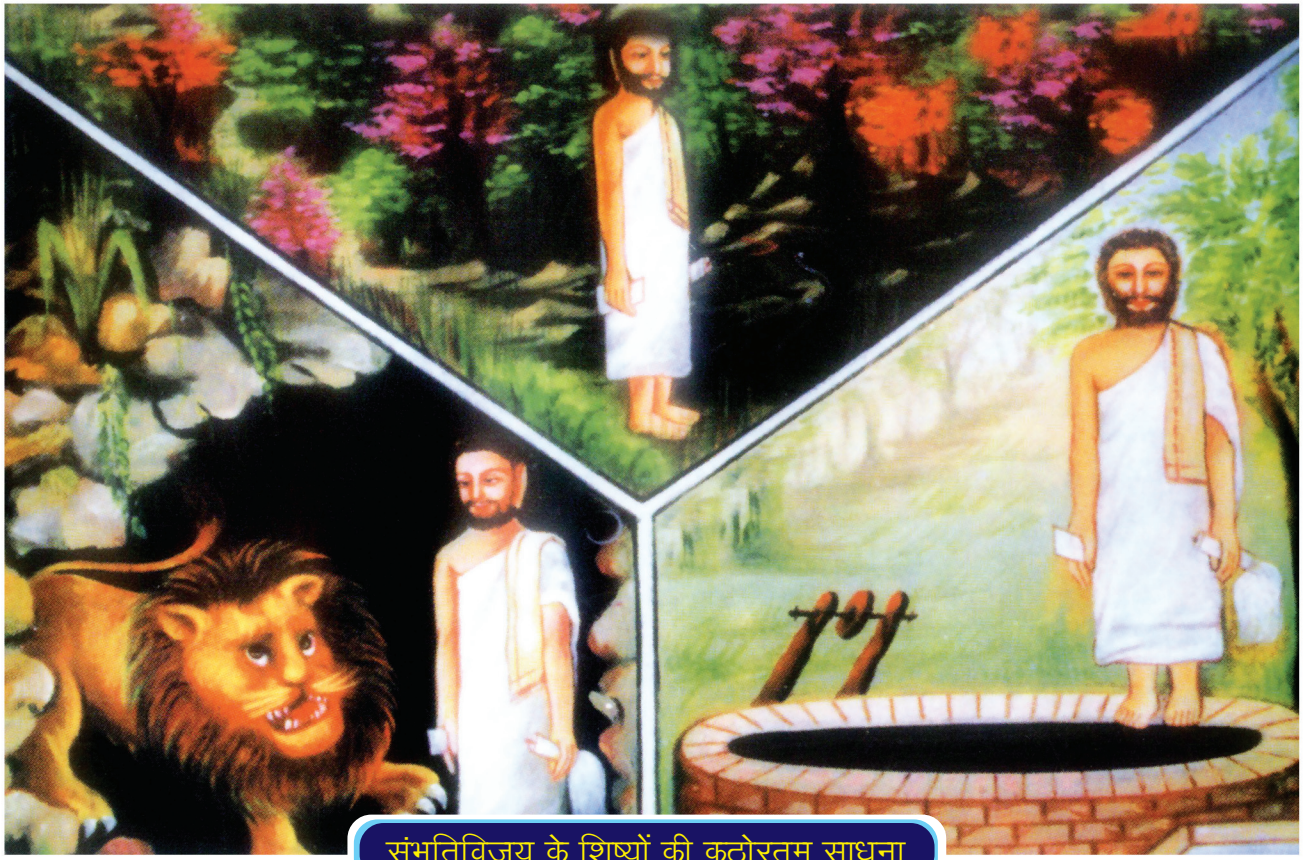

संभूतिविजय के शिष्यों की कठोरतम साधना

(पृष्ठ सं. 274-275 पर)

स्थूलभद्र और कोशावेश्या

(पृष्ठ सं. 274-275 पर)

श्रीमद् ज्ञानविमलसूरि-कृत रास के आधार पर :

कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन

लेखक

जिनशासन के अजोड़-प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक, परम शासन प्रभावक
स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.
के तेजस्वी शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी, निःस्पृह शिरोमणि, वात्सल्य वारिधि
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के कृपा पात्र चरम शिष्यरत्न गोड़वाड़ के गौरव
मरुधररत्न, हिन्दी साहित्यकार

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

104

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.अेस.अेस. रोड,
चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E),
मुंबई-400 002. Mobile : 9892069330, 8484848451

आवृत्ति : चौथी • मूल्य : 240/- रुपये • विमोचन : दि. 15-3-2020
प्रतियाँ : 1000 • स्थल : चैन्नाई (तामिलनाडु)

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

आप जैनधर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. **चेतन हसमुखलालजी मेहता**
   भायंदर (M.S.) M. 9867058940
2. **प्रवीण गुरुजी,**
   C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि
   जैन पुस्तकालय, श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
   चिकपेठ, बेंगलोर-560 053. M. 9036810930
3. **राहुल वैद,**
   C/o. अरिहंत मेटल कं.,
   4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज,
   सदर बाजार, दिल्ली-110 006. M. 9810353108
4. **चंदन एजेन्सीज**
   चीरा बाजार, मुंबई, M. 9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) **दिव्य संदेश प्रकाशन,** C/o. **सुरेन्द्र जैन,** 205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.ओस.ओस. रोड, चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E), मुंबई-2. **Mobile : 9892069330, 8484848451**

(2) **दिव्य संदेश प्रचारक, प्रकाश बड़ोल्ला,** 52, 3rd Cross, शंकरमाट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

बीसवीं सदी के महान् योगी, नि:स्पृह शिरोमणि पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के अंतिम शिष्यरत्न गोड़वाड़ के गौरव, प्रवचन प्रभावक, हिन्दी साहित्यकार **प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा आलेखित 104वीं पुस्तक **श्री कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन** की तृतीय आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

पूज्य आचार्यप्रवरश्री ने श्री ज्ञानविमलसूरि कृत रास के आधार पर कड़ी मेहनत करके इन प्रवचनों को तैयार किया था, हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारे पूर्व प्रकाशनों की भाँति प्रस्तुत प्रकाशन भी हिन्दीभाषी प्रजा के लिए अत्यंत ही लाभदायी सिद्ध होगा।

प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. बहुमुखी-प्रतिभा के धनी हैं। दिनांक 16-9-1958, भादों सुदी 3 विक्रम संवत् 2014 के शुभ दिन माता चंपाबाई की कुक्षी से जन्मे पूज्यश्री की प्रतिभा बचपन से ही खिल उठी थी। बचपन में उनका नाम राजु था। 1st Year B.Com. तक के व्यावहारिक शिक्षण में उनका हमेशा प्रथम स्थान रहा था। प्राइमरी स्कूल हो, चाहे हाईस्कूल, निबंध एवं वक्तृत्व स्पर्धा में राजु का सदैव श्रेष्ठ स्थान रहता था। लावण्य धार्मिक पाठशाला-बाली में हमेशा धार्मिक शिक्षण में राजु का सर्व श्रेष्ठ स्थान रहता था।

राजु की भागवती दीक्षा अपनी जन्मभूमि बाली में माघ शुक्ला 13, वि.सं. 2033 दिनांक 2-2-1977 के शुभ दिन वर्धमान तपोनिधि **पू. पंन्यास प्रवर श्री हर्षविजयजी म.सा.** के वरद हस्तों से संपन्न हुई थी और वे अध्यात्मयोगी,

नमस्कार-महामंत्र के अजोड़ साधक **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के अंतिम शिष्य **मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** बने थे ।

दीक्षा के बाद पाटण की पुण्य भूमि पर निरंतर चार-चार चातुर्मास कर संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, न्याय, दर्शन, कर्मग्रंथ, कम्मपयडी एवं आगमशास्त्रों का गहन अध्यपन किया था ।

वि.सं. 2034 से उनकी प्रवचन-यात्रा का मंगल प्रस्थान हुआ था, जो आज भी निरंतर जारी है ।

भिन्न-भिन्न ग्रंथों पर, भिन्न-भिन्न विषयों पर उनके प्रेरणादायी सरल व सुबोध प्रवचन श्रोताओं के अन्तर्मन को छू लेते है ।

उनके अनेक प्रवचन, अनेक पुस्तकों के रूप में शब्दस्थ हो चुके हैं । रामायण और महाभारत जैसे महाकाय ग्रंथों पर दिये गये प्रवचन स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए हैं ।

इसी प्रकार उनके नवपद आराधना, नवपद-प्रवचन भी खूब प्रख्यात हुए हैं । श्रावकाचार प्रवचन, प्रेरक प्रवचन, भाग 1-2, श्रावक का गुण सौन्दर्य, सुखी जीवन की चाबियाँ, नींव के पत्थर, पांच प्रवचन जैनपर्व प्रवचन तथा मोक्षमार्ग के कदम में उनके प्रवचन संकलित हुए हैं ।

पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन के साथ उनके द्वारा कल्पसूत्र के ढालिए के आधार पर दिये गये **'कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन'** भी खूब प्रिय बने हैं । भारत के अनेक हिन्दीभाषी क्षेत्रों में उनके द्वारा आलेखित **'कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन'** के आधार पर प्रवचन हो रहे हैं, यह हमारे लिए खूब आनंद का विषय है । शासनदेव से हमारी यही प्रार्थना है कि पूज्यश्री दीर्घायु बनें और उनकी अमृतवाणी का अजस्र स्त्रोत निरंतर बहता रहे । उस अमृतवाणी के प्रवाह में स्नानकर हम सब अपनी आत्मा को पावन बनायें यही, मंगल कामना है । **निवेदक : दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट मंडल, मुंबई.**

लेखक-संपादक की कलम से

मोह से संत्रस्त जीवों के उद्धार के लिए तारक तीर्थंकर परमात्मा धर्मशासन की स्थापना करते हैं। ऐसे तारक तीर्थंकर परमात्मा भूतकाल में अनंत हुए हैं, भविष्य में भी अनंत होंगे और वर्तमान समय में महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी आदि 20 तीर्थंकर परमात्मा पृथ्वीतल को पावन कर रहे हैं।

तीर्थंकर परमात्मा द्वारा स्थापित धर्म-शासन की आराधना कर भूतकाल में अनंत आत्माओं ने शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया है।

इस भरतक्षेत्र में भी इस अवसर्पिणी काल में श्री ऋषभदेवस्वामी आदि 24 तीर्थंकर हुए हैं। अभी 24वें तीर्थंकर परमात्मा महावीर प्रभु का शासन चल रहा है। महावीर प्रभु ने धर्मशासन की स्थापना कर हम पर असीम उपकार किया है। ऐसे तारक परमात्मा महावीर प्रभु के शासन में, प्रभु महावीर की 7वीं पाट परंपरा में अंतिम चौदह पूर्वधर महर्षि श्री भद्रबाहुस्वामीजी महाराजा हुए हैं। जिन्होंने नौवें पूर्व में से उद्धरण करके श्री दशाश्रुत स्कंध के आठवें अध्याय के रूप में इस **कल्पसूत्र** की रचना की है।

भगवान महावीर प्रभु के 980 वर्ष (मतांतर से 993 वर्ष) व्यतीत होने पर आनंदपुर नगर में पुत्र-मरण से शोकातुर बने ध्रुवसेन राजा की समाधि के लिए सर्वप्रथम बार चतुर्विध संघ के सामने इस **कल्पसूत्र** ग्रंथ का वाचन प्रारंभ हुआ।

तब से पर्वाधिराज महापर्व के पाँच दिनों में योगोद्वहन किये हुए पू. साधु भगवंत इस कल्पसूत्र का सभा समक्ष वाचन करते हैं ।

परंतु हर क्षेत्र में सद्गुरु का योग सुगम नहीं होता है । **पूज्य आचार्य भगवंत श्री ज्ञानविमलसूरीश्वरजी महाराजा** ने श्री कल्पसूत्र के आधार पर गुजराती रास (ढालिया) की रचना की थी, उसी के आधार पर ये व्याख्यान तैयार किये गये हैं ।

'कल्पसूत्र' पढ़ने का अधिकार योगोद्वहन किये हुए साधु भगवंतों को ही है । दूसरों को कल्पसूत्र (मूल-टीका आदि) पढ़ने की अनधिकृत चेष्टा नहीं करनी चाहिए ।

जिन क्षेत्रों में सद्गुरु का योग सुलभ न हो वहाँ सामायिक के शुद्ध वस्त्रों में आचारवंत और धर्मश्रद्धालु सुश्रावक **पू. ज्ञानविमलसूरिजी म.** विरचित ढालियों के आधार पर आलेखित इन व्याख्यानों का स्वाध्याय कर सकते हैं ।

इन व्याख्यानों के आलेखन में कहीं जिनाज्ञाविरुद्ध कथन आया हो तो उसके लिए त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् (मिथ्या मे दुष्कृतम्) ।

आराधना भवन,
साहुकारपेट, चैन्नाई-01.
दि. 14-02-2020

अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
कृपाकांक्षी चरण सेवक
आचार्य रत्नसेनसूरि

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम : राजु (राजमल चोपड़ा) **माता का नाम** : चंपाबाई

पिता का नाम : छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा **जन्मभूमि** : बाली (राज.)

जन्मतिथि : भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-58

बचपन में धार्मिक अभ्यास : पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि **ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार** : 18 जून 1974

व्यावहारिक अभ्यास : 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)

दीक्षादाता : पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य

गुरुदेव : अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**

दीक्षादिवस : माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977

समुदाय : शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**

दीक्षादिवस विशेषता : भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ

108 मुमुक्षु वरघोड़ा : 9 जनवरी 1977, मुंबई **दीक्षा स्थल** : न्याति नोहरा-बाली राज.

दीक्षा समय उम्र : 18 वर्ष

बड़ी दीक्षा : फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033 **बड़ी दीक्षा स्थल** : घाणेराव (राज.)

प्रथम चातुर्मास : संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास** : प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषाबोध** : हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन** : फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ** : बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर (दो बार), पालीताणा (दो बार), नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बतूर ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि

◆ **पाद विहार :** आजतक लगभग 40,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : वात्सल्य के महासागर** संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** (212) लगभग

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी, मुनि केवलरत्नविजयजी, स्व.मुनि कीर्तिरत्नविजयजी, मुनि प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि शालिभद्रविजयजी, मुनि स्थूलभद्रविजयजी, स्व. मुनि यशोभद्रविजयजी ।**

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव) नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

अनुक्रमणिका

क्र.	क्या ?	कहाँ ?
1.	व्याख्यान - 1	2
2.	व्याख्यान - 2	44
3.	व्याख्यान - 3	81
4.	व्याख्यान - 4	93
5.	व्याख्यान - 5	109
6.	व्याख्यान - 6	132
7.	व्याख्यान - 7	223
8.	व्याख्यान - 8	261
9.	व्याख्यान - 9	285

कलासूत्र के हिंदी ग्रुप

व्याख्यान 1

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं,
एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया । नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।1।।

अर्थ : अज्ञानरूपी तिमिर (नेत्ररोग) से अंध जीवों के, ज्ञान रूपी अंजन की शलाका से अंजन कर जिनके आंतर चक्षुओं को खोला है, उन सद्गुरुओं को नमस्कार हो ।।1।।

वर्तमान शासन के नायक महावीर प्रभु को, प्रभु के पट्टधर सुधर्मास्वामी को, सभी सुविहित गीतार्थ गुरुवर्यों को तथा सर्वज्ञ की वाणी को नमस्कार हो ।।2।।

अंतिम सकल श्रुतज्ञानी (संपूर्ण चौदहपूर्वी), प्राचीन गोत्रवाले सूत्र-अर्थ के कारक श्री भद्रबाहुस्वामीजी को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने इस महामंगलकारी कल्पसूत्र को, नौवें पूर्व में से उद्धृतकर दशाश्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन के रूप में प्रगट किया है ।।3।।

पर्युषण महापर्व आने पर सद्गुरु के पास इस कल्पसूत्र का अवश्य श्रवण करना चाहिए । परंतु जिन्हें सद्गुरु का योग न हो उन भव्यजीवों के उपकार के लिए इस स्वाध्याय (रास) की रचना है । बहुमानपूर्वक इसको पढ़ने से, श्रवण करने से और अपनी शक्ति अनुसार आराधना करने से सकल संघ का अवश्य कल्याण होता है ।

श्री कल्पसूत्र की टीकाओं के आधार से **पू. आचार्यश्री ज्ञानविमलसूरिजी म.** ने रास की रचना की है ।

जहाँ योगोद्वाही सद्गुरु भगवंतों का योग न हो वहाँ व्रतधारी श्रद्धालु श्रावक भी पर्युषण के पाँच दिनों में इन ढालियों के आधार पर व्याख्यान कर सकते हैं ।

पुण्य का पोषण और पाप का शोषण करने की अपूर्व शक्ति पर्युषण पर्व में रही हुई है । शत्रुंजय आदि स्थावर तीर्थों की यात्रा के लिए हमें स्वयं घर छोड़कर जाना पड़ता है, जबकि ये पर्व तो कालक्रम से स्वतः अपने द्वार पर दस्तक देते हुए आते हैं ।

तीर्थों का राजा शत्रुंजय तीर्थ है । अन्य तीर्थों की यात्रा करने से जो लाभ प्राप्त होता है, उससे अनेक गुणा लाभ शत्रुंजय की यात्रा से प्राप्त होता है । इसी प्रकार अन्य पर्वों की आराधना करने से जो पुण्यबंध और कर्मनिर्जरा होती है, उससे अनेकगुणा पुण्य का बंध और कर्म-निर्जरा पर्वाधिराज की आराधना से होती है ।

पर्वाधिराज के इन दिनों में विशेषाधिक धर्म आराधना करनी चाहिए । शक्य हो तो पर्वाधिराज के दिनों में अट्ठाई करनी चाहिए । अट्ठाई शक्य न हो तो एक उपवास + पारणा, फिर दो उपवास + पारणा और फिर तीन उपवास करने चाहिए अर्थात् इन आठ दिनों में शक्य हो, उतने उपवास करने चाहिए ।

उपवास, यह आत्मा का घर है । आयंबिल, यह मित्र का घर है । विगई, यह दुश्मन का घर है ।

आत्मा की सम्पूर्ण सुरक्षा आत्मा के खुद के घर में है अर्थात् उपवास में है । उसके बाद मित्र के घर में है अर्थात् आयंबिल में है । विगई तो दुश्मन का घर है, उसके सेवन में एकांत भय है, अतः उससे शक्य हो उतना दूर रहने की कोशिश करनी चाहिए ।

कल्पसूत्र एक महान् आगम-ग्रंथ है, अतः इसका श्रवण खूब आदर और बहुमान पूर्वक करना चाहिए ।

कल्पसूत्र को खूब आदर-बहुमान पूर्वक अपने घर ले जाना चाहिए । घर पर रात्रि-जागरण करना

चाहिए...फिर प्रातःकाल में बहुमान-पूर्वक गाजे-बाजे के साथ कल्पसूत्र को गुरु के पास लाना चाहिए। उसके बाद गुरूपूजन-ज्ञानपूजन कर उस कल्पसूत्र का श्रवण करना चाहिए।

कल्प का अर्थ होता है-साधुओं का आचार। मुख्यतया साधुओं के आचारों का निर्देश होने से यह ग्रंथ **'कल्पसूत्र'** कहलाता है।

साधुओं के मुख्य 10 आचार हैं-

1. अचेलक कल्प 2. औद्देशिक कल्प 3. शय्यातर कल्प 4. राजपिंड कल्प

5. कृतिकर्म कल्प 6. व्रतकल्प 7. ज्येष्ठ कल्प 8. प्रतिक्रमण कल्प 9. मास कल्प. 10. पर्युषणा कल्प.

1) अचेलक कल्प : अचेलक अर्थात् वस्त्र-रहितपना। जो वस्त्र-रहित होते हैं, उन्हें अचेलक कहा जाता है तथा जो वस्त्रधारी होते हैं, उन्हें सचेलक कहा जाता है।

तीर्थंकरों की अपेक्षा से यह कल्प इस प्रकार है-जब कोई तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं, तब सौधर्म इन्द्र उनके बाएँ कंधे (स्कंध) पर मूल्यवान देवदूष्य रखते हैं। भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त उन तीर्थंकरों के कंधे पर वह देवदूष्य वैसा ही पड़ा रहता है।

परंतु ऋषभदेव और महावीर प्रभु के कंधे पर वह वस्त्र एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहा, उसके बाद वह वस्त्र नहीं रहा। जब तक वह वस्त्र रहा, तब तक वे सचेलक और जब वस्त्र चला गया उसके बाद वे अचेलक कहलाए।

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ भगवान के वह देवदूष्य जीवन पर्यंत रहा अतः वे 22 प्रभु सचेलक कहलाए।

अब साधुओं की अपेक्षा से यह आचार बतलाते हैं ।

बाईस (अजितनाथ से पार्श्वनाथ) तीर्थंकरों के साधुओं के लिए यह कल्प अनियत है अर्थात् वे ऋजु और प्राज्ञ अर्थात् प्रकृति से सरल और बुद्धिशाली होने से तथा आत्महित के लिए जागृत होने से रंगीन वस्त्र तथा मूल्यवान वस्त्र भी धारण कर सकते हैं, इस प्रकार के वस्त्र धारण करने पर वे सचेलक और जीर्णप्राय वस्त्र धारण करने पर अचेलक भी कहलाते हैं ।

ऋषभदेव प्रभु के शासन के साधु ऋजु और जड़ होने से तथा महावीर प्रभु के शासन के साधु वक्र और जड़ होने से उनके लिए यह कल्प नियत (निश्चित) है । अतः उन साधुओं को प्रमाणोपेत, जीर्णप्राय, श्वेत तथा अल्प मूल्यवाले ही वस्त्र धारण करने की आज्ञा है । जीर्णप्राय वस्त्रधारण करने के कारण वे अचेलक कहलाते हैं । उनके लिए यह नियत कल्प है ।

प्रश्न : प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के साधु वस्त्र धारण करने पर भी अचेलक कैसे कहलाते हैं ?

उत्तर : जीर्णप्राय व अल्प मूल्यवाले वस्त्र होने से ही वे अचेलक कहलाते हैं । ऐसा लोक व्यवहार भी है 1) जैसे कोई व्यक्ति मात्र लंगोटी पहिनकर नदी पार करता है तो वह कहता है कि मैंने नग्न होकर नदी पार की ।

2) वस्त्र होने पर भी लोग दर्जी व धोबी को कहते हैं-भाई ! तू हमें जल्दी वस्त्र दे, हम नंगे घूमते हैं ।

3) जिस व्यक्ति के पास खूब धन होता है, लोक में उस व्यक्ति को धनवान कहा जाता है, परंतु जिसके पास थोड़ा सा धन हो तो उसे निर्धन अर्थात् धनरहित ही कहा जाता है । बस, इसी प्रकार जीर्ण व अल्प वस्त्र होने पर भी साधुओं को अचेलक कहा जाता है ।

2. औद्देशिक कल्प : औद्देशिक अर्थात् आधाकर्मी दोषयुक्त ।

किसी साधु या साधु समुदाय को उद्देशित कर जो आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि तैयार किया हो तो वह आहार पानी प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के शासन में किसी भी साधु को लेना नहीं कल्पता है, जबकि बाईस तीर्थंकरों के शासन में जिस साधु या साधु समुदाय को उद्देशित कर किया हो, उन्हें नहीं कल्पता है, परंतु अन्य साधु या समुदाय को कल्पता है ।

3. शय्यातर पिंड : जिस मकान में साधु-साध्वी उतरे हों, उस मकान के मालिक को शय्यातर कहा जाता है । अल्पकाल के लिए अपना मकान त्यागी साधु-साध्वीजी भगवंतों को प्रदान कर जो संसार सागर से तरता है, उस पुण्यशाली को शय्यातर कहा जाता है । शय्या अर्थात् रहने के लिए आवास, उसके दान से भी बहुत बड़ा पुण्य होता है ।

आहार, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, सुई, अस्तरा, नाखून काटने का साधन (Nail Cutter) तथा कान साफ करने का साधन (कर्णशोधन) यह 12 प्रकार का पिंड शय्यातर के घर से लेना, सभी तीर्थंकरों के तीर्थ के साधुओं को लेना नहीं कल्पता है, क्योंकि शय्यातर पिंड लेने से बस्ती दुर्लभ और अनेषणीय दोष का प्रसंग आ सकता है ।

मकानमालिक यदि भक्त होगा तो वह साधु की भक्ति के लिए विशेष आहार-पानी की व्यवस्था करेगा, जिससे भिक्षा में आधाकर्मी दोष लगेगा ।

मकानमालिक को यदि साधु के प्रति भक्ति-भाव नहीं होगा तो वह सोचेगा, `इन साधुओं को रहने के लिए जगह दी और अब इनके आहार-पानी की व्यवस्था भी मुझे ही करनी पड़ेगी ? अतः भविष्य में इन्हें बस्ती

न देने में ही लाभ है ।' इस प्रकार बस्तीमालिक को द्वेष न जगे, इसलिए ज्ञानियों ने शय्यातर-पिंड लेने का ही सर्वथा निषेध किया है ।

शय्यातर कौन ? : ◆जिस मकान में साधु, रात्रि के चारों प्रहर जागते रहे हों और सुबह का प्रतिक्रमण अन्य स्थान में जाकर करें तो पहले मकान का मालिक शय्यातर नहीं कहलाएगा, बल्कि प्रतिक्रमण के स्थान का मालिक शय्यातर होगा ।

◆ एक मकान में साधु निद्रा ले और दूसरे मकान में जाकर प्रतिक्रमण करे तो दोनों मकानों के मालिक शय्यातर कहलाते हैं ।

शय्यातर के घर से तृण (घास), मिट्टी के ढेले, राख, कुंडी, प्याला, संथारा और लेप आदि ले सकते हैं और चारित्र का इच्छुक हो तो उपधि सहित शिष्य भी ले सकते हैं ।

4. राज पिंड : सेनापति, पुरोहित, नगरसेठ, मंत्री और सार्थवाह-इन पाँचों के साथ राज्य का पालन करने वाला और जिसका राज्याभिषेक हुआ है, वह राजा कहलाता है । ऐसे राजा का अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण ये आठ वस्तुएँ प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को नहीं कल्पती हैं ।

1) क्योंकि राजमहल में जाने-आने में देरी होती है, अतः स्वाध्याय की हानि होती है ।

2) मस्तक का लोच किया हो तो किसी सामंत आदि को अपशकुन की बुद्धि हो जाय तो वह अपमान आदि भी कर सकता है ।

3) राजा की रूपवती स्त्रियों को अथवा राजा के ठाटबाट आदि समृद्धि को देख, किसी साधु का मन संयम से विचलित भी हो सकता है ।

4) 'साधु भिक्षा के लिए राजमहल में जाते हैं, क्योंकि वहाँ उन्हें खाने के लिए बढ़िया भोजन मिलता है ।' इस प्रकार अज्ञानी लोग निंदा भी कर सकते हैं ।

इन सब अनर्थों की संभावना होने से राजपिंड का निषेध किया है, परंतु बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होने के कारण वे लाभ-अलाभ को अच्छी तरह से तत्क्षण समझ सकते हैं, अतः उनके लिए राज-पिंड का निषेध नहीं किया है ।

[◆ अपने गुरुदेव कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी के कालधर्म के बाद कुमारपाल को सबसे बड़ा आघात इस बात का था कि `अहो ! मैं कितना बड़ा दुर्भागी ! अपने प्राणप्यारे गुरुदेव के पात्र में मैं कुछ भी आहार-पानी का दान नहीं कर सका ।'

कुमारपाल राजा थे अतः उनका पिंड आचार्य भगवंत ने ग्रहण नहीं किया था ।

◆ भरत महाराजा 500 गाड़ों में खाद्य सामग्री लेकर अष्टापद पर्वत पर ऋषभदेव प्रभु के पास गए । उन्होंने प्रभु के साधुओं को गोचरी के लिए विनंति की, परंतु उन साधुओं ने **राजपिंड** होने से गोचरी बहोरने से इन्कार कर दिया । **'मेरा आहार इन मुनियों को नहीं कल्पता है'** यह जानकर भरत को अत्यंत ही दुःख हुआ ।]

22 तीर्थंकरों के साधुओं को **राज-पिंड** कल्पता है ।

5. कृतिकर्म (वंदन-विधि) : वंदन के दो प्रकार हैं : (1) अभ्युत्थान और (2) द्वादशावर्त !

सभी तीर्थंकरों के साधु दीक्षापर्याय के अनुसार परस्पर वंदन करते हैं । एक चक्रवर्ती भी दीक्षा लेता हो तो वह अपने से ज्येष्ठ पर्यायवाले को वंदन करता है ।

दीर्घकाल से दीक्षित पर्यायवाली साध्वी, आज के दीक्षित साधु को भी वंदन करती है, क्योंकि वीतराग-परमात्मा के शासन में पुरुष-प्रधानता है ।

6. व्रतकल्प : व्रत अर्थात् महाव्रत ! पहले और अंतिम तीर्थंकर के शासन में पाँच महाव्रत और बाईस तीर्थंकरों के शासन में चार ही महाव्रत होते हैं ।

बाईस तीर्थंकरों के शासन के जीव प्राज्ञ होने से समझ सकते हैं कि **'स्त्री भी परिग्रह है अर्थात् परिग्रह का त्याग होने से स्त्री का भी स्वतः त्याग हो जाता है'**, इस कारण उन्हें चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत अलग न बतलाकर पाँचवें महाव्रत में ही उसका समावेश कर दिया, जब कि पहले व अंतिम तीर्थंकर के शासन के जीवों को यह बात जल्दी ख्याल में नहीं आती, अतः उनके लिए चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का स्वतंत्र कथन किया गया ।

[कई लोग कुतर्क करते हैं कि पाँच महाव्रत बतलाकर भगवान महावीर ने नई क्रांति की । वास्तव में 22 तीर्थंकरों के साधुओं के चार महाव्रत और भगवान महावीर प्रभु के 5 महाव्रतों के पालन में कोई फर्क नहीं है ।]

7. ज्येष्ठकल्प : ज्येष्ठकल्प अर्थात् छोटे-बड़े का व्यवहार ।

पहले व अंतिम तीर्थंकर के शासन में बड़ी दीक्षा (पाँच महाव्रतों की प्रतिज्ञा) के पर्याय से दीक्षा पर्याय गिनकर छोटे-बड़े का व्यवहार होता है, जबकि 22 तीर्थंकरों के शासन में निरतिचार चारित्र होने से दीक्षा के पहले दिन से ही दीक्षा-पर्याय गिना जाता है ।

वर्तमान काल में दीक्षा लेते समय सिर्फ जीवन पर्यंत सामायिक की प्रतिज्ञा दी जाती है, फिर दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों के योगोद्वहन होने के बाद पाँच महाव्रतों के स्वीकार रूप बड़ी दीक्षा-उपस्थापना की जाती है ।

पिता-पुत्र, राजा-मंत्री, सेठ-नौकर तथा माता-पुत्री ने एक साथ दीक्षा ली हो और बड़ी दीक्षा के योग्य योगोद्वहन एक साथ करें तो पिता आदि को ही बड़ा और पुत्र आदि को छोटा माना जाता है ।

पिता आदि के योगोद्वहन में थोड़ा ही विलंब होता हो तो थोड़ा विलंब करके भी पिता आदि को बड़ा करना चाहिए । परंतु पुत्र आदि बुद्धिमान् हों और पिता आदि स्थूल बुद्धिवाले होने से उन्हें तैयार होने में काफी देर होती हो तो पिता आदि को इस प्रकार समझाना चाहिए, **'हे महानुभाव ! आपका पुत्र बुद्धिमान् होते हुए भी बड़ी दीक्षा में देरी करेगा तो वह दूसरों से छोटा हो जाएगा, आपका पुत्र बड़ा बनता हो तो इसमें आपका ही गौरव है ।'** इस प्रकार समझाने पर पिता आदि मान जाय तो पुत्र आदि की भी बड़ी दीक्षा पहले की जा सकती है और यदि वे इन्कार ही करें तो पुत्र की बड़ी दीक्षा बाद में की जाती है ।

8. प्रतिक्रमणकल्प : व्रत में दोष लगें या न लगें तो भी पहले व अंतिम तीर्थंकर के शासन में सुबह-शाम प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है, जबकि 22 तीर्थंकरों के शासन में अतिचार लगे तभी प्रतिक्रमण करने का विधान है, अतिचार न लगे तो नहीं । उसमें भी देवसी तथा राई दो प्रतिक्रमण का ही विधान है, जबकि प्रथम-अंतिम तीर्थंकर के शासन में राई-देवसी-पक्खी-चोमासी और संवत्सरी ये पाँच प्रतिक्रमण अनिवार्य हैं ।

9. मासकल्प : पहले और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को चातुर्मास सिवाय एक ही गाँव या नगर में अधिकतम एक मास रहना कल्पता है, इससे अधिक नहीं । दुष्काल, अशक्ति, वृद्धावस्था या रोग आदि के कारण एक ही नगर में ठहरना पड़े तो भी मोहल्ला बदल दें, उपाश्रय बदल दें अथवा उपाश्रय का कोना भी बदलकर प्रभु की इस आज्ञा का पालन अवश्य करें । ऐसा न करने पर ममत्व, द्वेष आदि दोषों की संभावना रहती है ।

अनुकूल बस्ती में ज्यादा समय रहने से राग की और प्रतिकूल बस्ती में ज्यादा समय रहने से द्वेष की संभावना रहती है ।

22 जिनों के साधुओं के लिए मास-कल्प नियत नहीं है । वे प्राज्ञ होने के कारण लाभ-हानि को समझ सकते हैं । अतः उन्हें उचित लगे तो आठ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व वर्ष तक भी एक ही नगर में रह सकते हैं और ठीक न लगे तो एक मास के भीतर भी विहार कर सकते हैं ।

10. पर्युषण कल्प : पर्युषण शब्द के दो अर्थ होते हैं -

(1) परि अर्थात् एक साथ, उषणं अर्थात् रहना ! अर्थात् साधुओं को चार मास एक जगह रहना ।

(2) वार्षिक पर्व । पहले यह वार्षिक (संवत्सरी) पर्व भादों सुद पंचमी के दिन था, परंतु कालिकाचार्य के बाद भादों सुद पंचमी के बजाय भादों सुद चतुर्थी के दिन मनाया जाता है । पर्युषण के पहले सात दिन पूर्व तैयारी के लिए हैं । वास्तविक पर्युषण पर्व संवत्सरी के दिन होता है ।

एक जगह स्थिरता रूप पर्युषण दो प्रकार की है : (1) जघन्य और (2) उत्कृष्ट ।

(1) जघन्य अर्थात् संवत्सरी प्रतिक्रमण से लेकर कार्तिक चौमासी तक 70 दिन तक रहना ।

(2) उत्कृष्ट पर्युषण कल्प अर्थात् आषाढ़ सुदी चतुर्दशी से कार्तिक सुदी चतुर्दशी तक रहना ।

ये दोनों कल्प स्थविरकल्पी को निरालंबन स्थिति में अर्थात् विशेष कारण उपस्थित न हुआ हो तो होते हैं । कारण उपस्थित होने पर तो (अर्थात् सालंबन स्थिति में) चातुर्मास के पहले एक मास और चातुर्मास के बाद एक मास जोड़कर छह मास भी हो सकता है और अशिव, राजभय, रोग का उपद्रव, आहार की दुर्लभता आदि प्रबल कारण उपस्थित होने पर 70 दिन के पहले भी विहार कर सकते हैं ।

जिनकल्पी को तो उत्कष्ट निरालंबन पर्युषण कल्प ही होता है ।

यह पर्युषण कल्प प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में नियत है, परंतु 22 तीर्थंकरों के शासन में अनियत है, क्योंकि प्राज्ञ होने के कारण वे, उचित लगे तो कुछ न्यून एक करोड़ पूर्व वर्ष काल तक भी एक ही नगर में रह सकते हैं और ठीक न लगे तो महीने के भीतर भी विहार कर सकते हैं ।

महाविदेह क्षेत्र में भी 22 तीर्थंकरों के शासन तुल्य आचार-व्यवस्था समझ लेनी चाहिए ।

ये 10 कल्प (आचार) ऋषभदेव और महावीर स्वामी के शासन में नियत हैं, जबकि 22 तीर्थंकरों के शासन में शय्यातर, कृतिकर्म, व्रत और ज्येष्ठ कल्प ये चार नियत हैं और शेष छह अचेलक, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिंड, मासकल्प और पर्युषण कल्प अनियत हैं ।

आचारभेद का कारण

प्रश्न : **साध्य मोक्ष एक ही होने पर भी पहले व अंतिम तीर्थंकर तथा बाईस तीर्थंकरों के शासन में यह आचारभेद क्यों ?**

उत्तर : सभी का लक्ष्य एक होने पर भी यहाँ जो आचार-भेद बतलाया गया है, उसका मुख्य कारण उन-उन तीर्थंकरों के शासन में पैदा हुए जीवों की योग्यता का भेद है ।

ऋषभदेव के शासन में पैदा हुए जीव ऋजु और जड़ थे । जड़ता के कारण उन्हें धर्म का ज्ञान दुर्लभ था, परंतु वे हृदय से सरल थे ।

महावीर स्वामी के शासन के जीव वक्र और जड़ । इन जीवों के लिए जड़ता के कारण धर्म का समझना भी कठिन है और वक्रता के कारण धर्म का पालन करना भी दुष्कर है ।

बाईस तीर्थंकरों के शासन के जीव ऋजु और प्राज्ञ थे । प्राज्ञता के कारण उन्हें धर्म को समझना भी सरल था और ऋजुता के कारण उनके लिए धर्म का पालन करना भी सरल था ।

वक्रता-जड़ता और ऋजुता-प्राज्ञता के दृष्टांत

1) ऋषभदेव प्रभु के शासन के कुछ साधु स्थंडिल भूमि के लिए बाहर गए । उन्हें आने में देरी हुई । गुरु ने पूछा, ``रोज तो जल्दी आ जाते हो, आज इतना समय कैसे लगा ?'' प्रकृति से सरल होने के कारण उन साधुओं ने कहा, **``हे भगवंत ! आज नट का नाच चल रहा था, उसे देखने के लिए हम खड़े रह गए, अतः यहाँ आने में देरी हो गई ।''**

गुरुदेव ने कहा, `नट का नाच देखना, यह साधुओं का आचार नहीं है !' तत्काल ही शिष्यों ने गुरु की आज्ञा **'तहत्ति'** कहकर शिरोधार्य की । कुछ समय व्यतीत होने के बाद एक बार वे साधु पुनः स्थंडिल भूमि से देरी से आए । कारण पूछने पर उन्होंने कहा, `आज नटी का नाच चल रहा था, अतः उसे देखने के लिए हम खड़े रह गए ।'

गुरुदेव ने कहा, **'महानुभावो ! उस दिन नट का नाच देखने का निषेध किया था तो फिर नटी का नाच कैसे देखा जाय ?'**

शिष्यों ने कहा, 'हे गुरुदेव ! हमारी भूल हो गई, हम उस बात को समझ नहीं पाए । अब भविष्य में यह भूल कभी नहीं करेंगे ।'

◆ कोंकण देश के एक किसान ने वैराग्य से पुत्र-परिवार आदि का त्यागकर वृद्धावस्था में दीक्षा अंगीकार की । एक बार वे वयोवृद्ध मुनि **'इरियावहिय'** का कायोत्सर्ग कर रहे थे । ज्यादा देर लगने पर गुरुदेव ने पूछा, ``इतने लंबे समय तक कायोत्सर्ग में क्या विचार किया ?''

वृद्ध मुनि ने कहा, ``हे गुरुदेव ! मैंने जीवदया का चिंतन किया ।''

गुरुदेव ने पूछा, ``कैसे ?''

उन्होंने कहा, ``जब मैं गृहस्थजीवन में था, तब खेत में से अनावश्यक पौधे-झाड़ी आदि उखाड़ कर खेत में अनाज बोता था, जिससे खूब अनाज पैदा होता था, परंतु मेरे बेटे प्रमादी होने से उन निरर्थक पौधों को नहीं उखाड़ेंगे तो अधिक प्रमाण में अनाज पैदा नहीं हो सकेगा, अतः उनका क्या हाल होगा ?' इस प्रकार मैंने जीवदया का विचार किया ।

वे मुनि सरल होने से, **'जो मन में चिंतन किया था'**- उसे गुरु को स्पष्ट कह दिया ।

गुरुदेव ने कहा, 'महानुभाव ! तुमने दुर्ध्यान किया है । मुनियों को इस प्रकार का चिंतन नहीं करना चाहिए ।'

उसी समय उन वृद्ध मुनि ने गुरु की बात को **'तहत्ति'** कहकर स्वीकार किया और अपनी भूल के बदले **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** दे दिया ।

`जड़' होने से वे मुनि इस मानसिक जीव-हिंसा (दुर्ध्यान) को समझ न सके और सरल होने से उन्होंने अपनी भूल को तुरंत स्वीकार कर लिया ।

वक्र-जड़ का दृष्टांत

अब महावीर प्रभु के शासन के साधुओं की वक्रता व जड़ता समझाते हैं-

(1) एक बार महावीर प्रभु के साधु स्थंडिल भूमि से देरी से आए । कारण पूछने पर उन्होंने कहा, **'नट का नाच देखने के कारण देरी हो गई ।'**

गुरुदेव ने उन्हें नट का नाच देखने का निषेध किया । कुछ दिनों के बाद एक बार पुनः वे नटी का नाच देखने के कारण उपाश्रय में देरी से आए । गुरुदेव ने देरी से आने का कारण पूछा, तो वे सही जवाब टालने की कोशिश करने लगे ।

गुरुदेव के दबाव करने पर आखिर बोले, **''आज नटी का नाच देखने के लिए रुक गए थे ।''**

गुरुदेव ने कहा, ''मैंने उस दिन नट का नाच देखने का निषेध किया था, तो फिर नटी का नाच तो विशेष राग का कारण होने से कैसे देख सकते हैं ?''

गुरुदेव की यह बात सुनकर गुरु को ही उलाहना देते हुए उन शिष्यों ने कहा, **''जब आपने उस दिन नट का नाच देखने का निषेध किया था तो फिर उसी दिन नटी का नाच देखने का निषेध क्यों नहीं किया ? अतः इसमें दोष हमारा नहीं, बल्कि आपका ही है ।''**

इस दृष्टांत में जड़ होने से, नट के निषेध में नटी के निषेध की बात समझ नहीं पाए और वक्र होने के कारण अपनी भूल को स्वीकार करने के बजाय गुरु की ही भूल बताने लगे ।

[◆ एक व्यापारी का पुत्र अत्यंत ही वक्र और जड़ था । वह बार-बार बड़ों के सामने बोल देता था, एक बार पिता ने उसे समझाते हुए कहा, **'बड़ों के सामने नहीं बोलना चाहिए ।'**

एक बार परिवार के सभी लोग बाहर गाँव गये हुए थे, तब उस बेटे ने अपने पिता आदि को शिक्षा देने का विचार किया । घर के दरवाजे अंदर से बंद कर वह घर के अंदर ही बैठा रहा । जब बाहर गाँव से आकर उसके पिता ने द्वार खटखटाया, तो उसने अंदर से दरवाजा नहीं खोला । पिता ने खूब आवाज दी, परंतु उसने सुनी-अनसुनी कर दी । आखिर पड़ोस के मकान में से दीवार लाँघकर उसके पिता ने अपने घर में प्रवेश किया, तब वह पुत्र हँस रहा था । पिता ने उसे ठपका दिया तो वह हँसते हुए बोला, **'आपने ही तो मुझे बड़ों के सामने बोलने का निषेध किया था ।'**

◆ एक सेठ ने अपने घर पर एक नौकर रखा । वह नौकर थोड़ी जड़ प्रकृति का था । वह घर में रसोई आदि का काम करता था । एक बार सेठ ने नौकर को सब्जी मार्केट से साग लाने को कहा । वह नौकर बाजार में गया और बाजार से भिंडी लेकर आ गया ।

सेठ ने कहा, ``मूर्ख ! जब तुझे साग लेने के लिए भेजा था तो हरीमिर्च, नींबू, धनिये के पत्ते आदि सब चीजें साथ में लानी चाहिए थीं न ! क्या एक-एक वस्तु के लिए तुझे बार-बार बाजार में भेजा जाय ? कहीं भी जाओ तब एक साथ दूसरे काम भी अवश्य करने चाहिए न !'

नौकर ने सेठ की वह बात गाँठ बाँध ली । दूसरे दिन सेठ बीमार हो गए । सेठ ने उस नौकर को कहा,

``जाओ ! बाजार में से दवाई की दुकान पर से ये दवाई लेकर आ जाओ ।''

नौकर दवाई लेने के लिए बाजार में गया । बाजार में दवाई खरीदने के बाद उस नौकर ने सोचा ``सेठ ने एक साथ दूसरे काम भी साथ में कर लेने को कहा है, अतः शायद सेठ मर जाय तो मृतक की सामग्री (श्मशान यात्रा संबंधी चीजें) भी मुझे साथ में खरीद लेनी चाहिए । इस प्रकार विचार पर श्मशान- यात्रा संबंधी चीजें (कफन, सूत, हांडी आदि) भी खरीद कर सेठ के घर की ओर बढ़ा ।

सेठ के नौकर के हाथों में इस सामग्री को देखकर सेठ के रिश्तेदारों ने सोचा, ``सेठ का अवसान हो गया लगता है ।'' वे सारे रिश्तेदार सेठ की श्मशान-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए सेठ के घर की ओर जाने लगे । कुछ लोग करुण रुदन व विलाप करते हुए आ रहे थे । सेठ के परिवारवालों ने रोते हुए संबंधियों को आते हुए देखा । उन्हें खूब आश्चर्य हुआ ।

परिवारवालों ने उनको कहा, `सेठ तो जीवित हैं । तुम लोग रोना-पीटना क्यों कर रहे हो ? तुम्हें किसने कहा कि सेठ मर गए हैं ?'

आगंतुक लोगों ने कहा, ``आपके नौकर के हाथ में रही सामग्री को देखकर हमने अनुमान लगाया कि सेठ मर गए होंगे !''

इसी बीच वह नौकर भी घर पर आ गया । परिवारवालों ने नौकर के पास रही अंतिम-यात्रा की सामग्री देखकर पूछा, ``यह सामान तू क्यों लाया है ?''

नौकर ने जवाब दिया, ``सेठ ने ही तो कहा था कि जब एक काम करने जाय तब दूसरे काम भी साथ में कर लेना । सेठ बीमार थे, अतः मैंने अनुमान किया, **`कदाचित् सेठ मर जाय तो उस सामान के**

लिए दूसरा धक्का खाने की जरूरत नहीं रहेगी, अतः मैं यह सामान लेकर आया हूँ।' अब परिवारवाले क्या बोलते ?

◆ पर्वतिथि के दिन हरी वनस्पति खाने का निषेध करते हैं तो कई लोग कुतर्क करते हैं कि– **''पके हुए फल तो खा सकते हैं न !''**

राग का कारण होने से हरे साग खाने का निषेध किया गया तो फिर पके हुए फल कैसे खा सकेंगे ?]

ऋजुता और प्राज्ञता

◆ बाईस तीर्थंकरों के शासन के साधु ऋजु और प्राज्ञ कहलाते हैं।

एक बार कुछ साधु नट का नृत्य देखकर देरी से आए। गुरुदेव ने उसका कारण पूछा। उन्होंने सत्य बात कह दी। गुरुदेव ने नट का नाच देखने का निषेध किया।

कुछ दिनों बाद जब वे स्थंडिल के लिए गए तो वहाँ बीच मार्ग में नटी का नाच चल रहा था। परंतु वे उस नाच को देखने के लिए रुके नहीं। प्राज्ञ होने के कारण वे तुरंत समझ गए कि **जब गुरुदेव ने नट का नाच भी देखने का निषेध किया है तो फिर नटी का नाच तो कैसे देखा जाय, क्योंकि नट के नाच से भी नटी का नाच तो राग का विशेष कारण है।**

धर्म कैसे ?

*प्रश्न : **बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होने से उन्हें धर्म हो सकता है, परंतु ऋषभदेव के साधु ऋजु व जड़ होने से उन्हें धर्म कैसे हो सकता है, क्योंकि जड़ होने के कारण उन्हें धर्म का***

बोध नहीं होता है तथा महावीर प्रभु के साधु वक्र और जड़ होने से उन्हें भी धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर : प्रथम तीर्थंकर के मुनि जड़ होने के कारण, उनके मार्गभ्रष्ट होने की संभावना रहती है, परंतु उनका भाव शुद्ध होने के कारण उनमें धर्म-भाव जागृत रह सकता है ।

महावीर प्रभु के साधु वक्र और जड़ होने के कारण यद्यपि ऋजु और प्राज्ञ की अपेक्षा उनमें शुद्धि नहीं होती है, फिर भी उनमें धर्म का सर्वथा अभाव नहीं कह सकते हैं । ऐसा कहने में बड़ा दोष लगता है ।

कहा भी है- **'यदि कोई कहे कि आज धर्म नहीं है, सामायिक नहीं है, व्रत नहीं हैं तो उसे संघ बाहर करना चाहिए ।'**

पर्युषण कल्प जघन्य से 70 दिन का कहा गया है, जो कारण के अभाव में जानना चाहिए । कोई कारण उपस्थित हो जाय तो बीच में भी विहार कर सकते हैं । जैसे-कोई आपत्ति आ जाय, आहार मिलना मुश्किल हो जाय, राजा साधु का द्वेषी हो जाय, रोग का उपद्रव हो जाय, स्थंडिल हेतु जगह नहीं मिले, उपाश्रय में अत्यधिक प्रमाण में जीव-जंतु पैदा हुए हों, कुंथुवे आदि का उपद्रव हो, अग्नि तथा साँप आदि का उपद्रव हो तो चातुर्मास दरम्यान भी विहार कर सकते हैं । कोई कारण आ जाय तो चातुर्मास के बाद भी साधु रह सकते हैं, जैसे-बरसात चालू हो...रास्ते में कीचड़ आदि के कारण विहार कठिन हो तो चातुर्मास के बाद भी रह सकते हैं ।

क्षेत्र के गुण-दोष

संयमपालन के लिए क्षेत्र के गुण देखने चाहिए । क्षेत्र के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद कर सकते हैं । चार गुणों से युक्त क्षेत्र जघन्य क्षेत्र कहलाता है-जैसे (1) जिनमंदिर पास में हो,

(2) स्थंडिल भूमि (जीव-रहित भूमि) शुद्ध व एकांत में हो । (3) स्वाध्याय के लिए अनुकूल भूमि हो । (4) भिक्षा सुलभ हो ।

निम्नलिखित 13 गुणों से युक्त क्षेत्र उत्कृष्ट क्षेत्र कहलाता है- (1) जहाँ ज्यादा कीचड़ न हो । (2) अत्यधिक प्रमाण में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न न होते हों । (3) स्थंडिल भूमि निर्दोष हो । (4) उपाश्रय, स्त्री आदि के संसर्ग से रहित हो । (5) दूध-दही आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों । (6) लोक-समुदाय भद्रिक हो । (7) वैद्य भद्रिक हो । (8) औषधि सुलभ हो । (9) गृहस्थों के घर समृद्ध हों । (10) राजा भद्रिक हो । (11) ब्राह्मण आदि द्वारा साधुओं का अपमान नहीं होता हो । (12) भिक्षा सुलभ हो और (13) स्वाध्याय अच्छी तरह से हो सकता हो ।

पाँच से बारह गुणों वाला क्षेत्र, **मध्यम क्षेत्र** कहलाता है । साधुओं को उत्कृष्ट क्षेत्र मिलता हो तो उत्कृष्ट गुणयुक्त क्षेत्र में रहना चाहिए । उत्कृष्ट न मिले तो मध्यम में और मध्यम भी न मिले तो जघन्य गुणवाले क्षेत्र में रहना चाहिए ।

वर्तमान काल में तो गुरु जिस क्षेत्र में चातुर्मास करने की आज्ञा करें, उस क्षेत्र में ही मुनियों को चातुर्मास करना चाहिए ।

एकान्त हितकर-आचार मार्ग

उपर्युक्त दस प्रकार के आचारों का पालन तीसरे वैद्य की तरह एकांत हितकर है ।

◆ **'पुत्र को भविष्य में रोग पैदा न हो'** इस भावना से एक राजा ने एक बार तीन वैद्यों को अपने पास बुलाया और चिकित्सा के बारे में उनसे जानकारी पूछी ।

पहले वैद्य ने कहा, ``मेरी औषधि रोग हो तो रोग का नाश करती है और रोग न हो तो नया रोग पैदा कर देती है ।''

राजा ने कहा, **``तेरी औषधि तो सोये हुए साँप को जगाने वाली है, अतः मुझे नहीं चाहिए ।''**

दूसरे वैद्य ने कहा, ``मेरी औषधि रोग हो तो रोग का नाश करती है और रोग न हो तो कुछ भी गुण-दोष नहीं करती है ।''

राजा ने कहा, **``तुम्हारी औषधि तो राख में घी डालने जैसी होने से मुझे उसकी जरूरत नहीं है ।''**

तीसरे वैद्य ने कहा, ``मेरी औषधि रोग हो तो रोग का नाश करती है और रोग न हो तो शरीर में बल, वीर्य और सौंदर्य को पुष्ट करती है ।''

राजा ने कहा, **``तेरी औषधि सर्वश्रेष्ठ है और मैं उसे पसंद करता हूँ ।''** बस, इसी प्रकार यह आचार-पालन भी तीसरे वैद्य की औषधि की तरह आत्मा में रहे दोषों का नाश करता है और दोष न हों तो आत्मा में सद्गुणों को पुष्ट करता है ।

कल्पसूत्र की महिमा

चातुर्मास में रहे हुए साधु भगवंत वार्षिक पर्वरूप पर्युषण पर्व आने पर मंगल के लिए इस कल्पसूत्र का पाँच दिनों में नौ वाचनाओं के द्वारा पठन करते हैं ।

जिस प्रकार देवों में इन्द्र, तारों में चंद्र, न्याय-प्रवीण में राम, रूपवान में काम, रूपवती स्त्रियों में रंभा, वाद्य यंत्रों में भंभा, हाथियों में ऐरावण, साहसिकों में रावण, बुद्धिमानों में अभयकुमार, तीर्थों में शत्रुंजय, गुणों

में विनय, धनुर्धर में अर्जुन, मंत्रों में नवकार, वृक्षों में आम्रवृक्ष उत्तम है, उसी प्रकार सर्व शास्त्रों में यह कल्पसूत्र सर्वश्रेष्ठ है ।

कहा भी है-

'मंत्रों में नवकार मंत्र, तीर्थों में शत्रुंजय, दानों में अभयदान, गुणों में विनय, व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत, नियमों में संतोष, तपों में समता, तत्त्वों में सम्यग्दर्शन की महिमा है, उसी प्रकार जिनेश्वर-कथित सभी पर्वों में पर्युषण पर्व की महिमा है ।'

और भी कहा है- **नार्हतः परमो देवः, न मुक्तेः परमं पदं ।**
न श्रीशत्रुंजयात् तीर्थं, श्रीकल्पान्न परं श्रुतम् ।।1।।

श्री अरिहंत परमात्मा से बढ़कर कोई देव नहीं है, मुक्ति से श्रेष्ठ कोई परमपद नहीं है, शत्रुंजय से श्रेष्ठ कोई तीर्थ नहीं है, उसी प्रकार कल्पसूत्र से उत्तम कोई शास्त्र नहीं है ।

यह कल्पसूत्र साक्षात् कल्पवृक्ष तुल्य है । इसमें वीरप्रभु का चरित्र बीजरूप है, पार्श्वनाथ प्रभु का चरित्र अंकुर रूप है, नेमिनाथ प्रभु का चरित्र स्कंध रूप है, ऋषभदेव प्रभु का चरित्र डाली रूप है, स्थविरावली पुष्प रूप है, सामाचारी का ज्ञान सुगंध रूप है तथा मोक्ष की प्राप्ति फल रूप है ।

'इस कल्पसूत्र को पढ़ने से, पढ़नेवाले को सहायता करने से, इसके सभी अक्षरों का श्रवण करने से तथा विधिपूर्वक इसकी आराधना करने से आत्मा आठ भवों में मोक्ष प्राप्त करती है ।'

श्री महावीर प्रभु ने भी कहा है, ``हे गौतम ! जो मनुष्य जिनशासन में एकाग्र चित्तवाला होकर, पूजा-प्रभावना में तत्पर होकर इक्कीस बार कल्पसूत्र का श्रवण करता है, वह इस भवसागर से पार हो जाता है ।''

श्री कल्पसूत्र की इस महिमा को सुनकर कष्ट व धनव्यय से साध्य तप, पूजा-प्रभावना आदि धर्म कार्यों में आलस्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि उपर्युक्त तप आदि सर्व सामग्री के साथ ही कल्पसूत्र का श्रवण वांछित फलदायी होता है।

वर्षा, वायु व धूप आदि सामग्री मिलने पर ही बोया हुआ बीज फलदायी बनता है।

अन्यथा **'सिद्धाणं बुद्धाणं'** की एक ही गाथा- **'इक्को वि नमुक्कारो...।'** जिनेश्वरों में श्रेष्ठ श्री वर्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार स्त्री या पुरुष को संसार सागर से पार उतार देता है।' सुनकर प्रयास-साध्य इस कल्पसूत्र के श्रवण में भी आलस्य कर देगा।

प्रमाणभूत शास्त्र

लोक में कहावत है-**'पुरुष विश्वासे वचन विश्वास।'** पुरुष यदि विश्वास-पात्र हो तो उसका वचन भी विश्वसनीय गिना जाता है, अतः कल्पसूत्र के रचयिता का परिचय देते हैं–

श्री महावीर प्रभु के छठे पट्टधर, श्रुतसागर के पारगामी, चौदह पूर्वधर महर्षि श्री भद्रबाहु स्वामीजी ने चौदहपूर्वों में नौवें **प्रत्याख्यान प्रवाद** नाम के पूर्व में से **दशाश्रुत स्कंध** नामक ग्रंथ का उद्धार किया, उस ग्रंथ के आठवें अध्ययन के रूप में यह श्री कल्पसूत्र है।

पूर्वों का प्रमाण

पूर्व का ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान का महासागर !

बाल जीवों को समझाने के लिए उनका प्रमाण उपमा द्वारा समझाते हैं।

पहला पूर्व 1 हाथी प्रमाण स्याही से लिखा जा सकता है। क्रमशः दुगुना-दुगुना करते जायें तो 14 पूर्व का कुल प्रमाण 16383 हाथी प्रमाण स्याही जितना होता है।

चौदह पूर्व का कोष्टक

पूर्व का नाम	उत्पाद	अग्रायणीय	वीर्य	अस्ति	ज्ञान	सत्य	आत्म	कर्म	प्रत्याख्यान	विद्या	कल्याण	प्राण	क्रिया विशाल	लोक बिंदुसार
नं.	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
हाथी प्रमाण स्याही	1	2	4	8	16	32	64	128	256	512	1024	2048	4096	8192

कुल 16383 हाथी प्रमाण

चौदह पूर्वधर महर्षि ऐसे महापुरुष के द्वारा रचा हुआ होने से यह कल्पसूत्र ग्रंथ सभी को मान्य है । यह गंभीर अर्थों से भरा हुआ है ।

कहा भी है :- `सभी नदियों में जितने रेती के कण हैं अथवा सभी समुद्रों में जितने जल बिंदु हैं उससे भी अनंतगुणे अर्थ एक-एक सूत्र के होते हैं ।'

`मुख में हजार जीभ और हृदय में केवलज्ञान हो तो भी इस कल्पसूत्र की महिमा का वर्णन मनुष्य द्वारा संभव नहीं है ।

अधिकारी वर्ग

योगोद्वहन किये हुए साधु भगवंत ही इस कल्पसूत्र को पढ़ने के अधिकारी हैं । काल से रात्रि में कालग्रहण आदि विधि करने वाले साधु ही पढ़ सकते हैं । निशीथचूर्णि में कही गई विधि के अनुसार साध्वीजी को दिन में साधु के उपाश्रय में आकर सुनने का अधिकार है ।

श्री वीरप्रभु के निर्वाण के 980 वर्ष (मतांतर से 993 वर्ष) बाद आनंदपुर नगर में पुत्रमृत्यु से व्याकुल बने

ध्रुवसेन राजा को समाधि प्रदान करने के लिए बड़े भव्य समारोह के साथ इस कल्पसूत्र का सभा-समक्ष वाचन प्रारंभ किया गया, तब से चतुर्विध संघ भी इस कल्पसूत्र को सुनने का अधिकारी कहा गया है ।

पर्युषण के पाँच कर्त्तव्य

पर्युषण दरम्यान (1) चैत्य परिपाटी (2) समस्त साधु को वंदन (3) सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण (4) परस्पर साधर्मिक क्षमापना तथा (5) अट्ठम का तप-इन पाँच कर्त्तव्यों का पालन अवश्य करना चाहिए ।

नागकेतु की अट्ठम आराधना

कल्पसूत्र के श्रवण की तरह ये पाँच कर्त्तव्य भी इच्छित फल को देनेवाले हैं, अतः अवश्य करने योग्य हैं । इसमें भी अट्ठम तप महाफल देनेवाला है ।

अट्ठम की आराधना से ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी की प्राप्ति होती है । यह अट्ठम तप माया आदि तीनों शल्यों को उखाड़नेवाला, तीनों जन्मों को पवित्र करने वाला, मन, वचन और काया के दोषों का शोषण करने वाला और तीनों लोक में श्रेष्ठपद देनेवाला है, अतः मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओं को नागकेतु की तरह यह अट्ठम तप अवश्य करना चाहिए ।

◆ चंद्रकांता नगरी में विजयसेन राजा राज्य करता था । इसी नगर में श्रीकांत नाम का सेठ रहता था, उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था । अनेक मनौतियाँ करने के बाद उसे एक पुत्र पैदा हुआ । निकट समय में पर्युषण पर्व आ रहे होने से घर में अट्ठम तप की बातें होने लगीं । अट्ठम तप की बातों को सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । यद्यपि वह बालक छोटा था और स्तनपान करता था, परंतु उसने स्तनपान को छोड़कर अट्ठम तप चालू कर दिया । तप के कारण बालक की काया एकदम सूख गई । आखिर वह बालक मूर्च्छित हो गया । माता-पिता ने अनेक उपाय किये, परंतु बालक की मूर्च्छा दूर नहीं हुई ।

बालक की इस हालत को देख उसके पिता को अत्यंत ही आघात लगा । उस आघात को सहन नहीं कर सकने के कारण उनकी अकालमृत्यु हो गई । बालक भी मर गया । बालक को श्मशान भूमि में जाकर गाड़ दिया गया ।

इधर पिता-पुत्र दोनों की मृत्यु हो जाने से उसका सारा धन लेने के लिए राजा ने अपने नौकरों को भेजा । यह देखकर धरणेन्द्र स्वयं वहाँ आ गए । सर्वप्रथम उन्होंने भूमि में रहे बालक को अमृत का छंटकाव कर स्वस्थ किया । उसके बाद ब्राह्मण के वेष में सेठ के घर आकर उन राजपुरुषों को सेठ का धन लेने से रोका ।

राजा को जब इस बात का पता चला तो राजा स्वयं वहाँ पर आया और कहने लगा, ``हे ब्राह्मण ! जिसका कोई वारिस न हो उसका धन हम ग्रहण करते हैं । यह हमारा परंपरागत नियम है, अतः तुम क्यों रोकते हो ?''

ब्राह्मण वेष में रहे धरणेन्द्र ने कहा, ``इस धन का वारिस तो जीवित है ।'' राजा ने पूछा, ``कैसे ?'' वह ब्राह्मण उस राजा को श्मशान भूमि में ले गया, जहाँ बालक भूमि में गड़ा था । धरणेन्द्र ने वह जीवित बालक बतलाया । सभी के आश्चर्य का पार न रहा ।

राजा ने पूछा, ``आप कौन हो ?'' धरणेन्द्र ने कहा, ``मैं नागकुमार निकाय का अधिपति धरणेन्द्र हूँ । इस बालक ने अट्ठम तप किया है, अतः इसकी सहायता के लिए मैं यहाँ आया हूँ ।'' राजा ने पूछा, ``इस नवजात बालक ने अट्ठम तप क्यों किया ?''

धरणेन्द्र ने कहा, `पूर्वभव में यह बालक एक सेठ का पुत्र था । उसकी माता बचपन में ही मर गई थी । उसके पिता ने दूसरी शादी की । वह सौतेली माँ इस बालक को खूब कष्ट देती थी । एक बार उस बालक ने अपने मित्र को यह सारी बात बतलाई ! वह मित्र धर्म-परिणतिवाला था, अतः उसने अच्छी सलाह देते हुए कहा, ``भाई ! तूने पूर्व-भव में विशेष तप-साधना नहीं की है, इसी के परिणाम-स्वरूप तू

पराभव पा रहा है ।''

मित्र की इस सलाह को सुनकर वह यथाशक्ति तप करने लगा । उसने आगामी पर्युषण पर्व में अट्ठम तप करने का संकल्प किया । एक दिन अट्ठम तप करने की भावना से वह घास की झोपड़ी में सोया हुआ था, तभी उसकी सौतेली माँ ने चूल्हे में से अग्नि लेकर उस झोपड़ी में आग लगा दी । झोपड़ी में आग लगने से वह बालक आग में झुलसकर मर गया ।

अट्ठम की शुभ भावना के कारण वह बालक मरकर श्रीकांत सेठ के पुत्र के रूप में पैदा हुआ । घर में पर्युषण पर्व की बातें सुनकर इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । इसने पूर्वजन्म में निर्धारित अट्ठम का तप किया है । बालक होने से अशक्ति के कारण यह मूर्च्छित हो गया था, परंतु स्वजनों ने इसे मृत समझकर इसका मृतकार्य कर लिया ।

यह बालक तो महाभाग्यशाली है और इसी भव में मोक्ष जानेवाला है । तुम्हारा भी यह उपकार करेगा, अतः इसका अच्छी तरह पालन व रक्षण करना ।'' इतना कहकर नागराज धरणेन्द्र ने बालक के गले में हार डाल दिया और वे अपने स्थान पर चले गए । स्वजनों ने श्रीकांत सेठ का मृत कार्य पूर्ण किया । नागकुमार धरणेन्द्र की सहायता से बालक को नया जीवन मिला होने से बालक का नाम **'नागकेतु'** रखा । नागकेतु धीरे-धीरे बड़ा होने लगा ।

एक बार राजा ने एक निरपराध व्यक्ति को चोर मानकर मरवा दिया । वह चोर मरकर व्यंतर बना । विभंगज्ञान से अपने पूर्वभव को देखकर उसे राजा पर गुस्सा आया । उसने राजा को सिंहासन से नीचे गिरा दिया, राजा के मुख से खून बहने लगा । क्रोध के कारण वह संपूर्ण नगर का नाश करने के लिए तैयार हो गया । नगर के नाश के लिए उसने पत्थर की बहुत बड़ी शिला तैयार की और नगर पर डालने की तैयारी की । उसी समय समग्र नगर व जिनमंदिरों का विनाश रोकने के लिए नागकेतु प्रासाद पर चढ़ गया । उसने अपनी अंगुली से वह शिला रोक दी ।

नागकेतु के तप व पुण्य के प्रभाव से उस व्यंतरदेव की शक्ति भी कुंठित हो गई । उसने वह शिला दूर कर दी । राजा को स्वस्थ कर दिया । उसने नागकेतु के चरणों में नमस्कार किया ।

एक बार नागकेतु वीतराग-परमात्मा की पुष्प पूजा कर रहा था । उस समय पुष्प में रहे एक जहरीले साँप ने नागकेतु को डंख दिया । सर्पदंश की पीड़ा से नागकेतु लेश भी विचलित नहीं हुआ । शुभभाव की धारा में चढ़ते-चढ़ते शुक्ल ध्यान करते नागकेतु को वहीं केवलज्ञान हो गया । शासनदेवी ने आकर नागकेतु को साधुवेष अर्पित किया । दीर्घकाल तक पृथ्वीतल पर विचरण कर अनेक भव्यात्माओं को धर्मबोध देकर नागकेतु ने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

इस प्रकार अट्ठम तप की महिमा जानकर अट्ठम तप की आराधना में उद्यमशील बनना चाहिए ।

इस कल्पसूत्र में मुख्यतया तीन बातें कहने की हैं-

'पुरिम चरिमाण कप्पो, मंगलं वद्धमाण-तित्थम्मि ।
इह परिकहिआ जिण-गण-हराइ थेरावली चरित्तं ।।'

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर परमात्मा के तीर्थ में यह आचार है कि वर्षा हो या न हो फिर भी पर्युषण (चातुर्मास) अवश्य करना चाहिए और कल्पसूत्र पढ़ना चाहिए । श्री वीरप्रभु के शासन में इस कल्पसूत्र का पठन व श्रवण मंगल के लिए होता है । आचाररूप होने से और मंगलभूत होने से इस कल्पसूत्र का पठन व श्रवण अवश्य करना चाहिए ।

इसकी मंगलमयता बतलाते हैं (1) इसमें तीर्थंकरों के चरित्र हैं । (2) गणधर आदि के चरित्र व परंपरा का वर्णन है तथा 3 साधुओं की सामाचारी है ।

संक्षिप्त वाचना

इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के अंतिम भाग रूप उस काल और उस समय में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के पाँच प्रसंग उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र में हुए हैं ।

'भग' शब्द के सूर्य, ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, रूप, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, श्री, धर्म, ऐश्वर्य और योनि रूप 14 अर्थ होते हैं । इनमें से सूर्य और योनि इन दो अर्थों को छोड़कर भगवान ज्ञान आदि गुणों से युक्त हैं ।

कर्म रूपी वैरी को परास्त करने में समर्थ श्री भगवान महावीर स्वामी के जीवन की मुख्य पाँच घटनाएँ उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र में हुई हैं । (1) दसवें प्राणत देवलोक में से च्यवन और देवानंदा की कुक्षि में अवतरण । (2) देवानंदा की कुक्षि में से त्रिशला महारानी की कुक्षि में गर्भ का परिवर्तन । (3) भगवान महावीर प्रभु का जन्म । (4) संसार का त्याग कर भागवती प्रव्रज्या का स्वीकार । (5) अनंत वस्तु विषयक-अनुपम ऐसे केवलज्ञान की प्राप्ति । उपर्युक्त बातें महावीर प्रभु के जीवन में उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर घटित हुई हैं, जब कि प्रभु का निर्वाण **स्वाति** नक्षत्र में हुआ है ।

विस्तृत वाचना

इस अवसर्पिणी काल का चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषम-सुषम नाम का पहला आरा तथा तीन कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण दूसरा-सुषम आरा बीत चुका था । उसके बाद दो कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषम-दुषम नाम का तीसरा आरा भी बीत चुका था...उसके बाद 42 हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्रमाण दुषम-

सुषमा नाम का चौथा आरा पूर्ण होने में 75 वर्ष और 8½ मास बाकी थे ।

उस व्यतीत काल में काश्यपगोत्रीय इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हुए 21 तीर्थंकर तथा गौतमगोत्रीय हरिवंश कुल में उत्पन्न हुए मुनिसुव्रत स्वामी व नेमिनाथ दो तीर्थंकर प्रभु मोक्ष में चले गए थे । इन तेबीस तीर्थंकरों ने भविष्य में होने वाले चौबीसवें महावीर प्रभु का निर्देश किया था । उस समय 10 वें प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में से 20 सागरोपम के दीर्घ आयुष्य को पूर्णकर (देवभव संबंधी आहार, भव व शरीर को छोड़कर) भगवान महावीर की आत्मा का ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष अर्थात् असाढ़ सुदी छठ के दिन मध्य रात्रि में इस जंबुद्वीप के दक्षिणार्ध भरत के ब्राह्मणकुंड नगर में उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा की कुक्षि में अवतरण हुआ । **इस घटना को महावीर प्रभु का च्यवन कल्याणक कहा जाता है ।**

च्यवन की उस घटना के समय भगवान मति, श्रुत व अवधिज्ञान से युक्त थे । वे देवलोक में से अपने भावी में होनेवाले च्यवन को जानते थे । च्यवन होने के बाद **'देवलोक में से मेरा च्यवन हुआ'** इस बात को भी जानते थे । परंतु च्यवन की वर्तमान क्रिया एक समय की होने के कारण उसे वे नहीं जानते थे क्योंकि छद्मस्थ जीवों को किसी भी वस्तु का बोध होने में असंख्य समय लग जाते हैं ।

स्वप्न दर्शन

जिस रात्रि में देवानंदा की कुक्षि में भगवान महावीर की आत्मा का अवतरण (आगमन) हुआ, उस रात्रि में देवानंदा ने कल्याणकारी, उपद्रवहारी, धन-धान्यवर्धक, मंगलकारी, शोभायुक्त हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मीदेवी, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, ध्वज, पूर्णकलश, पद्म सरोवर, क्षीर-समुद्र, देवविमान, रत्नराशि तथा

निर्धूम-अग्नि रूप चौदह महास्वप्न देखे । ***(यदि कोई परमात्मा नरक में से आए हों तो तीर्थंकर की माता विमान के बदले भवन को देखती हैं ।)***

इन आश्चर्यकारी स्वप्नों को देखकर देवानंदा खुश हो गई । वर्षा के जल से विकसित होनेवाले कदंब पुष्प की भाँति उसकी रोम-राजि विकस्वरित हो गई । उसका मन प्रफुल्ल हो गया । वह उन स्वप्नों को पुनः याद करने लगी ।

उन स्वप्नों को यादकर वह अपने बिस्तर पर से खड़ी हो गई । उसके बाद मानसिक उत्कंठा व चपलता को छोड़कर राजहंसी के समान गतिवाली देवानंदा अपने शयनखंड को छोड़कर ऋषभदत्त के शयनखंड में आई । **'जय हो' 'विजय हो'** ऐसे मंगलसूचक शब्दों द्वारा उसने अपने पति ऋषभदत्त को जगाया ।

उसके बाद पास में पड़े भद्रासन पर बैठकर दोनों हाथ जोड़कर बोली, ``हे देवानुप्रिय ! अभी मैं अल्पनिद्रा कर रही थी, तब अर्ध-जाग्रत अवस्था में मैंने हाथी, बैल आदि ये चौदह महास्वप्न देखे हैं, इन मंगल व कल्याणकारी स्वप्नों का क्या फल होगा ?''

देवानंदा के मुख से इन उत्तम स्वप्नों को सुनकर ऋषभदत्त ब्राह्मण एकदम खुश हो गए । ऋषभदत्त ने उन स्वप्नों को पुनः याद कर अपनी मति-प्रज्ञा के अनुसार उन स्वप्नों का अर्थ बताते हुए कहा, ``हे देवानुप्रिया ! तुमने बहुत श्रेष्ठ कल्याणकारी और उत्तम स्वप्न देखे हैं । आरोग्य, दीर्घायुष्य, संतोष पैदा करानेवाले और मन की इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले ये स्वप्न हैं ।

``इन स्वप्नों के फलस्वरूप तुझे धन की प्राप्ति होगी, भोग का लाभ होगा...पुत्र का लाभ होगा और

सुख का लाभ होगा। नौ मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर तुम उत्तम पुत्ररत्न को जन्म दोगी। वह पुत्र पाँच इन्द्रियों से परिपूर्ण तथा लक्षण, व्यंजन आदि गुणों से युक्त होगा। उसके हाथ-पाँव में श्रेष्ठ लक्षण तथा उत्तम चिह्न होंगे।''

चक्रवर्ती और तीर्थंकर के शरीर के हाथ-पाँव आदि में 1008, बलदेव-वासुदेव के हाथ-पाँव में 108 और अन्य भाग्यशाली के हाथ-पाँव आदि में 32 लक्षण होते हैं।

बत्तीस लक्षण

छत्र, कमल, धनुष, रथ, वज्र, कछुआ, अंकुश, बावड़ी, स्वस्तिक, तोरण, सरोवर, सिंह, वृक्ष, चक्र, शंख, हाथी, समुद्र, कलश, प्रासाद, मत्स्य, जौ, यज्ञ-स्तंभ, स्तूप, कमंडल, पर्वत, चामर, दर्पण, बैल, ध्वजा, अभिषेक युक्त लक्ष्मी, सुंदर माला तथा मोर आदि। ये बत्तीस चिह्न जिसके शरीर में होते हैं, वह पुण्यशाली कहलाता है।

अन्य अपेक्षा से 32 लक्षण

1. नाखून, हाथ, पैर, जीभ, होठ, तालुवा तथा आँख के कोने लाल होने चाहिए।
2. वक्ष, हृदय, नासिका, नाखून और मुख उन्नत होने चाहिए।
3. दाँत, चमड़ी, केश, अंगुलियों के पर्व और नाखून बारीक होने चाहिए।
4. नेत्र, हृदय, नासिका, ठुड्ड़ी और भुजा लंबी होनी चाहिए।
5. ललाट, मुख और छाती विशाल होनी चाहिए।
6. गर्दन, जंघा और पुरुषचिह्न छोटे होने चाहिए।

7. सत्त्व, स्वर और नाभि गंभीर होने चाहिए ।

ये सभी 32 लक्षण कहलाते हैं । शरीर का आधा भाग मुख कहलाता है अथवा शरीर का सर्वस्व मुख माना जाता है । उसमें भी नासिका श्रेष्ठ है । नासिका से भी नेत्र श्रेष्ठ हैं । **नेत्र के अनुसार मनुष्य का शील होता है । जैसी नासिका होती है, वैसी हृदय की सरलता होती है । रूप के अनुरूप धन होता है और शील के अनुसार गुण होते हैं ।**

जो मनुष्य अति ठिगना, अतिलंबा, अतिमोटा, अतिकृश, अति पतला, अतिगोरा होता है-वह सत्त्वशाली होता है ।

गति-निर्देश

1. जो सद्धर्म में रक्त हो, नीरोग हो, श्रेष्ठ स्वप्नदर्शी हो, नीतिमान् और कवि हो ऐसा मनुष्य देवलोक में से आया हुआ है और देवलोक में जाएगा ।

2. जो मनुष्य कपटी, लोभी, क्षुधातुर, आलसी और अधिक आहार करता हो, वह तिर्यंचगति में से आया हुआ है और तिर्यंचगति में जाएगा ।

3. जो मनुष्य अतिरागी, स्वजनों पर द्वेष करने वाला, खराब भाषा बोलनेवाला और मूर्ख का संग करनेवाला होता है, वह नरक में से आया है और नरक गति में जाएगा ।

4. जो मनुष्य दयालु, दानवीर, इन्द्रियों को वश में रखनेवाला तथा सरलस्वभावी होता है, वह मनुष्यगति में से आया हुआ है तथा मनुष्यगति में ही जाएगा ।

मनुष्य के शरीर में दाहिनी ओर दाया आवर्त शुभ करनेवाला और बायीं ओर बायाँ आवर्त अशुभ

करनेवाला होता है तथा बायी ओर दाहिने आवर्त और दाहिनी ओर बायें आवर्त हों तो मध्यम फल होता है ।

◆ जिस मनुष्य के हाथ में बहुत कम रेखायें हों या बहुत अधिक रेखायें हों तो वह निःसंदेह दुःखी होता है ।

◆ जिस मनुष्य के अनामिका अंगुली के अंतिम पौर (पर्व) से कनिष्ठा अंगुली बड़ी हो, उस मनुष्य के धन की वृद्धि होती है और मौसाल पक्ष अधिक होता है ।

◆ मणिबंध से पितृरेखा व करभ से धन व आयुष्य की रेखा चलती है । ये तीनों रेखाएँ तर्जनी व अंगूठे के बीच जाती हैं । जिसकी ये तीनों रेखाएँ संपूर्ण व दोषरहित हों उसे गोत्र, धन-धान्य व आयुष्य का संपूर्ण सुख मिलता है और ये रेखाएँ खंडित हों तो कम सुख मिलता है ।

◆ आयुष्य की रेखा जितनी अंगुलियों को पार करती है, उतनी पच्चीसी का आयुष्य समझना चाहिए ।

◆ अँगूठे के मध्य भाग में जौ का चिह्न हो तो विद्या, ख्याति व समृद्धि प्राप्त होती है । दाहिने अंगूठे में जौ का चिह्न हो तो शुक्ल पक्ष का जन्म समझना चाहिए ।

◆ जिसकी आँखें लाल हों, उसे स्त्रियाँ बहुत चाहती हैं । जिसकी आँखें पीली हों, उसे खूब धन मिलता है । जिसके हाथ लंबे हों, उसे ऐश्वर्य प्राप्त होता है और जिसका शरीर मोटा-ताजा हो, उसे सुख की प्राप्ति होती है ।

◆ आँखों में स्निग्धता हो तो सौभाग्य, दाँतों में स्निग्धता हो तो श्रेष्ठ भोजन, शरीर में स्निग्धता हो तो सुख और पाँवों में स्निग्धता हो तो वाहन की प्राप्ति होती है ।

◆ जिसकी छाती विशाल हो उसे धन-धान्य की प्राप्ति होती है । जिसका मस्तक विशाल हो वह

राजा आदि महान् पुरुष बनता है । जिसका कटि-भाग विशाल हो उसे अनेक स्त्रियाँ-पुत्र होते हैं । जिसका पांव विशाल हो वह सुखी होता है ।

शरीर पर जो मस्से, तिल आदि होते हैं, उन्हें व्यंजन कहते हैं । हे देवानुप्रिये ! तुम्हें जो पुत्र पैदा होगा, वह लक्षण, व्यंजन, मान-उन्मान आदि से युक्त होगा ।

◆ अपने अंगुल से 108 अंगुल ऊँचाई वाला उत्तम पुरुष होता है । 96 अंगुल वाला मध्यम व 84 अंगुलवाला जघन्य कहलाता है । हे देवानुप्रिये ! यह बालक अत्यंत ही सौम्य, रूपवान व दर्शनीय होगा ! जब यह बालक आठ वर्ष का होगा, तब विशिष्ट ज्ञानी होगा, यौवन वय को प्राप्त होगा तब ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पुराण, निघंटु तथा वेदों के अंग-उपांग को जाननेवाला होगा । जगत् की सर्व विद्याओं का ज्ञाता बनेगा । दूसरों की भूलों को सुधारनेवाला होगा ।''इतना कहकर ऋषभदत्त ब्राह्मण ने उन स्वप्नों की पुनःपुनः अनुमोदना की ।

ऋषभदत्त पति के मुख से स्वप्नों के इन फलों को सुनकर देवानंदा खुश हो गई । प्रसन्न होकर वह बोली, **''हे स्वामिन् ! आपने जो कहा है, वह यथार्थ है, वह मुझे भी इष्ट है ।''** इतना कहकर देवानंदा उन बातों की पुनःपुनः अनुमोदना कर अपने शयनखंड में चली गई !

देवानंदा, ऋषभदत्त ब्राह्मण के साथ मानवीय भोग भोगते हुए अपने दिन व्यतीत करने लगी ।

इन्द्र-स्तुति

उस समय सौधर्म इन्द्र अपने शक्र नाम के सिंहासन पर बैठे हुए थे । शक्र नाम के सिंहासन का

अधिष्ठाता होने से इन्द्र को **'शक्र'** भी कहते हैं। देवताओं का स्वामी होने से उन्हें **देवराज** भी कहते हैं। हाथ में वज्र धारण करने के कारण उन्हें **वज्रधर** कहते हैं। दैत्यों के नगर का नाश करने के कारण **पुरंदर** कहते हैं। कार्तिक सेठ के भव में श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा सौ बार धारण करने के कारण उसे **शतक्रतु** भी कहते हैं।

कार्तिक सेठ

पृथ्वीभूषण नगर में प्रजापाल राजा राज्य करता था। उस नगर में कार्तिक सेठ रहता था। उस सेठ ने श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा सौ बार वहन की थी, इस कारण लोग उसे **शतक्रतु** कहने लगे।

एक बार उस नगर में एक महीने का उपवासी गैरिक नाम का तापस आया। कार्तिक सेठ को छोड़ सारा गाँव उस तापस का भक्त हो गया। गैरिक तापस को कार्तिक सेठ पर गुस्सा आया। एक बार राजा ने उस तापस को पारणे के लिए आमंत्रण दिया। तापस ने कहा, `यदि कार्तिक सेठ मुझे भोजन परोसते हों तो मैं आने के लिए तैयार हूँ।' राजा ने `हाँ' भर दी। राजा ने कार्तिक सेठ को आज्ञा की। राजा की आज्ञा होने से कार्तिक सेठ तापस को भोजन परोसने लगे। उस समय तापस ने अपने नाक पर अंगुली घिसकर सेठ का अपमान किया। सेठ ने सोचा, `मैंने पहले ही दीक्षा ले ली होती तो आज मुझे यह अपमान सहन नहीं करना पड़ता।'

इस प्रकार सोचकर सेठ ने 1008 वणिक् पुत्रों के साथ मुनिसुव्रत स्वामी के पास दीक्षा ले ली। दीक्षा बाद कार्तिक मुनि ने द्वादशांगी का अभ्यास किया। बारह वर्ष का निर्मल-संयम पालन किया। अंत में समाधि पूर्वक कालधर्म पाकर सौधर्म इन्द्र बने।

इधर वह गैरिक तापस भी मरकर सौधर्म इन्द्र का ऐरावण हाथी रूप वाहन बना । **'यह इन्द्र तो कार्तिक सेठ का जीव है'** , यह देखकर वह हाथी भागने लगा । इन्द्र ने उसे जबरन पकड़ कर उसके ऊपर सवारी कर दी । इन्द्र को डराने के लिए उस हाथी देव ने अपने दो रूप किये...तब इन्द्र ने भी दो रूप किये । उस हाथी ने चार रूप किये...तब इन्द्र ने भी चार रूप किये । उसके बाद इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से देखा कि यह तो गैरिक तापस का जीव है । इन्द्र ने उसका तिरस्कार किया , तब वह अपने मूल स्वरूप में आ गया ।

◆ सौधर्म इन्द्र के 500 मंत्री होते हैं, उनके 1000 आँखें होने से इन्द्र को **सहस्त्राक्ष** भी कहते हैं ।

बड़े मेघ को वश में करने के कारण इसे **मेघवान्** भी कहते हैं । 'पाक' नाम के दैत्य को वश में करने के कारण से **पाकशासन** भी कहलाते हैं ।

वह इन्द्र 32 लाख विमानों का अधिपति है । दक्षिणार्ध लोक का अधिपति है । वह इन्द्र उज्ज्वल-वस्त्र , माला , मुकुट , चंचल कुंडल तथा छत्र आदि राज-चिह्न धारण किये हुए है । उसके शरीर पर मूल्यवान आभूषण हैं । वह महाबलवान , यशस्वी , महिमावंत और महासुखी है ।

उसाके गले में पंचवर्णीय पुष्पों की माला है । वह सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक नाम के विमान में सुधर्मा सभा में **शक्र** नाम के सिंहासन पर बिराजमान है ।

उस इन्द्र के 1. 84,000 समान ऋद्धिवाले सामानिक देव हैं । (2) 33 मंत्री तुल्य त्रायस्त्रिंशक देव हैं । (3) सोम , यम , वरुण और कुबेर-चार लोक-पाल हैं । (4) पद्मा आदि आठ पट्टरानियाँ (देवियाँ) हैं । वे प्रत्येक देवी 16000 के परिवारवाली हैं । चारों दिशाओं में 84000 अर्थात् 3,36,000 आत्मरक्षक देव हैं ।

उस इन्द्र के आभ्यंतर-मध्य और बाह्य-तीन पर्षदाएँ हैं । उस इन्द्र के गंधर्व नाटक आदि 7 सेनाएँ व 7 सेनापति हैं ।

इस प्रकार अमाप समृद्धि और वैभव के मालिक वे इन्द्र विविध प्रकार के वाद्ययंत्र व संगीत को सुनते हुए आनंदपूर्वक दिव्य भोगों का अनुभव कर रहे थे ।

सौधर्म-इन्द्र, सौधर्म-सभा में बैठकर नाटक-दृश्य आदि देख रहे थे, तभी उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जंबुद्वीप का निरीक्षण करते हुए दक्षिणार्ध भरत में ब्राह्मणकुंड नगर में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा की कुक्षि में रहे श्रमण भगवान महावीर परमात्मा को देखा । प्रभु को देखकर इन्द्र महाराजा खुश हो गए । उनकी रोम-राजि विकस्वरित हो गई ।

तत्काल इन्द्र महाराजा अपने सिंहासन से खड़े हो गए । पादपीठ पर पाँव रखकर नीचे उतरे । पादुका छोड़कर प्रभु के जन्म की सम्मुख दिशा में सात-आठ कदम आगे बढ़े । उसके बाद उन्होंने उत्तरासन धारण किया ।

मस्तक पर दो हाथ जोड़कर बायें घुटने को ऊँचाकर तथा दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्पर्श कराकर तीन बार मस्तक झुकाकर अंजलि करके **शक्रस्तव** द्वारा प्रभु की स्तुति करने लगे-

नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं ।।1।।
आइगराणं, तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं ।।2।।
पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं, पुरिसवर-पुंडरीआणं, पुरिसवर गंध-हत्थीणं ।।3।।
लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहिआणं, लोगपईवाणं, लोग-पज्जोअगराणं ।।4।।

अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं ।।5।।
धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टीणं ।।6।।
दीवो, ताणं, सरणं, गइपइट्ठा, अप्पड़िहय वरनाण-दंसणधराणं, वियट्टछउमाणं ।।7।।
जिणाणं-जावयाणं, तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं ।।8।।
सव्वण्णूणं, सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धि गइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जिअ भयाणं ।।9।।

नमोत्थुणं अरिहंताणं : अरिहंतों को नमस्कार हो, जो तीन भुवन में पूजा के योग्य हैं, राग-द्वेष रूप कर्मशत्रुओं के नाशक हैं तथा कर्म रूप बीज के जल जाने के कारण जो पुनः जन्म लेनेवाले नहीं हैं ।

भगवंताणं : ज्ञान आदि गुणों से युक्त हैं ।

आइगराणं : अपने अपने तीर्थ की अपेक्षा धर्म की आदि करनेवाले हैं ।

तित्थयाणं : प्रथम गणधर या संघ रूप तीर्थ के स्थापक हैं ।

सयंसंबुद्धाणं : गुरु आदि के उपदेश बिना बोध पानेवाले हैं ।

पुरिसुत्तमाणं : अनंत गुणों के धारक होने से जो पुरुषों में उत्तम हैं ।

पुरिससीहाणं : कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने में जो पुरुषों में सिंह समान हैं ।

पुरिसवर-पुंडरीआणं : जिस प्रकार सफेद कमल कीचड़ में पैदा होता है और पानी से बढ़ता है, फिर भी कीचड़ व पानी से ऊपर रहता है, उसी प्रकार कर्म रूपी कीचड़ में उत्पन्न होने पर भी तथा आहार आदि के भोग से वृद्धि पाए होने पर भी कर्म और भोग को छोड़कर अलिप्त रहने के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक समान हैं ।

पुरिसवर गंधहत्थीणं : जिस प्रकार गंधहस्ती को देख अन्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार जिनके प्रभाव से दुर्भिक्ष आदि दूर हो जाने से जो पुरुषों में गंध-हस्ती समान हैं ।

लोगुत्तमाणं : 34 अतिशयों से युक्त जो भव्य जीवो में उत्तम है ।

लोगनाहाणं : अप्राप्त ज्ञानादि गुणों को प्राप्त कराने से **'योग'** तथा प्राप्त ज्ञान आदि गुणों का रक्षण करने रूप **'क्षेम'** को करनेवाले होने से जो लोक के नाथ हैं ।

लोगहिआणं : दया धर्म की प्ररूपणा द्वारा सभी जीवों का हित करनेवाले हैं ।

लोगपइवाणं : भव्य जीवों के मिथ्यात्व रूपी अंधकार को दूर कर तत्त्व-श्रद्धा का प्रकाश फैलाने वाले हैं ।

लोगपज्जोअगराणं : गणधर जैसी उत्तम आत्माओं को सभी वस्तुओं का स्वरूप बतानेवाले हैं ।

अभय-दयाणं : सात प्रकार के भयों का नाश करने वाले हैं ।

संसार में जीवों को निम्नलिखित सात भय सताते हैं-

1. **इहलोक भय :** सजातीय भय, जैसे-मनुष्य को मनुष्य से भय ।
2. **परलोक भय :** विजातीय भय, जैसे-मनुष्य को देव तिर्यंच से भय ।
3. **आदान भय :** चोर आदि से लूटे जाने का भय ।
4. **अकस्मात् भय :** शस्त्र आदि का अचानक आ पड़नेवाला भय ।
5. **आजीविका भय :** जीवन-निर्वाह संबंधी भय ।
6. **मृत्यु भय :** मौत का भय ।

7. अपयश भय : लोक में निंदा होने का भय ।
चक्खुदयाणं : चक्षु समान श्रुतज्ञान देनेवाले ।
मग्गदयाणं : चित्त की अवक्रगति रूपी मार्ग को देनेवाले ।
सरणदयाणं : संसार से त्रस्त जीवों को बचानेवाले ।
जीवदयाणं : कभी मरना न पड़े, ऐसा शाश्वत जीवन देनेवाले ।
बोहि दयाणं : सम्यक्त्व आदि रूप बोधि को देनेवाले ।
धम्मदयाणं : श्रुत व चारित्ररूप धर्म के दाता ।
धम्मदेसयाणं : धर्मोपदेश देनेवाले ।
धम्म नायगाणं : उपदिष्ट धर्म के स्वामी ।
धम्म सारहीणं : धर्मरूपी रथ के सारथी ।

धर्म सारथी

एक बार महावीर प्रभु राजगृही नगरी में पधारे । उनके उपदेश को सुनकर श्रेणिक महाराजा और धारिणी के पुत्र मेघकुमार को दीक्षा की भावना हुई । माता-पिता की अनुमति प्राप्तकर आठ पत्नियों का त्याग कर मेघकुमार ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । संयम की ग्रहण व आसेवन शिक्षा पाने के लिए प्रभु ने मेघकुमार मुनि की जवाबदारी स्थविर मुनि को सौंप दी ।

रात्रि में शयन हेतु संथारा करने पर छोटे-बड़े के क्रम से मेघकुमार मुनि का संथारा दरवाजे के पास आया । रात्रि में लघु नीति हेतु मुनियों के जाने आने से मेघमुनि का संथारा धूलवाला हो गया और

उन्हें रात भर नींद नहीं आई ।

रात में हुई इस परेशानी से मेघ मुनि को कंटाला आ गया । वे सोचने लगे, `अहो ! कहाँ राजमहल में वह मेरी सुखशय्या और कहाँ यह दु:खशय्या ? ऐसा दु:ख मुझे कब तक सहन करना पड़ेगा ? मैं तो प्रात: प्रभु को यह साधु-वेष सौंपकर अपने घर चला जाऊंगा !'

प्रात:काल होने पर मेघमुनि प्रभु के पास आए । भगवान ने मधुर-वाणी से उन्हें पुकारा और कहा, **'वत्स ! रात्रि में तुमने जो दुर्ध्यान किया, वह योग्य नहीं किया । नरक आदि गतियों के आगे तो यह दु:ख कुछ भी नहीं है । वह दु:ख भी सागरोपम जितने दीर्घकाल तक सहन किया है ।**

कहा भी है-`अग्नि में प्रवेश करके या अनशन आदि को स्वीकार कर मर जाना अच्छा है किंतु ग्रहण किए गए व्रत का भंग करना अच्छा नहीं है ।'

चारित्र आदि का कष्ट तो महालाभ का कारण है । तुमने पूर्व भव में धर्म के लिए जो कष्ट सहन किया, उसके फलस्वरूप यह महान् फल प्राप्त हुआ है ।

पूर्व के तीसरे भव में तू वैताढ्य पर्वत पर छह दाँतवाला व 1000 हथिनियों का स्वामी सफेद हाथी था । एक बार जंगल में दावानल सुलगने से तू भागा । तीव्र प्यास लगने से तू ने सरोवर में प्रवेश किया । मार्ग नहीं मिलने से सरोवर के कीचड़ में फँस गया । उस समय पूर्व भव के वैरी हाथी ने तुझपर दंतशूल से तीव्र प्रहार किये । 7 दिन बाद मरकर तू विंध्याचल पर्वत पर 700 हथिनियों का स्वामी चारदाँत वाला लाल हाथी हुआ । एक बार दावानल देखकर तुझे जाति स्मरण ज्ञान हुआ । दावानल से बचने के लिए तूने एक योजन भूमि के मंडल को घास-तृण आदि से साफ कर दिया ।

वन में दूसरी बार दावानल लगा । जंगल से अनेक पशु भयभीत होकर उस मंडल में आ गए । वह मंडल जंगली पशुओं से भर गया । अचानक खुजली आने से तू ने अपना एक पैर ऊपर उठाया । उस समय अत्यंत भीड़ के कारण तंग हुआ एक खरगोश उस खाली जगह में आकर बैठ गया । तुम्हारी नजर उस खरगोश पर पड़ी । तुम्हारा हृदय दया से भर आया । तुमने ढाई दिन तक अपना पैर ऊँचा ही रखा । उसके बाद दावानल शांत हो गया और सभी प्राणी अन्यत्र चले गए । ढाई दिन तक पाँव ऊँचा रखने के कारण तुम्हारा पैर अकड़ गया । तुम भूमि पर नीचे गिर पड़े । उसके बाद तीन दिन तक भूख-प्यास की पीड़ा को सहन करते हुए दया के परिणाम से अपने 100 वर्ष के आयुष्य को पूर्णकर तुम श्रेणिक राजा के पुत्र के रूप में पैदा हुए हो ।

``हे मेघमुनि ! हाथी के भव में धर्म के लिए कितना कष्ट सहन किया । तो फिर जगत्वंद्य महात्माओं के चरण स्पर्श से इतने क्यों अकुलाते हो ?'' प्रभु के इन वचनों को सुनकर मेघ मुनि पुनः संयम में स्थिर हो गए ।

अपने पूर्व भव को सुनने से मेघ मुनि को जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उन्होंने उसी समय, **'दो आँखों को छोड़कर संपूर्ण शरीर की सेवा-शुश्रूषा का त्याग करता हूँ ।'** इस प्रकार का दृढ़-अभिग्रह धारण किया ।

उसके बाद निरतिचार संयम धर्म का पालन किया । जिसके फलस्वरूप अनुत्तर विमान में देव बने । वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म धारण कर चारित्र धर्म की आराधना कर मोक्ष जाएंगे । इस प्रकार मार्ग से च्युत हुए को पुनः सन्मार्ग में स्थिर करने के कारण प्रभु `धर्म-सारथी' कहलाते हैं ।

प्रथम व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

व्याख्यान 2

देवानंदा की कुक्षि में रहे चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर परमात्मा को निहारकर सौधर्मइन्द्र `नमुत्थुणं सूत्र' के द्वारा प्रभु की स्तुति कर रहे हैं ।

`धम्म सारहीणं' धर्म सारथी तक के पद का विवेचन पहले व्याख्यान में पूर्ण हुआ । अब दूसरे व्याख्यान में आगे के पदों का विवेचन प्रारंभ होता है ।

`धम्मवर चाउरंत चक्क वट्टीणं'

चारों दिशाओं में अंत तक पृथ्वी को जीतने वाला चातुरंग चक्रवर्ती कहलाता है । भगवान दान आदि चार धर्मों के श्रेष्ठ चक्रवर्ती समान हैं, क्योंकि वे दान आदि चार धर्मों के पार को पाये हुए हैं ।

भगवान **द्वीप** समान हैं । संसार सागर में डूबनेवाले प्राणियों के लिए द्वीप की तरह आधार स्थल हैं । गोशाले के नियति-वाद से सद्दालपुत्र व्युद्ग्रहित बना था, प्रभु ने उसे समझाकर संसार सागर में डूबने से बचा दिया ।

`दीवो' का अर्थ दीप भी होता है । अज्ञान अंधकार में भटकने वाले के लिए प्रभु दीप समान हैं ।

`ताणं' अर्थात् अनर्थ का नाश करने में कारणभूत होने से रक्षक भी हैं । सौधर्म इन्द्र के कोप के भाजन बने चमरेन्द्र को प्रभु ने बचाया था ।

`सरण' कर्म के उपद्रव से भयग्रस्त बने जीवों के लिए प्रभु शरणदाता हैं ।

गइ-अर्थात् गति । दुःखी जीवों को सुख देनेवाले हैं ।

पइट्ठा : संसार रूपी कुए में गिरनेवाले जीवों के लिए प्रभु आलंबन रूप हैं ।

अप्पडिहयनाणदंसणधराणं : दीवाल, मकान या अन्य किसी पदार्थ से जिनका ज्ञान स्खलित होनेवाला नहीं है, ऐसे अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन को धारण करनेवाले । अपना ज्ञान, द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से स्खलित होता है, बीच में कोई पर्दा, दीवार आ जाय तो सामने रही वस्तु भी दिखाई नहीं देती है । महाविदेह क्षेत्र, मेरुपर्वत आदि दूर होने के कारण हमें दिखाई नहीं देते हैं । गत या सैकड़ों जन्म पूर्व की घटना हमें दिखाई नहीं देती है, दूसरे के मन के विचारों का हमें ज्ञान नहीं हो पाता है । छद्मस्थों के ज्ञान में कहीं भी अवरोध आ सकता है । केवलज्ञानी का ज्ञान किसी भी वस्तु से अप्रतिहत होता है ।

विअट्ट छउमाणं-घाति कर्म रूपी आवरण को नष्ट करनेवाले ।

जिणाणं जावयाणं-स्वयं के राग-द्वेष को जीतनेवाले और दूसरों को भी उनके राग-द्वेष से जितानेवाले ।

तिन्नाणं तारयाणं-स्वयं संसार-सागर से तिरे हुए और दूसरों को संसार-सागर से तिरानेवाले ।

बुद्धाणं बोहयाणं-स्वयं तत्त्व के बोध को पाये हुए और दूसरों को तत्त्व का बोध देनेवाले ।

मुत्ताणं मोअगाणं-कर्म के बंधन से स्वयं मुक्त बने हुए और दूसरों को भी कर्म के बंधन से मुक्त करनेवाले ।

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं-सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ।

सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धि-गइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं-जिअ-भयाणं ।

उपद्रवरहित, अचल, रोगरहित-अनंत-अक्षय-अव्याबाध, जहाँ से संसार में लौटने का नहीं है, ऐसे

सिद्धिगति स्थान को पाए हुए, सभी भयों को जीतनेवाले, इन विशेषणों से युक्त सभी जिनेश्वर भगवंतों को नमस्कार हो ।

इस प्रकार सभी जिनेश्वरों को सामान्य से नमस्कार करके इन्द्र महाराजा भगवान महावीर को विशेष रूप से नमस्कार करते हुए कहते हैं, ``**भविष्य में महावीर प्रभु अंतिम तीर्थंकर होंगे,** इस प्रकार पहले के तीर्थंकरों से निर्दिष्ट, धर्म की आदि करनेवाले और भविष्य में मोक्ष पानेवाले, अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर प्रभु को नमस्कार हो । देवानंदा की कुक्षि में रहे प्रभु को स्वर्ग में रहा मैं वंदन करता हूँ । वहाँ रहे प्रभु मेरी ओर नजर करें ।''

इस प्रकार कहकर इन्द्र महाराजा प्रभु को बारबार नमस्कार करते हैं । उसके बाद इन्द्र महाराजा ने अपना आसन ग्रहण किया और वे सोचने लगे, ``भूतकाल में कभी ऐसा हुआ नहीं है, भविष्यत् काल में कभी ऐसा होगा भी नहीं और वर्तमान काल में कभी होता नहीं है कि तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव शूद्र, अधम, अल्प परिवारवाले, निर्धन, कृपण, भिखारी कुल या याचक ऐसे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हों ।''

``तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव आदि तो आरक्षक के तौर पर रहे उग्रकुल में, पूज्य स्थान में रहे भोगकुल में, मित्रस्थान पर रहे राजन्यकुल में, अपनी वंश परंपरा रूप इक्ष्वाकुकुल में, अपनी प्रजा के रूप में स्थापित क्षत्रियकुल में, हरिवंश कुल में अथवा माता की पवित्र परंपरा रूप विशुद्ध जाति व पिता की पवित्र परंपरा रूप विशुद्ध कुल में ही भूतकाल में जन्मे हैं, भविष्य में जन्म लेंगे और वर्तमान में जन्म लेते हैं ।''

तो फिर प्रश्न होता है- कि भगवान ब्राह्मणकुल में क्यों उत्पन्न हुए ?

इसका जवाब है-भवितव्यता ! अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल बीतने पर भवितव्यता के योग से लोक में आश्चर्यभूत कुछ घटनाएँ बन जाती हैं । इस अवसर्पिणी काल में भी दस आश्चर्य हुए हैं ।

इस अवसर्पिणी काल में हुए (कुछ होनेवाले) दस आश्चर्य :

1) केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी भगवान महावीर पर उपसर्ग । 2) वीर प्रभु के गर्भ का परिवर्तन । 3) स्त्री रूप में मल्लिनाथ प्रभु का जन्म । 4) वीर प्रभु की निष्फल गई पहली देशना । 5) श्रीकृष्ण वासुदेव का धातकी खंड में अपर-कंका में गमन । 6) वीर प्रभु को वंदन करने के लिए सूर्य-चंद्र का मूल विमान के साथ आगमन । 7) हरिवंश कुल की उत्पत्ति और युगलिकों का नरकगमन । 8) चमरेन्द्र का उपद्रव । 9) उत्कृष्ट अवगाहना वाले 108 का एकसाथ मोक्षगमन । 10) असंयमी की पूजा ।

1) वीर प्रभु पर गोशाला का उपसर्ग : तारक तीर्थंकर परमात्मा को छद्मस्थ साधु-जीवन में किसी देवता, मनुष्य या तिर्यंच का उपद्रव-उपसर्ग हो सकता है, परंतु केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद उन पर किसी भी प्रकार का उपसर्ग-उपद्रव नहीं होता है, बल्कि उनके अस्तित्व या सान्निध्य को प्राप्त कर अन्य जीवों पर होनेवाले उपद्रव-उपसर्ग भी शांत हो जाते हैं । अन्य सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर परमात्मा की यही विशेषता है कि उनके अस्तित्व मात्र से ही दूसरों के उपसर्ग दूर हो जाते हैं, परंतु भगवान महावीर के जीवनकाल में यह आश्चर्यकारी घटना बनी है कि छद्मस्थ अवस्था में तो उन पर अनेक उपद्रव हुए ही...परंतु केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी उन पर एक उपसर्ग हुआ । वह घटना इस प्रकार बनी है-

◆ एक बार महावीर प्रभु अपने चरण-कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए श्रावस्तीनगरी में पधारे ।

उस समय गोशाला भी वहाँ था, वह अपने आपको लोगों में जिनेश्वर के रूप में प्रसिद्ध करने लगा । लोगों में इस प्रकार की बात फैलने लगी कि **'श्रावस्ती में दो जिनेश्वर हैं-भगवान महावीर और गोशाला ।'** लोगों के मन में रही इस शंका को दूर करने के लिए लोगों की उपस्थिति में गौतम स्वामी ने महावीर प्रभु को पूछा, ``अपने आपको जिनेश्वर के रूप में प्रख्यात करनेवाला यह दूसरा व्यक्ति कौन है ?''

महावीर प्रभु ने कहा, ``यह दूसरा व्यक्ति जिनेश्वर (तीर्थंकर) नहीं है । यह तो शरवण गाँव में रहने वाले मंखली और सुभद्रा का पुत्र है । एक ब्राह्मण की गौशाला में पैदा हुआ होने के कारण यह गोशाला के रूप में प्रसिद्ध हुआ । पहले यह मेरे ही शिष्य के रूप में अपना परिचय देता था, मुझसे ही इसने तेजोलेश्या की विधि सीखी थी । अष्टांग निमित्त के ज्ञान को प्राप्तकर वह अब अपने आपको जिनेश्वर के रूप में प्रख्यात कर रहा है ।''

महावीर प्रभु की कही हुई ये बातें लोगों में फैलने लगी । सत्य बात का ख्याल आने से लोगों का भ्रम दूर हो गया । जब यह बात गोशाला के कानों तक पहुँची तो उसका गुस्सा आसमान पर चढ़ गया । उस समय गोचरी के लिए आये हुए आनंद मुनि को गोशाला ने कहा, ``हे आनंद ! मैं तुझे एक दृष्टांत कहता हूँ, तू सुन ! कुछ व्यापारी धन कमाने के लिए बैलगाड़ी में किराणे की सामग्री लेकर एक जंगल में से जा रहे थे । उस जंगल में उन्हें खूब प्यास लगी । वे चारों ओर पानी की शोध करने लगे । उसी समय उन्हें चार बाँबी (शिखर) दिखाई दिये । पानी की आशा से उन्होंने एक शिखर को फोड़ा और उन्हें उस शिखर में से पानी मिल गया । उन्होंने अपनी प्यास बुझाई और मार्ग के लिए जलपात्र भी भर लिये ।

उस समय एक बूढ़े वणिक् ने कहा, ``मित्रो ! अपना काम हो गया है, अतः दूसरे शिखर को फोड़ने की जरूरत नहीं है ।'' वृद्ध के निषेध करने पर भी उन अन्य व्यापारियों ने दूसरे शिखर को फोड़ा । उस शिखर में से उन्हें बहुतसा सोना मिला । वे खुश हो गये मगर इसके साथ ही उनका लोभ और बढ़ गया ।

उस वृद्ध ने वापस उन्हें समझाया कि अब तीसरा शिखर फोड़ने की जरूरत नहीं है । वृद्ध की उस सलाह की अवगणना करके भी उन व्यापारियों ने तीसरा शिखर फोड़ा । उस शिखर में से रत्नों की प्राप्ति हुई ।

व्यापारियों का लोभ और बढ़ गया । अब उन्हें चौथा शिखर फोड़ने की इच्छा हुई । वृद्ध ने पुनः रोका, परंतु वे नहीं माने । चौथे शिखर में से दृष्टि-विष सर्प निकला, उस सर्प ने उन सबको खत्म कर दिया । हितशिक्षा देनेवाला वह वृद्ध न्यायी व संतोषी था, अतः वनदेवता ने उसे सुरक्षित रूप से योग्य-स्थान पर पहुँचा दिया ।''

यह दृष्टांत देकर गोशाला ने आनंद मुनि को कहा, **``इतनी विपुल समृद्धि मिलने पर भी तेरे धर्माचार्य को संतोष नहीं है । अभी भी असंतुष्ट होकर मुझे रोषायमान कर रहा है । मैं अपने तप-तेज से उन्हें जलाकर भस्मीभूत कर दूंगा । तू जाकर यह संदेश अपने धर्माचार्य को कह देना । अपने धर्म गुरु का हितोपदेशक होने से मैं तुम्हें जिंदा ही छोड़ दूंगा ।''** गोशाला की बात सुनकर आनंद मुनि एकदम भयभीत हो गए । वे तुरंत ही प्रभु के पास आए और उन्होंने यह सारा वृत्तांत प्रभु को कहा ।

वीर प्रभु ने कहा, ``यह गोशाला इधर आ रहा है, तुम जाकर गौतम आदि मुनियों को कह दो कि वे इधर-उधर हो जायें और उस गोशाला के साथ किसी प्रकार की चर्चा न करें ।''

आनंद मुनि ने जाकर गौतम आदि मुनियों को सारी बात बतला दी । सभी ने प्रभु की आज्ञा का पालन किया ।

थोड़ी ही देर में गोशाला वहाँ आ गया और प्रभु को कहने लगा, ``हे काश्यप ! तुम इस प्रकार झूठ क्यों बोल रहे हो कि यह गोशाला मंखली पुत्र है । तुम्हारा वह शिष्य तो मर गया है, मैं तो दूसरा व्यक्ति हूँ । परिषह को सहन करने में दृढ़ होने से मैंने उसके शरीर में प्रवेश किया है ।''

इस प्रकार अपमान-जनक शब्दों से प्रभु का तिरस्कार करते हुए देखकर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि बीच में आये और गोशाला का विरोध करने लगे । उसी समय गोशाला ने उन दोनों मुनियों पर तेजोलेश्या छोड़ी । जिससे वे दोनों मरण प्राप्त कर देवलोक में पैदा हुए ।

प्रभु का निषेध होने पर भी सर्वानुभूति व सुनक्षत्र मुनि गुरुभक्ति के कारण ही बीच में आये थे । गुरु-भक्ति का भाव होने के कारण उनकी दुर्गति नहीं हुई, बल्कि वे सद्‌गति को प्राप्त हुए ।

उसी समय प्रभु ने कहा, ``हे गोशाला ! तुम वही मंखलीपुत्र हो, व्यर्थ ही झूठ क्यों बोलते हो ? व्यर्थ ही अपने आपको छिपाने की कोशिश क्यों करते हो ? तुम अपने आपको छिपा नहीं सकोगे । कोई चोर कोतवाल की नजर में आने के बाद एक तिनके या अंगुली के पीछे अपने आपको छिपाने का प्रयास करे, तो क्या यह शक्य है ?'' भगवान के सत्यवचन सुनकर गोशाला अत्यंत कुपित हो गया । उसने प्रभु पर तेजो-लेश्या छोड़ दी । वह तेजोलेश्या प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर पुनः गोशाला के शरीर में घुस गई । गोशाला का शरीर जल गया । 7 दिन तक भयंकर पीड़ा को सहन करने के बाद उसकी मृत्यु हुई । उस तेजोलेश्या के ताप से प्रभु को भी छह मास तक खून की दस्तें लगीं । प्रभु का देह थोड़ा निस्तेज हो गया । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रभुवीर पर जो उपसर्ग हुआ, वह इस अवसर्पिणी काल का आश्चर्य माना गया ।

2. गर्भ-परिवर्तन : प्राणत देवलोक में से प्रभु का च्यवन देवानंदा की कुक्षि में हुआ था, परंतु इन्द्र की आज्ञा से हरिणेगमेषी देव ने उस गर्भ को त्रिशला की कुक्षि में निक्षिप्त किया । यह भी एक आश्चर्य बना ।

3. स्त्री तीर्थंकर : तीर्थंकर हमेशा पुरुष के रूप में ही पैदा होते हैं, परंतु पूर्व भव में की गई माया के प्रभाव से मिथिला राजा के कुंभ राजा की पुत्री-मल्लिकुमारी स्त्री के रूप में 19 वाँ तीर्थंकर बनी ।

4. अभावित-पर्षदा : तारक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के दिन ही धर्मदेशना देकर भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं । भगवान महावीर प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद समवसरण में बैठकर धर्मदेशना दी परंतु किसी भी मनुष्य को सर्वविरति का परिणाम पैदा नहीं हुआ । प्रभु की प्रथम देशना निष्फल गई । प्रभु ने दूसरे दिन शासन की स्थापना की । यह भी एक आश्चर्य गिना गया ।

5. कृष्ण का अपरकंका-गमन : एक बार नारदजी पांडवों से मिलने के लिए आये । उस समय दृढ़ समकिती द्रौपदी ने नारदजी को असंयत के वेश में देखकर **'खड़े हो जाना, सामने जाना'** इत्यादि किसी भी प्रकार से उनका सम्मान नहीं किया । द्रौपदी के इस अपमान से नारदजी नाराज हो गये और उन्होंने द्रौपदी को हैरान करने का विचार किया । नारदजी ने सोचा, **'धातकी खंड के भरतक्षेत्र में अपरकंका नगरी का राजा स्त्रियों में अत्यंत ही लुब्ध है, उसके पास जाकर द्रौपदी के रूप का वर्णन करूँ, जिससे वह द्रौपदी का अपहरण कर लेगा ।'** इस प्रकार सोचकर नारदजी ने पद्मोत्तर राजा के आगे द्रौपदी के रूप का वर्णन किया । बस, मित्र-देव की सहायता से उसने द्रौपदी का अपहरण करा दिया और उसे अपने अंत:पुर में रख लिया ।

छट्ठ के पारणे छट्ठ और पारणे में आयंबिल का उग्र तप और जप करके द्रौपदी ने अपने शील का रक्षण किया ।

द्रौपदी का अपहरण हो जाने से पांडवमाता कुंती को अत्यंत ही आघात लगा । उसने श्रीकृष्ण से बात की । श्रीकृष्ण ने द्रौपदी की शोध चालू की । कुछ समय बाद नारदजी के द्वारा ही पता चला कि द्रौपदी अपरकंका में है ।

श्रीकृष्ण पांडवों के साथ अपरकंका जाने के लिए तैयार हो गए । उन्होंने लवणसमुद्र के अधिष्ठायक **सुस्थित** देव की आराधना की । देव की मदद से श्रीकृष्ण दो लाख योजन के लवणसमुद्र को पारकर अपरकंका पहुँच गए । श्रीकृष्ण ने पद्मोत्तर राजा को जीतने के लिए पहले पांडवों को भेजा, परंतु पांडवों की हार हो गयी । उसके बाद श्रीकृष्ण स्वयं नरसिंह का रूप कर वहाँ गये और अपने पराक्रम के बल से उन्होंने पद्मोत्तर राजा को जीवित ही पकड़ लिया । श्रीकृष्ण ने पद्मोत्तर राजा के मस्तक को उड़ाने के लिए तलवार उठाई । पद्मोत्तर राजा ने अपने प्राणों की भिक्षा माँगी ।

श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को कहा, 'इसका मस्तक उड़ा दूँ ?' क्षमा-भाव को धारण करनेवाली द्रौपदी ने कहा, ``आप इसे माफ कर दें । पर-स्त्री के अपहरण और पराजय के कारण इसका यश समाप्त हो चुका है, यह जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान है । मरे हुए को मारने से क्या फायदा है ? आप इसे मुक्त कर दें ।''

द्रौपदी की बात सुनकर श्रीकृष्ण ने पद्मोत्तर राजा को जीवित ही छोड़ दिया ।

द्रौपदी को लेकर जब श्रीकृष्ण लवण समुद्र के तट पर आए तब उन्होंने जोर से पाँचजन्य शंख फूँका ।

उस शंख की ध्वनि सुनकर वहाँ के कपिल वासुदेव ने वहाँ रहे मुनिसुव्रत भगवान को पूछा, `यह शंख किसने फूँका है ?'

प्रभु ने कहा, ``जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र से कृष्ण वासुदेव यहाँ आए हैं और उन्होंने यह शंख फूँका है ।'' कृष्ण से मिलने की उत्सुकता से कपिल वासुदेव लवण समुद्र के तट पर आए और उन्होंने भी अपना शंख फूँका ।

श्रीकृष्ण लवण समुद्र के मार्ग में खूब आगे बढ़ चुके थे अतः उन दोनों का मिलन तो नहीं हो पाया, परंतु उन दोनों वासुदेवों की शंखध्वनि एक दूसरे को अवश्य सुनाई दी ।

तिरेसठ (63) शलाका पुरुष अपने क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाते नहीं हैं, परंतु श्रीकृष्ण धातकीखंड में गए-यह एक आश्चर्य गिना गया ।

6. सूर्य-चंद्र का अवतरण : भगवान महावीर प्रभु जब कोशांबी नगरी में बिराजमान थे, तब सूर्य और चंद्र, अपने मूल विमान में प्रभु को वंदन करने के लिए आए थे, यह भी एक आश्चर्य गिना जाता है ।

7. हरिवंश कुल की उत्पत्ति : कोशांबी के राजा ने वीरक सालवी की अत्यंत रूपवती पत्नी वनमाला का अपहरण कराकर उसे अपने अंतःपुर में रख लिया । पत्नी के वियोग में वीरक पागल हो गया और नगर में जिस स्त्री को भी देखता उसे **'वनमाला ! वनमाला !'** कहकर पुकारने लगा । कौतुक और कुतूहलप्रिय बालकों से घिरा हुआ वह वीरक, राजा के महल के पास आया और **'वनमाला ! वनमाला !'** पुकारने लगा ।

उस समय झरोखे में बैठे राजा-रानी ने यह दृश्य देखा । वीरक की दुर्दशा देखकर उन्हें दया आ

गई...उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई। वे अपनी भूल का तीव्र पश्चाताप करने लगे। उसी समय उनके ऊपर आकाश में से बिजली गिर पड़ी। पाप के पश्चाताप के भाव के कारण वे दोनों मरकर हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिक के रूप में पैदा हुए। वीरक को ज्योंही राजा-रानी की अकाल मृत्यु के समाचार मिले, वह खुश हो गया और बोला, ``अच्छा हुआ, उन पापियों को अपने पाप की सजा मिल गई।''

वीरक को इस संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो गया। वह तापस बन गया। तप के फलस्वरूप वह मरकर सौधर्म कल्प में किल्बिषिक जाति का देव बना। उस देव ने अपने विभंग ज्ञान से देखा, `ये मेरे दुश्मन युगलिक का सुख भोग रहे हैं और मरकर वापस देव बनेंगे तो क्यों न उन्हें दुर्गति में धकेल दूँ।' इस प्रकार विचारकर वह अपनी शक्ति से उन दोनों के देह, आयुष्य का संक्षेप कर उन्हें भरत क्षेत्र में ले आया और उन्हें राज्य प्रदान कर सात व्यसनों में लुब्ध बना दिया।

व्यसनों में अत्यंत डूबे होने के कारण वे दोनों मरकर नरक में चले गए। उनसे जो वंश चला, वह हरिवंश कहलाया। इस प्रकार युगलिकों के देह व आयुष्य का संक्षेप करना और उनका नरक में जाना, आश्चर्य कहलाता है।

8. चमरेन्द्र का उत्पाद : एक पूर्ण नाम का ऋषि तप करके असुरकुमार देवों का इन्द्र चमरेन्द्र बना। अपने जन्म के बाद उसने अपने मस्तक पर रहे सौधर्म इन्द्र को देखा, यद्यपि उन दोनों के बीच में असंख्य योजन का अंतर था, फिर भी उसे अपना अपमान समझकर वह गुस्से में आ गया। आपत्ति से बचने के लिए भगवान महावीर की शरण स्वीकार कर भयंकर रूप करके हाथ में वज्र लेकर ऊर्ध्वलोक में रहे प्रथम सौधर्म देवलोक में पहुँच गया। सौधर्म इन्द्र के अंगरक्षकों को त्रस्त करता हुआ, सौधर्म विमान की वेदिका पर पैर

रखकर शक्र का तिरस्कार करने लगा । उसी समय सौधर्मइन्द्र को भी गुस्सा आ गया और उसने जाज्वल्यमान वज्र छोड़ा । भयभीत बना चमरेन्द्र मस्तक को नीचे व पाँव ऊपर कर तेजी से भागा और वीरप्रभु के चरणों में घुस गया । शक्र ने भी अपने अवधिज्ञान से चमरेन्द्र की यह स्थिति देख, वीर प्रभु की आशातना से बचने के लिए चार अंगुल दूर रहे वज्र को पकड़ लिया ।

शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को कहा, **''तुमने प्रभु की शरण स्वीकार की है, इसलिए प्रभु के अनुग्रह के कारण मैं तुझे मुक्त करता हूँ ।''** इतना कहकर चमरेन्द्र को क्षमा कर दिया । इस प्रकार चमरेन्द्र का ऊर्ध्वगमन आश्चर्य माना गया ।

9. 108 सिद्ध : ऋषभदेव प्रभु, ऋषभदेव के भरत को छोड़ 99 पुत्र तथा भरत के 8 पुत्र इस प्रकार उत्कृष्ट अवगाहनावाले 108 एक ही समय में सिद्ध हुए, यह एक आश्चर्य गिना गया ।

10. असंयत पूजा : संसार में हमेशा संयमधारियों का ही आदर-सत्कार होता है, परंतु इस अवसर्पिणी काल के नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ का शासन, दसवें शीतलनाथ प्रभु के शासन की स्थापना के पूर्व ही विच्छेद हो गया और उस काल दरम्यान संयत साधु नहीं रहने से असंयत ब्राह्मणों की भी पूजा प्रारंभ हो गई थी । यह भी एक आश्चर्य ही था ।

अनंतकाल बीतने के बाद इस अवसर्पिणी में ये दस आश्चर्य हुए हैं । काल की तुल्यता के कारण अन्य चार भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भी 10-10 आश्चर्य हुए ।

तीर्थंकर व आश्चर्य : उत्कृष्ट अवगाहना वाले 108 का मोक्षगमन **ऋषभदेव** प्रभु के शासन में हुआ । हरिवंश की उत्पत्ति **शीतलनाथ** के शासन में । कृष्ण का अपरकंका में गमन-**नेमिनाथ** के शासन में

। स्त्री तीर्थंकर का अवतरण **मल्लिनाथ** के शासन में । असंयत की पूजा **सुविधिनाथ** के शासन में तथा शेष पाँच आश्चर्य **महावीरप्रभु** के जीवन काल दरम्यान हुए हैं ।

इस प्रकार भवितव्यता के कारण अनंतकाल में हुए 10 आश्चर्यों में एक आश्चर्य गर्भ-परिवर्तन का है ।

भगवान देवानंदा की कुक्षि में पैदा हुए हैं । परंतु यह भवितव्यता भगवान महावीर के जीवन के साथ क्यों घटी ? इसका समाधान है- **'पूर्व में बँधे हुए नीच गोत्र कर्म का अभी तक संपूर्ण क्षय नहीं हुआ है ।'** इस कारण उस कर्म का उदय होने से भगवान महावीर की आत्मा ब्राह्मणी की कुक्षि में पैदा हुई है । स्थूल 27 भवों की अपेक्षा प्रभु ने यह नीच गोत्र कर्म तीसरे भव में बाँधा था ।

भगवान महावीर के 27 भव

1. सम्यक्त्व प्राप्ति (भव 1-2)

जंबुद्वीप ! पश्चिम महाविदेह !! महावप्र विजय !!! जयंति नगरी ! शत्रुमर्दन राजा !

उस राजा के पृथ्वीप्रतिष्ठानपुर नगर में अत्यंत स्वामिभक्त **नयसार** नाम का ग्रामचिंतक रहता था । वह अत्यंत ही सरल व भद्रिक प्रकृति का था । एक बार राजा ने नयसार को जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाने का आदेश दिया । राजा का आदेश मिलते ही नयसार अन्य नौकरों के साथ भोजन की सामग्री लेकर जंगल में पहुँच गया । नयसार की आज्ञानुसार नौकर लोग वृक्षों की कटाई करने लगे ।

इस प्रकार कटाई करते-करते दोपहर का समय हो गया । मध्याह्न में एक ओर सूर्य तेजी से तपने लगा तो दूसरी ओर सुबह से श्रम करने के कारण सभी को तीव्र भूख भी लगी । नयसार की आज्ञा से सारी रसोई वृक्ष के नीचे लाई गई । वहीं पर सभी इकट्ठे हो गए ।

भोजन के पूर्व नयसार के दिल में एक विचार आया- `इस समय कोई अतिथि, साधु-संन्यासी मिल जाय तो उन्हें भोजन कराकर, फिर मैं भोजन करूँ ।'

वह चारों ओर अतिथि अर्थात् साधु महात्मा की खोज करने लगा । उसने दूर-सुदूर तक अपनी नजर दौड़ाई । पहले तो उसे उस भीषण जंगल में एक भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया...परन्तु कुछ देर तक निरीक्षण करने पर उसे दूर से आते हुए कुछ साधु दिखाई दिए ।

धीरे-धीरे वे साधु भगवंत नजदीक आए । वे अत्यंत ही भूखे-प्यासे और थके हुए थे । भयंकर गर्मी के कारण वे पसीने से लथपथ हो चुके थे । वे चारों ओर सार्थ की शोध कर रहे थे, परन्तु कहीं भी उन्हें सार्थ नजर नहीं आ रहा था । महात्माओं को देखते ही नयसार प्रसन्न हो गया और सोचने लगा, **'अहो ! अच्छा हुआ ! इस भयंकर जंगल में साधुओं के दर्शन हो गए ।'** महात्माओं के निकट आने पर नयसार ने उन्हें प्रणाम किया और उसके बाद बोला, **``प्रभो ! इस भयंकर जंगल में शस्त्रधारी व्यक्ति भी अकेला नहीं जा सकता है, तो फिर आप तो शस्त्ररहित हो, इस बियाबान जंगल में आप कैसे आ गए ?''**

महात्माओं ने कहा, ``हमने एक सार्थ के साथ प्रयाण किया था...बीच मार्ग में किसी गाँव में हम भिक्षा के लिए गए, परन्तु उसी समय वह सार्थ आगे के लिए रवाना हो गया । हम भी सार्थ के पीछे-पीछे चले, परन्तु वह सार्थ तो हमें मिला नहीं । हम मार्ग भूल गए और इस प्रकार आगे बढ़ते हुए इस भयंकर जंगल में आ गए ।''

महात्माओं की यह बात सुनकर नयसार ने कहा, **``अहो ! वह सार्थ बड़ा निर्दय लगता है । पाप का भी उसे भय नहीं लगा ! अहो ! वह कितना विश्वासघाती निकला ! सार्थ के साथ चलने वाले और**

सार्थ के भरोसे रहे साधुओं की उसने प्रतीक्षा भी नहीं की ?'' इतना कहकर नयसार बोला, ``मेरे पुण्य से इस भयंकर जंगल में भी आपके दर्शन हो गए ।''

उसके बाद नयसार ने महात्माओं को भिक्षा लेने के लिए विनंति की । वह उन महात्माओं को उस वृक्ष के नीचे ले गया, जहाँ भोजन की सामग्री तैयार थी । अपने लिए बनाए गए प्रासुक भोजन में से नयसार ने उन महात्माओं की भक्ति की । गोचरी बहोरकर एकांत में जाकर उन्होंने गोचरी की । नयसार ने भी श्रमित महात्माओं की भक्ति कर महान् पुण्य अर्जित किया ।

गोचरी वापरने के बाद महात्माओं ने कुछ समय के लिए विश्राम किया । इधर नयसार ने भी भोजन किया । नयसार ने महात्माओं को कहा, ``प्रभो ! आप मेरे साथ चलिए-मैं आपको नगर का मार्ग दिखला देता हूँ ।'' वे महात्मा नयसार के साथ रवाना हुए । कुछ दूरी तक जाने के बाद नगर का मुख्य मार्ग आ गया । विदाई के पूर्व नयसार ने हाथ जोड़कर कहा, `प्रभो ! मेरे योग्य हितशिक्षा ?''

नयसार की योग्यता देखकर वृक्ष के नीचे बैठकर गीतार्थ गुरु भगवंत ने नयसार को जिन-धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाया । संसार की भयंकरता और मोक्ष की भद्रंकरता के विशद स्वरूप का वर्णन किया । जिसे सुनते-सुनते नयसार का हृदय द्रवित हो उठा ! **सद्गुरु के मुख से जिनवाणी-श्रवण के बाद नयसार को बाहर से सुहावना संसार अत्यंत ही डरावना प्रतीत होने लगा । उसके अन्तर्मन में संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हुआ । कर्म की लघुता व भवस्थिति के परिपाकस्वरूप नयसार की आत्मा ने निर्मल सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त किया ।**

तत्पश्चात् उन महात्माओं ने नगर की ओर विहार प्रारंभ किया ।

नयसार अर्थात् भगवान महावीर की आत्मा ! भगवान महावीर प्रभु ने नयसार के भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया । यह उनका **पहला भव** कहलाया ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद नयसार ने जीवादि तत्त्वों का अध्ययन किया । वह उन्हीं तत्त्वों की अनुप्रेक्षा करने लगा । आयुष्य की पूर्णाहुति के समय नमस्कार महामंत्र के ध्यान से उसने समाधिमृत्यु प्राप्त की और वह दूसरे भव में सौधर्म देवलोक में एक पल्योपम की स्थिति वाला देव बना ।

कुल-अभिमान (भव 3-4)

भरत क्षेत्र ! वर्तमान अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा ! आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभु !

ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र भरत छह खंड पृथ्वी का अधिपति चक्रवर्ती बना । एक शुभ दिन नयसार की आत्मा सौधर्म देवलोक में से च्यवकर भरत महाराजा के पुत्र के रूप में पैदा हुई ।

बालक का नामकरण किया गया-**मरीचि !**

मरीचि धीरे-धीरे बड़ा हुआ...उसने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । इधर एक हजार वर्ष की साधना के फलस्वरूप ऋषभदेव परमात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । प्रभु के केवलज्ञान की महिमा करने के लिए करोड़ों देवता धरती पर उपस्थित हुए । इन्द्र आदि देवताओं ने मिलकर प्रभु के केवलज्ञान का महोत्सव किया । देवताओं ने रत्न, सुवर्ण व रजतमय तीन गढ़ से सुशोभित समवसरण की रचना की । भरत चक्री को ज्योंही इस बात के समाचार मिले, वह भी अपने विशाल परिवार के साथ समवसरण में उपस्थित हो गया । उस समय मरीचि भी प्रभु की देशना सुनने के लिए आया । इन्द्र और देवताओं के द्वारा प्रभु की भक्ति देखकर एवं वैराग्यरसमय धर्मदेशना के श्रवण से मरीचि के मन में सर्वविरति चारित्र

धर्म अंगीकार करने की भावना हुई । मरीचि ने अपनी भावना व्यक्त की और उसी समय उसने प्रभु के पास चारित्र-धर्म स्वीकार किया ।

चारित्र धर्म अंगीकार करने के बाद मरीचि रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन हो गए । स्थविर महामुनियों के पास उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया । मरीचि मुनि ऋषभदेव प्रभु के साथ विहार करने लगे । चारित्र धर्म का पालन करते हुए कई वर्ष बीत गए । परन्तु एक दिन मोहनीय कर्म उदय में आया और उनकी विचारधारा बदलने लगी । भयंकर गर्मी के दिनों में वे पृथ्वीतल पर विहार कर रहे थे । ऊपर सूर्य तप रहा था और नीचे धरती तपी हुई थी । उनका शरीर पसीने से लथपथ हो गया था । गर्मी के कारण उन्हें अत्यंत ही प्यास लगी । इस प्रकार भयंकर गर्मी के ताप व तृषा से आकुल-व्याकुल बने हुए वे सोचने लगे-**'अब मैं मेरुसमान महाव्रत के भार को वहन करने में समर्थ नहीं हूँ । मैं तो निर्गुणी हूँ...और संसारसुख का इच्छुक हूँ...परन्तु ग्रहण किये हुए साधु-वेष को छोड़ते हुए मुझे शर्म आती है और ग्रहण किये व्रतों का विशुद्ध पालन करने में भी समर्थ नहीं हूँ, अतः अब क्या करूँ ?'** ...इस प्रकार सोचते हुए मरीचि मुनि ने अपनी कल्पनानुसार मनमानी आचारसंहिता तय कर ली ।

उसने सोचा, `ये श्रमण तो तीन दंड से रहित हैं, जबकि मैं तो तीनों दंड (मनदंड, वचनदंड और कायदंड) से युक्त हूँ, अतः **'त्रिदंडी'** मेरा निशान रहेगा । मैं केशलोच करने में असमर्थ हूँ, अतः मैं उस्तरे से मस्तक का मुंडन कराऊंगा, और इसके प्रतीक के रूप में मस्तक पर चोटी धारण करूंगा । ये श्रमण मोह से रहित हैं, जबकि मैं तो मोह से आच्छादित हूँ, अतः सिर पर छत्र धारण करूंगा । अपने पैरों के रक्षण के लिए पाद-त्राण (पावड़ी) धारण करूंगा । मैं कषायों से युक्त हूँ अतः काषायी रंग के वस्त्र धारण

करूंगा ।' **इस प्रकार अपनी मनः कल्पनानुसार वेष का निर्णय कर मरीचि ने परिव्राजक का वेष स्वीकार किया ।**

मरीचि के इस विचित्र वेष को देखकर जब लोग उन्हें धर्म का स्वरूप पूछते तो वे जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का स्वरूप समझाते । मरीचि के मुख से त्यागमय धर्म के स्वरूप को सुनकर लोग उनसे प्रश्न करते-**'आप जिनधर्म का उपदेश देते हो, तो फिर आप स्वयं उसका पालन क्यों नहीं करते ?'**

इस प्रश्न को सुनकर सरलहृदय मरीचि कहता, 'मैं इन महाव्रतों का पालन करने में समर्थ नहीं हूँ, परन्तु जिन्हें आत्मकल्याण करना हो, उनके लिए तो यही सच्चा मार्ग है ।'

मरीचि के उपदेश को सुनकर जो भव्य जीव प्रतिबोध पाते, उन सबको मरीचि कहता, 'आपको कल्याण करना है तो आप ऋषभदेव प्रभु के पास जाओ, वही सच्चा मार्ग है और उसी की आराधना से आपका कल्याण होगा ।' इस प्रकार परिव्राजक वेष में रहते हुए कई वर्ष बीत गए ।

एक बार ऋषभदेव प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए विनीतानगरी में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । ऋषभदेव प्रभु के आगमन को सुनकर भरत महाराजा अपने विशाल परिवार के साथ प्रभु को वंदन के लिए आया । भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिए प्रभु ने वैराग्यमय धर्मदेशना प्रदान की ।

भरत ने पूछा, 'क्या इस पर्षदा में इसी भरतक्षेत्र में आपकी तरह कोई तीर्थंकर होने वाला है ?'

उस समय ऋषभदेव प्रभु ने कहा, 'तुम्हारा पुत्र **मरीचि** इसी भरतक्षेत्र में महावीर नाम का अंतिम तीर्थंकर होगा । यह मरीचि इसी भरतक्षेत्र में पोतनपुर नगर में **त्रिपृष्ठ** नाम का पहला वासुदेव होगा तथा महाविदेहक्षेत्र में मूका नगरी में **प्रियमित्र** नाम का चक्रवर्ती भी होगा ।'

इस बात को सुनकर प्रभु की अनुज्ञा लेकर भरत मरीचि के पास गए। मरीचि को तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन करके बोले, ``ऋषभदेव प्रभु ने कहा है कि आप भरतक्षेत्र में भविष्य में तीर्थंकर बनोगे, **पोतनपुर** में पहले वासुदेव बनोगे तथा महाविदेह क्षेत्र में मूका नगरी में **प्रियमित्र** चक्रवर्ती भी बनोगे।

``मैं आपके इस परिव्राजक वेष को वंदन नहीं करता हूँ, परन्तु भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हो, इसलिए वंदन करता हूँ।''** मरीचि को इस बात का निवेदन कर भरत चक्री विनीतानगरी में चले गए। भरत के मुख से इस बात को सुनकर मरीचि गर्व से बोला, **``अहो !मैं पहला वासुदेव बनूंगा। मूका नगरी में चक्रवर्ती बनूंगा और भविष्य में अंतिम तीर्थंकर भी बनूंगा, अब मुझे और क्या चाहिए ?

``अहो ! मेरा कुल कितना उत्तम है-मैं वासुदेवों में सबसे पहला वासुदेव, मेरे पिता चक्रवर्तियों में सबसे पहले चक्रवर्ती और मेरे दादा तीर्थंकरों में सबसे पहले तीर्थंकर।''

इस अभिमान के कारण उन्होंने नीच गोत्र कर्म का बंध किया।

84 लाख पूर्व का दीर्घ आयुष्य पूर्ण कर ऋषभदेव प्रभु अष्टापद से मोक्ष गए। प्रभु के निर्वाण के बाद मरीचि, प्रभु के अन्य साधुओं के साथ विहार करता था। ऋषभदेव प्रभु के साधुओं के साथ विहार करता हुआ मरीचि एक बार बीमार पड़ा। उसे असंयमी जानकर अन्य किसी मुनि ने उसकी सेवा-शुश्रूषा नहीं की। इससे रोषायमान होकर मरीचि सोचने लगा, `अहो ! इन साधुओं को धिक्कार हो। ये तो दाक्षिण्य और दया गुण से भी रहित हैं। इतने वर्षों से परिचित और एक ही गुरु से दीक्षित होने पर भी मेरी सेवा नहीं करते हैं, अतः जब मैं व्याधि से मुक्त हो जाऊंगा तो मेरे वेष के अनुरूप ही सेवा करने वाला शिष्य बना दूंगा।'

कुछ समय बाद मरीचि स्वस्थ हो गया।

एक बार कपिल नाम का कुलपुत्र मरीचि के पास आया । मरीचि ने उसे जैनधर्म का उपदेश दिया । कपिल ने पूछा, `तो फिर आप उस धर्म का पालन क्यों नहीं करते हो ?' मरीचि ने कहा, `मैं उसका पालन करने में समर्थ नहीं हूँ ।' कपिल ने कहा, `क्या आपके मार्ग में धर्म नहीं है ?'

कपिल के इस प्रश्न को सुनकर आचरण-शिथिल और शिष्य बनाने का इच्छुक मरीचि बोला, **`कपिल ! जैनमार्ग में भी धर्म है और यहाँ भी धर्म है ।' बस, इस प्रकार के मिथ्या उपदेश के कारण मरीचि सम्यक्त्व से भ्रष्ट बना और उसने एक कोटाकोटि सागरोपम का संसार बढ़ा लिया ।'**

अपने उत्सूत्र भाषण के पाप की आलोचना किये बिना ही मरीचि चौथे भव में ब्रह्म देवलोक में दश सागरोपम की स्थितिवाला देव बना ।

पाँचवाँ भव : देवलोक में अपने आयुष्य को पूर्ण कर मरीचि का जीव कोल्लाक संनिवेश में 80 लाख पूर्व की स्थितिवाला **कौशिक** नाम का ब्राह्मण बना । वह विषयों में अत्यंत आसक्त और धन के पीछे पागल था । हिंसादि पाप प्रवृत्तियों में दीर्घकाल पूर्ण कर अंत में त्रिदंडी बना और **वहाँ से मरकर उसने बहुत से भवों में परिभ्रमण किया ।**

छठा-सातवाँ भव छठे भव में स्थूण नाम के संनिवेश में **पुष्यमित्र** नाम का ब्राह्मण बना । अंत में त्रिदंडी बनकर 72 लाख पूर्व के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर **सातवें भव** में **सौधर्म देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना ।

आठवाँ-नौवाँ भव : देवलोक से च्यवकर चैत्य संनिवेश में **अग्निउद्योत** नाम का ब्राह्मण बना । अंत में वह त्रिदंडी बनकर 64 लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर नौवें भव में **ईशान देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना ।

दसवा-ग्यारहवाँ भव : देवलोक में से च्यवकर वह मंदिर संनिवेश में **अग्निभूति** नामक ब्राह्मण बना । अंत में त्रिदंडी बनकर 56 लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर तीसरे **सनत्कुमार देवलोक** में मध्यम आयुष्य की स्थितिवाला देव बना ।

बारहवाँ-तेरहवाँ भव : देवलोक से च्यवकर श्वेतांबी नगरी में **भारद्वाज** नाम का ब्राह्मण बना । वहाँ भी अंत में त्रिदंडी बनकर 44 लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर **माहेन्द्र (चौथे) देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना । **वहाँ से च्यवकर संसार में खूब भटका ।**

14 वाँ और 15 वाँ भव : फिर 14 वें भव में राजगृही नगरी में स्थावर नाम का ब्राह्मण बना । वहाँ भी अंत में त्रिदंडी बनकर 34 लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर 15 वें भव में **पाँचवें ब्रह्मदेवलोक** में देव बना ।

ब्रह्म देवलोक से च्यवकर मरीचि का जीव अनेक भवों तक इस संसार में भटका ।

खतरनाक निदान (भव 16-17)

राजगृही नगरी में विश्वनंदी नाम का राजा था । उस राजा की **प्रियंगु** नाम की महारानी की कुक्षि से **विशाखानंदी** नाम के पुत्र का जन्म हुआ । **विश्वनंदी** महाराजा का छोटा भाई युवराज **विशाखाभूति** था, उसकी पत्नी का नाम **धारिणी** था । मरीचि का जीव युवराज विशाखाभूति की पत्नी धारिणी की कुक्षि में पुत्र के रूप में पैदा हुआ । बालक का नाम **'विश्वभूति'** रखा गया ।

धीरे-धीरे विश्वभूति बड़ा हुआ । शस्त्र और शास्त्र कलाओं में निपुण बना । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद किसी नवयौवना रूपवती राजकन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ । एक दिन विश्वभूति अपनी

पत्नी के साथ **पुष्पकरंडक** नाम के उद्यान में क्रीड़ा कर रहा था । इधर **विशाखानंदी** के दिल में भी उस उद्यान में क्रीड़ा करने की इच्छा हुई...परन्तु उस उद्यान में पहले से ही विश्वभूति होने से विशाखानंदी उद्यान में प्रवेश नहीं कर सका ।

अपने पुत्र विशाखानंदी की महेच्छा पूर्ण करने के लिए राजा ने सोचा, `विश्वभूति युद्ध-प्रिय है, अतः यदि युद्ध की भेरी बजाई जाय तो उस भेरी को सुनकर विश्वभूति उद्यान में से बाहर निकल सकता है और उसके बाहर निकलने के बाद विशाखानंदी आसानी से उद्यान में प्रवेश कर सकेगा ।' इस प्रकार विचार कर विश्वनंदी ने युद्ध की भेरी बजवा दी । राजसभा में भी घोषणा कर दी कि `पुरुषसिंह नाम का सामंत उद्दंड हो गया है, अतः उसे जीतने के लिए मैं प्रयाण करता हूँ । '

इधर उद्यान में रहे विश्वभूति के कानों में जैसे ही युद्ध की भेरी के शब्द पड़े, तुरंत ही वह युद्ध के लिए सज्ज हो गया । उद्यान छोड़कर युद्ध में जाने के लिए तैयार हो गया । युद्ध के लिए प्रयाण कर रहे राजा को भक्तिपूर्वक रोककर वह स्वयं जाने लगा । परन्तु यह क्या ? पुरुषसिंह तो राजा की आज्ञा के अधीन ही था, अतः विश्वभूति तुरंत ही लौट गया और सीधा ही पुष्पकरंडक उद्यान की ओर जाने लगा । जैसे ही वह उद्यान में प्रवेश करने लगा, द्वारपाल ने उसे रोक दिया और कहा, ``अभी विशाखानंदी भीतर हैं, अतः आप अंदर न जायें ।'' विश्वभूति को यह सारा नाटक समझते देर नहीं लगी । वह सब समझ गया कि मुझे उद्यान में से बाहर निकालने का ही यह षड़्यंत्र था ।

उसी समय उसने द्वारपाल के सामने ही कपित्थ के वृक्ष पर जोर से अपनी मुट्ठी का प्रहार किया, उस मुट्ठी के प्रहार से वृक्ष पर रहे सारे फल भूमि पर गिर पड़े । गिरे हुए उन फलों को बताते हुए विश्वभूति ने कहा,

'माया-कपट कर भोग-सुखों को पाने की मेरी कोई इच्छा नहीं है ।' इस प्रकार विचार कर विश्वभूति वहाँ से निकल गया और उसने संभूति मुनि के पास जाकर भागवती दीक्षा ले ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद विश्वभूति ने कठोर साधना की । मासक्षमण आदि उग्र तप द्वारा उन्होंने अपनी काया को कृश बना दिया । तप धर्म की उत्कट साधना के साथ-साथ वे सम्यग्ज्ञान की साधना में भी प्रयत्नशील बने, इसके फलस्वरूप वे ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने । अपने गुरुदेव की अनुज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे । एकांत व निर्जन स्थल में एकाकी प्रतिमा धारण करने लगे । इस प्रकार पृथ्वीतल को पावन करते हुए वे मथुरा पधारे ।

मथुरा के महाराजा की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने के लिए विशाखानंदी भी रथ में बैठकर मथुरा आया हुआ था । उसी समय विश्वभूति ने मासक्षमण के पारणे के लिए नगर में प्रवेश किया । दीर्घ तप के कारण विश्वभूति मुनि की काया एकदम कृश बनी हुई थी । वे मंद गति से ईर्यासमिति के पालन पूर्वक धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे । अचानक सामने से भड़कती हुई एक गाय आयी और विश्वभूति मुनि से टकरा गई । गाय का धक्का लगने के साथ ही विश्वभूति मुनि भूमि पर गिर पड़े । विश्वभूति जैसे ही भूमि पर गिरे, उसी समय विशाखानंदी के साथियों ने विशाखानंदी को यह दृश्य बतलाया । इस दृश्य को देखते ही विशाखानंदी ने अट्टहास किया और विश्वभूति को संबोधित करते हुए वह बोला, **''ओ मुनि ! कहाँ गया वह तुम्हारा बल ? एक ही मुट्ठी के प्रहार से कपित्थ के वृक्ष पर से सभी फलों को भूमि पर नीचे गिरा देने का तुम्हारा पराक्रम कहाँ चला गया ?''**

विशाखानंदी के मुख से इन कटु शब्दों को सुनकर विश्वभूति का गुस्सा आसमान पर चढ़ गया ।

उसने सोचा, **'दुनिया में शक्ति की ही पूजा है । शक्तिशाली को सभी झुकते हैं और कमजोर पर सभी हावी होते हैं ।'** इस प्रकार विचार कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए विश्वभूति मुनि खड़े हुए और उन्होंने अपने दोनों हाथों से गाय के दोनों सींग पकड़े और उस गाय को घुमाकर आकाश में उछाल दिया । पुनः गिरती हुई गाय को अपने दोनों हाथों में ले लिया ।'

दुबली-पतली काया वाले विश्वभूति मुनि के इस पराक्रम को देखकर विशाखानंदी एकदम घबरा गया ।

'इतनी दुबली-पतली काया के द्वारा जो इस बलवान गाय को भी इस प्रकार आकाश में उछाल सकता है तो वह मेरी क्या हालत कर देगा ?' इस भय से विशाखानंदी तुरंत ही वहाँ से भाग गया ।

विशाखानंदी को भागते देखकर विश्वभूति ने सोचा, 'हा ! यह दुनिया शक्ति की ही पुजारिन है, जो शक्तिशाली है, उसके आगे सारी दुनिया झुकती है और कमजोर पर सभी सवार होते हैं' इस प्रकार विचार कर विश्वभूति मुनि ने नियाणा (निदान) करते हुए संकल्प किया **'आज तक मैंने जो उग्र तप किया है, उस तप के फलस्वरूप मैं आगामी भव में महापराक्रमी बनूँ और भवान्तर में इसकी (विशाखानंदी) हत्या करने वाला बनूँ ।'**

अपने किये हुए निदान के अपराध की आलोचना किये बिना विश्वभूति मुनि कालधर्म को प्राप्त हुए । और 17 वें भव में वे सातवें महाशुक्र विमान में उत्कृष्ट आयुष्यवाले देव बने ।

त्रिपृष्ट वासुदेव (भव-18-19-20-21-22)

भरतक्षेत्र ! पोतनपुर नगर !! प्रजापति राजा !!! महाशुक्रविमान में अपने आयुष्य को पूर्ण कर एक दिन विश्वभूति की आत्मा का देवलोक में से च्यवन हुआ और प्रजापति राजा की मृगावती रानी की कुक्षि में

अवतरण हुआ । उसी समय मृगावती रानी ने सात उत्तम स्वप्न देखे ।

एक शुभ दिन बालक का जन्म हुआ और बालक का **'त्रिपृष्ठ'** नामकरण किया गया । त्रिपृष्ठ के बड़े भाई का नाम था **अचल** । अचल व त्रिपृष्ठ धीरे-धीरे बड़े होने लगे । वय की वृद्धि के साथ-साथ वे शस्त्र और शास्त्रकला में भी निपुण बने । उस समय तीन खंड का अधिपति प्रतिवासुदेव **अश्वग्रीव** था । एक दिन एक कुशल निमित्तज्ञ उसकी राजसभा में आया । इधर विशाखानंदी का जीव अनेक भवों में भटककर तुंगगिरि पर्वत पर सिंह के रूप में पैदा हुआ । वह सिंह शंखपुर नगरवासियों को खूब परेशान करता था ।

अश्वग्रीव राजा ने निमित्तज्ञ को पूछा, `मेरी मृत्यु किसके हाथों से होगी ?'

निमित्त का विचार कर निमित्तज्ञ ने कहा, `जो व्यक्ति तुंगगिरि पर रहे सिंह को सरलता से मार देगा, उसी के हाथों से आपकी मृत्यु होगी ।' अपने हत्यारे का पता लगाने के लिए अश्वग्रीव राजा ने शंखपुर नगर में चावल की खेती कराई और उसकी रक्षा के लिए बारी-बारी से अन्य-अन्य राजाओं को आदेश दिया ।

अश्वग्रीव राजा ने प्रजापति राजा को आज्ञा दी कि **'तुम्हें शंखपुर नगर के खेतों की रक्षा के लिए वहाँ जाना है ।'** आदेश मिलते ही प्रजापति राजा ने अपने पुत्रों को कहा, `तुम्हारे अपराध के कारण अश्वग्रीव सम्राट् कुपित हुआ है, इस कारण सिंह से रक्षण करने के लिए आज्ञा फरमाई है ।' इतना कहकर प्रजापति राजा शंखपुर नगर की ओर प्रयाण करने लगा । तभी दोनों पुत्रों ने पिता को रोकते हुए कहा, ``आपको वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है । हम दोनों वहाँ जायेंगे ।''

दोनों राजकुमारों के अति आग्रह को देखकर राजा ने उन दोनों को शंखपुर जाने के लिए अपनी

सहमति दे दी । पिता की आज्ञा मिलते ही रथ में आरूढ़ होकर दोनों राजकुमार शंखपुर नगर पहुँच गए । त्रिपृष्ठ के पूछने पर उन किसानों ने तुंगगिरि पर्वत की गुफा में से बाहर आता हुआ सिंह बतला दिया । सिंह को दूर से देखते ही वे दोनों राजकुमार रथ में आरूढ़ होकर उस गुफा की ओर बढ़े । वे दोनों राजकुमार उस गुफा के पास पहुँचे, लोगों की आवाज सुनकर वह सिंह गुफा में से बाहर आया ।

त्रिपृष्ठ ने सोचा, **'मैं रथ में आरूढ हूँ और यह पैदल आ रहा है, अतः मुझे भी रथ में से नीचे उतर जाना चाहिए'** इस प्रकार विचार कर वह रथ से नीचे उतर गया । उसके बाद त्रिपृष्ठ ने सोचा, **'अहो ! मेरे पास शस्त्र है, जबकि यह तो शस्त्ररहित है'** इस प्रकार विचार कर उसने अपने हाथ में रहा शस्त्र भी फेंक दिया और वह खाली हाथ ही उस सिंह की ओर बढ़ा ।

त्रिपृष्ठ को इस प्रकार खाली हाथ आते देख, वह सिंह सोच में पड़ गया...सोचते-सोचते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उसने सोचा, 'अहो ! इसकी धृष्टता कैसी है ? यह अकेला ही मेरी गुफा के पास आया है । रथ से नीचे उतर गया है और इसने सारे शस्त्र फेंक दिये हैं । अहो ! मद में अंधे बने हुए हाथी की भाँति इसे खत्म कर इसके मद को दूर कर देता हूँ ।' इस प्रकार विचार कर उस सिंह ने गर्जना कर उस त्रिपृष्ठ पर प्रहार करने के लिए जैसे ही पंजा उठाया, उसी समय उस पराक्रमी **त्रिपृष्ठ** ने अपने दोनों हाथों से उसके दोनों जबड़े पकड़ लिये और एक जीर्ण वस्त्र की भाँति उस सिंह को फाड़ ड़ाला । उसी समय देवताओं ने आकाश से पुष्प, आभरण व वस्त्र की वृष्टि की । लोगों ने भी यह अद्‌भुत आश्चर्य देखा । वे भी आश्चर्यचकित हो गए ।

वह सिंह मरकर चौथी नरक में गया । वे दोनों राजकुमार सिंह-चर्म लेकर अपने नगर की ओर बढ़े ।

उस समय उन्होंने वहाँ के ग्रामीण लोगों को कहा, `तुम लोग जाकर उस अश्वग्रीव को कह देना कि तुम निश्चिंत होकर चावल खा सकोगे, क्योंकि तुम्हारे हृदय के शल्यभूत उस सिंह को त्रिपृष्ठ ने मार डाला है ।' इतना कहकर वे दोनों राजकुमार पोतनपुर चले गए । गाँववालों ने जाकर अश्वग्रीव राजा को सब बात बतला दी । अश्वग्रीव राजा अब शंकातुर हो गया । वह माया और कपट से उन दोनों राजकुमारों को खत्म करने का उपाय सोचने लगा । एक दिन उसने प्रजापति राजा के पास एक दूत भेजा । दूत ने जाकर प्रजापति को कहा, `आपके दोनों पुत्रों को महाराजा ने बुलाया है, वे उन्हें अलग-अलग राज्य देना चाहते हैं ।'

प्रजापति ने कहा, `राजपुत्रों का क्या काम है, मैं स्वयं ही वहाँ चला आता हूँ ।'

दूत ने कहा, `यदि आप दोनों राजकुमारों को भेजने के लिए तैयार नहीं हो तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।' दूत के आक्रोशपूर्ण वचनों को सुनकर उन दोनों कुमारों ने उस दूत का भयंकर अपमान कर उसे नगर से बाहर निकाल दिया । दूत ने जाकर वह सारी बात अश्वग्रीव राजा को सुना दी । बस, दूत की बात सुनते ही अश्वग्रीव कोपातुर हो गया । वह युद्ध के लिए तैयार हो गया । अपने विशाल सैन्य के साथ उसने युद्धभूमि की ओर प्रयाण प्रारंभ किया । इधर त्रिपृष्ठ और अचल भी अपने विराट् सैन्य के साथ युद्धभूमि में आ गये ।

दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ । शस्त्रों के प्रहार से युद्धभूमि में हजारों सैनिकों के मस्तक भूमि पर गिरने लगे । दोनों सेनाओं की अत्यधिक हानि हो जाने पर अश्वग्रीव व त्रिपृष्ठ दोनों आमने-सामने आ गए । आखिर अन्य शस्त्रों के निष्फल रह जाने पर अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ की ओर अपना अंतिम शस्त्र `चक्र' फेंका । परन्तु उस चक्र का त्रिपृष्ठ पर कुछ भी असर नहीं हुआ । त्रिपृष्ठ के पुण्य प्रभाव से वह चक्र उसके हाथ

में आ गया । बस, उस समय त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव को खत्म करने के लिए वह चक्र फेंका...और उस चक्र ने जाकर अश्वग्रीव के गले को काट डाला । तत्काल अश्वग्रीव भूमि पर गिर पड़ा । तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गई । उसी समय देवताओं ने पुष्पवृष्टि की । अचल को बलदेव और त्रिपृष्ट को वासुदेव घोषित किया । अश्वग्रीव की मृत्यु के बाद त्रिपृष्ट तीन खंड का अधिपति वासुदेव बना । तीन खंड के सभी छोटे-बड़े राजा उसके अधीन बन गए और उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करने लगे । सर्वत्र त्रिपृष्ट का साम्राज्य छा गया ।

भयंकर कर्मबंध

तीन खंड का अधिपति त्रिपृष्ट वासुदेव ! एक दिन त्रिपृष्ट की राजसभा में सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ अपनी विशाल मंडली के साथ उपस्थित हुआ । संगीतकार की भाववाही स्वरलहरियों से त्रिपृष्ट प्रसन्न हो गया । वह अपनी शय्या पर सोने की तैयारी कर रहा था, तभी उस संगीतज्ञ का प्रोग्राम चालू हुआ । कुछ देर तो उसने उस संगीत का आनंद लिया, उसके बाद उसे नींद आने लगी । उसने अपने शय्यापालक को पहले से ही सूचना कर दी कि ज्योंही मुझे नींद आ जाय त्योंही संगीत बंद करा देना ।

इधर त्रिपृष्ट वासुदेव को थोड़ी देर बाद नींद आ गई...परन्तु शय्यापालक को संगीत सुनने में खूब रस आ रहा था...परिणामस्वरूप वह महाराजा की आज्ञा भूल गया । संगीत चलता रहा...समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

कुछ ही घंटों बाद अचानक त्रिपृष्ट की आँख खुल गई । उसने देखा, `संगीत अभी भी चल रहा है । शय्यापालक ने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया ।' त्रिपृष्ट वासुदेव एकदम गुस्से में आ गए । **'मेरी आज्ञा के प्रति इतनी उपेक्षा ! संगीत सुनने में मेरी आज्ञा को भी भूल गया !! अब देख ले तू भी मेरी आज्ञा-**

भंग के परिणाम को !'...उसी समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने आज्ञा फरमाई, **'इस शय्यापालक के कानों में सीसे का गर्म-गर्म रस डाल दिया जाए ।'** बस, वासुदेव की आज्ञा होते ही उस शय्यापालक के कानों में सीसे का गर्म-गर्म रस डाल दिया गया । भयंकर वेदना से उसकी मृत्यु हो गई ।

इधर त्रिपृष्ठ की आत्मा ने इस पापाचरण के कारण निकाचित कर्म का बंध किया । जो कर्म अनेक भवों तक सत्ता में रहने के बाद अंतिम महावीर प्रभु के भव में उदय में आया और उस भव में वही शय्यापालक गोवाल बना, जिसने निर्दोष ऐसे प्रभु के कानों में कीले ठोके ।

हिंसा, महा-आरंभ-परिग्रह आदि घोर पापाचरण के द्वारा त्रिपृष्ठ वासुदेव ने भयंकर अशुभ कर्मों का बंध किया । 84 लाख वर्ष के अपने आयुष्य को पूर्ण कर त्रिपृष्ठ मरकर **19 वें भव में 7 वीं नरक** में चला गया ।

त्रिपृष्ठ की आत्मा 7वीं नरक में से निकल कर **20** वें भव में **सिंह** बनी । हिंसादि पापों के कारण वह **सिंह मरकर 21 वें भव में चौथी नरक** में चला गया ।

चौथी नरक में से निकलकर छोटे-मोटे अनेक भवों में भटकती हुई वह आत्मा । 22 वें भव में मनुष्य बनी । वहाँ शुभ कर्म की प्रवृत्ति की ।

प्रियमित्र चक्रवर्ती (भव 23-24)

पश्चिम महाविदेह ! मूका नगरी ! धनंजय राजा !! धारिणी महारानी !!! त्रिपृष्ठ की आत्मा का धारिणी महारानी की कुक्षि में अवतरण हुआ। धारिणी महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । एक शुभ दिन धारिणी माता ने तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया । दासी ने आकर महाराजा को पुत्र-जन्म की बधाई दी...राजा ने अपना कीमती हार दासी को भेंट देकर सदा के लिए उसका दारिद्र्य दूर कर दिया । नगर में चारों ओर पुत्र-जन्म

का भव्य महोत्सव किया गया ।

राजा ने पुत्र का नाम रखा-**प्रियमित्र !** दूज के चांद की भाँति प्रियमित्र बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ ही उसकी शिक्षा प्रारंभ हुई । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही वह समस्त शास्त्र व शस्त्र कलाओं में निपुण बन गया । एक दिन उस नगर में आचार्य भगवंत का आगमन हुआ । आचार्य भगवंत की वैराग्य सभर धर्मदेशना **धनंजय** राजा के अन्तर्मन को छू गई...उनका हृदय वैराग्य से भर आया और एक शुभ दिन अपने पुत्र **प्रियमित्र** को राजगद्दी पर स्थापित कर वे अरिहंत परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट चारित्र-मार्ग के पथिक बन गये ।

प्रियमित्र अपने सैन्य को साथ लेकर छह खंड को जीतने के लिए चल पड़ा ।...कुछ ही वर्षों में उसने छह खंड पर विजय प्राप्त कर ली । **प्रियमित्र चक्रवर्ती** बना । देवता व प्रजाजन ने बारह वर्ष तक चक्रवर्ती के राज्याभिषेक का भव्य महोत्सव किया । प्रियमित्र न्याय व नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करने लगा ।

धीरे-धीरे समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।...और एक शुभ दिन मूकानगरी में पोट्टिलाचार्य का आगमन हुआ । उनकी अमृतमयी धर्मदेशना के श्रवण के साथ ही प्रियमित्र के मन में वैराग्य की ज्योति पैदा हो गई...उन्हें यह संसार अत्यंत भयंकर प्रतीत होने लगा और एक शुभ दिन अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर पोट्टिलाचार्य के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । वे सागारी मिटकर अणगार बन गए...भोगी मिटकर योगी बन गए । बस...दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की आराधना-साधना में एकदम लीन बन गए । एक करोड़ वर्ष के संयम पर्याय के साथ उन्होंने कठोर तपश्चर्याएँ कीं...उसके बाद 84 लाख पूर्व वर्ष के अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर वे 24 वें भव में सातवें शुक्र देवलोक में ऋद्धिमान देव बने ।

तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचना (भव 25-26)

शुक्र देवलोक में अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर इसी भरत क्षेत्र में **छत्रा** नाम की नगरी में **जितशत्रु** राजा की भद्रा देवी की कुक्षि में प्रियमित्र की आत्मा का अवतरण हुआ । बालक का नामकरण **'नंदन'** किया गया । धीरे-धीरे नंदन बड़ा हुआ और सभी कलाओं में निपुण बना । जितशत्रु राजा ने सुयोग्य जानकर नंदन को राजगद्दी सौंप दी और स्वयं ने गुरु भगवंत के चरणों में जाकर भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

नंदन राजा न्याय और नीति पूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । धीरे-धीरे समय बीतने लगा । नंदन राजा के 24 लाख वर्ष गृहस्थ जीवन में बीत गए ।...और एक शुभ दिन छत्रा नगरी में **पोट्टिलाचार्य** गुरु भगवंत का आगमन हुआ । उनकी धर्मदेशना के श्रवण के साथ ही नंदन राजा के दिल में भागवती दीक्षा की भावना पैदा हुई । उन्हें यह संसार असार प्रतीत होने लगा...। उन्होंने पोट्टिलाचार्य के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । दीक्षा अंगीकार करने के बाद नंदन मुनि ने मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की उग्र तपश्चर्या प्रारंभ की । तप धर्म के साथ वे निर्मल संयम धर्म का पालन करने लगे । वे आर्त और रौद्र ध्यान से मुक्त हो गए । छह जीवनिकाय के रक्षण में वे सदैव जागरूक रहने लगे । बारह प्रकार के बाह्य व अभ्यंतर तप की साधना में वे अत्यंत ही लीन रहने लगे ।

इस प्रकार निरतिचार-विशुद्ध चारित्रधर्म की आराधना करते हुए 1 लाख वर्ष बीत गए । अपने देह को जर्जरित जानकर नंदन मुनि ने अपनी अंतिम आराधना की । अपनी आत्मा को भावित करते हुए उन्होंने दुष्कृत की निंदा की । अंत में उन्होंने यावज्जीव (जीवनपर्यंत) चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अपने शरीर को भी वोसिरा दिया ।

उन्होंने 11,80,645 मासक्षमण द्वारा बीसस्थानक की आराधना की व सभी जीवों को शासन रसिक बनाने की उत्कृष्ट भावना द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया । अंत में 60 दिन का अनशन करके 25 लाख वर्ष के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए । वे दसवें **प्राणत** देवलोक में **पुष्पोत्तर** नाम के विमान में देव बने ।

नंदन ऋषि का जीव देवभव में दिव्य सुखों के बीच भी अत्यंत विरक्तता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा ।

प्राणत नाम के दसवें देवलोक में **पुष्पोत्तरावतंसक** विमान में 20 सागरोपम के अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्णकर मरीचि के भव में बँधे हुए और अभी तक उस कर्म का क्षय नहीं होने के कारण, नीच गोत्र कर्म के उदय से 27 वें भव में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा की कुक्षि में प्रभु महावीर के जीव का आगमन हुआ ।

इस प्रकार भवितव्यता व नीच गोत्र कर्म के उदय के कारण प्रभु ब्राह्मणी की कुक्षि में आए ।

इन्द्र ने सोचा, `नीच गोत्रकर्म के उदय के कारण अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव के कुल में गर्भ के रूप में उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे परंतु कभी भी हीन कुल में उनका जन्म हुआ नहीं है, होता नहीं है और होगा भी नहीं । भूत, भविष्य और वर्तमान के इन्द्रों का यह आचार है कि नीच कुल में पैदा हुए अरिहंत आदि को हीन कुल में से लेकर उग्र आदि श्रेष्ठ कुलों में संहरण करना चाहिए, अतः मुझे भी देवानंदा की कुक्षि में रहे प्रभु का त्रिशला महारानी की कुक्षि में संहरण करना चाहिए ।' इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने अपने सेनापति हरिणेगमेषी देव को बुलाकर कहा, **``तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि हीन-कुल में पैदा नहीं होते हैं अतः तुम देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहे वीरप्रभु को त्रिशला महारानी की कुक्षि**

में रखो और त्रिशला महारानी की कुक्षि में जो पुत्री है, उसे देवानंदा की कुक्षि में रख दो । तुम यह कार्य करके शीघ्र ही आकर कहो कि यह कार्य हो गया है ।''

हरिणेगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा विनय व बहुमान पूर्वक शिरोधार्य की, उसके बाद उस देव ने ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात कर संख्याता योजन की ऊँचाई वाला, अपने शरीर जितना मोटा दंड बनाया । दंडाकार में अपने आत्मप्रदेशों को स्थापित किया । फिर कर्केतन रत्न, हीरा, नीलरत्न आदि सोलह प्रकार के रत्नों के समान श्रेष्ठ, उसमें भी असार पुद्गलों को छोड़कर सारभूत पुद्गलों को ग्रहणकर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात कर उत्तर वैक्रिय शरीर की रचना की ।

उसके बाद अन्य गति से उत्कृष्ट, तीव्र, शीघ्र और दिव्यगति से वह हरिणेगमेषी देव तिरछे लोक के असंख्य योजनों को पार कर असंख्य द्वीप-समुद्रों के मध्य में रहे जंबुद्वीप के भरत क्षेत्र के ब्राह्मण कुंड नगर में आया ।

ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर आकर देवानंदा के पास पहुँचा । प्रभु को हाथ जोड़कर नमस्कार किया । उसके बाद परिवार सहित देवानंदा को अवस्वापिनी निद्रा प्रदान की । अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों को स्थापित कर, **'हे प्रभो ! आप मुझे आज्ञा दें ।'** इस प्रकार प्रार्थना कर प्रभु एवं प्रभु की माता को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए बिना उस गर्भ को अपने दोनों हाथों में ग्रहण किया और उसे लेकर क्षत्रियकुंड नगर में त्रिशला महारानी के पास आया । त्रिशला महारानी को अवस्वापिनी निद्रा प्रदान कर, अशुभ पुद्गलों को दूर कर, शुभ पुद्गलों को स्थापित कर त्रिशला की कुक्षि में रहे पुत्री के गर्भ को ग्रहण कर, उसके स्थान पर प्रभु को स्थापित किया और उस पुत्री को ले जाकर देवानंदा की कुक्षि में रख दिया ।

गर्भपरिवर्तन की अपनी जवाबदारी के कार्य को पूर्ण कर हरिणेगमेषी देव पुनः उसी गति से जाकर सौधर्मइन्द्र के पास पहुँच गया और बोला, **''आपकी आज्ञानुसार कार्य करके मैं लौट आया हूँ !''** इस बात को सुनकर इन्द्र भी खुश हो गया । गर्भपरिवर्तन की यह घटना आसो वदी त्रयोदशी की मध्य रात्रि में हुई थी । उस दिन उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के साथ चंद्र का योग था । इसके पूर्व भगवान 82 दिन तक देवानंदा की कुक्षि में रहे थे ।

कवि कल्पना करता है, `मानों सिद्धार्थ राजा के श्रेष्ठ कुल में प्रवेश करने के लिए शुभ मुहूर्त की इंतजारी कर रहे प्रभु 82 दिन तक ब्राह्मणी की कुक्षि में रहे । ऐसे चरम जिनेश्वर प्रभु हमें पवित्र करें ।'

गर्भपरिवर्तन के समय भगवान तीन ज्ञान के धारक थे । प्रभु को यह पता था कि मेरा संहरण होने वाला है । संहरण के बाद ही प्रभु को पता चला कि मेरा संहरण हो गया । परंतु **'मेरा संहरण हो रहा है'** इस बात का पता न चला । यद्यपि प्रभु विशिष्ट ज्ञानी थे, संहरण की क्रिया को अच्छी तरह से जान सकते थे, परंतु व्यवहार से ऐसा बोला जाता है । जैसे किसी ने बहुत ही सावधानी पूर्वक हमारे पाँव में से काँटा निकाला हो तो हम कहते हैं `मुझे तो पता ही नहीं चला ।' बस, इसी प्रकार हरिणेगमेषी देव ने गर्भ परिवर्तन की क्रिया इतनी सरलता से की कि मानों प्रभु को पता ही नहीं चला ।

जिस रात्रि में यह **गर्भ परिवर्तन की घटना** बनी, उस रात्रि में अपने पलंग पर सोई हुई अर्धजागृत अवस्था में रही देवानंदा ब्राह्मणी ने देखा कि चौदह महास्वप्नों का त्रिशला महारानी ने अपहरण कर लिया है । जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर त्रिशला महारानी की कुक्षि में पधारे, उस रात्रि में त्रिशला महारानी अत्यंत ही रमणीय ऐसे शयनगृह में निद्राधीन बनी हुई थी, उस शयनखंड का बाहर का भाग चूने से पोता

हुआ था, अंदर के भाग में विविध प्रकार के चित्र थे । उस खंड की छत और तल भाग में पंचवर्णीय विविध प्रकार के मणि रत्न जड़े हुए थे, इस कारण वहाँ प्रकाश छाया हुआ था । पंचवर्णीय सुगंधित फूल तथा कृष्णागरु आदि विविध प्रकार के धूपों से वातावरण सुगंधमय बना हुआ था ।

उस शयनखंड में पलंग पर गद्दी लगी हुई थी, वह गद्दी गंगा नदी की रेती के समान अत्यंत ही सुकोमल थी, दोनों ओर तकिये लगे हुए थे । उस पर श्रेष्ठ चादर बिछाई हुई थी । गद्दी का उपयोग न करना हो तब उस पर धूल से बचाने के लिए रजस्त्राण लगा हुआ था । रुई, मक्खन आदि की तरह अत्यंत सुकोमल शय्या पर अर्धजागृत अवस्था में सोई हुई त्रिशला महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे ।

यद्यपि त्रिशला महारानी ने पहले स्वप्न में सिंह व मरुदेवा माता ने पहले स्वप्न में वृषभ देखा था फिर भी अधिकांश तीर्थंकरों की माता पहले स्वप्न में हाथी देखने के कारण उस क्रम से स्वप्नों का वर्णन करते हैं ।

(1) हाथी : वह हाथी चार दाँतवाला, तेजस्वी व बलवान था । वह हाथी मोती के हार, क्षीर-समुद्र, चंद्र-किरण तथा वैताढ्य पर्वत के समान उज्ज्वल था । हाथी के गंडस्थल में से मद झरने के कारण, उसकी सुगंध से आकर्षित होकर भ्रमर गुन-गुनाहट कर रहे थे । इन्द्र के ऐरावण हाथी की तरह शास्त्रोक्त देह प्रमाणवाला वह मेघ की तरह गर्जना कर रहा था ।

(2) बैल : कमलपत्र के समूह से अधिक रूप व कांतिवाले तथा अपनी कांति से दशों दिशाओं को सुशोभित करनेवाले बैल को त्रिशला महारानी ने दूसरे स्वप्न में देखा ।

उस बैल के रोम अत्यंत ही सुकोमल थे । उसका देह अत्यंत ही मांसल व हृष्ट-पुष्ट था । उसके सींग सुंदर, चिकने व वर्तुलाकार थे । वह बैल सौम्य आकृतिवाला तथा श्वेतवर्णवाला था ।

(3) सिंह : त्रिशला महारानी ने तीसरे स्वप्न में आकाश में से उतर कर अपने मुँह में प्रवेश करते हुए सिंह को देखा । वह सिंह मोतियों के हार, क्षीरसमुद्र, चंद्र-किरण, रजत-पर्वत तथा जलबिंदुओं के समान अत्यंत ही उज्ज्वल था ।

वह सिंह मनोहर होने से दर्शनीय था । उसकी दाढ़ें अत्यंत ही तीक्ष्ण थीं । कमल तुल्य कोमल होठ व जीभ थी । बिजली के समान उसकी आँखें अत्यंत चपल थीं । उसकी जंघाएँ परिपुष्ट थीं । श्रेष्ठ लक्षणवाली दीर्घ केसराएँ थीं । उस सिंह की मुखाकृति अत्यंत ही सौम्य थी । सुंदर व विलासपूर्ण गति से उतरते हुए सिंह को देखा ।

(4) चौथा स्वप्न-श्रीदेवी : त्रिशला महारानी ने चौथे स्वप्न में श्रीदेवी देखी । उसका वर्णन इस प्रकार है- वह श्रीदेवी इस जंबुद्वीप के भरत क्षेत्र के उत्तर में आए हुए हिमवंत पर्वत पर रही हुई है ।

वह सोने का हिमवंत पर्वत 100 योजन ऊँचा व 1052 योजन चौड़ा है । उसके मध्य में 1000 योजन लंबा 500 योजन चौड़ा व 10 योजन गहरा पद्मद्रह नाम का सरोवर है । उसका तल भाग वज्र का बना हुआ है ।

सरोवर के मध्य में जल से दो कोस ऊँचा, एक योजन लंबा-चौड़ा कमल है । उस कमल का मूल वज्रमय, कंद रिष्टरत्नमय, बाह्य पत्र लाल स्वर्णमय , बीच के पत्र भी सुवर्णमय हैं । उस कमल के दो कोस लंबी चौड़ी व एक कोस ऊँची सुवर्णमय कर्णिका है ।

उसके मध्य भाग में एक योजन लंबा, आधा योजन चौड़ा व कुछ कम 1 योजन ऊँचा श्रीदेवी का भवन है । उस भवन के पूर्व, दक्षिण व उत्तर दिशा में तीन द्वार हैं ।

उस भवन में 250 धनुष प्रमाणवाली रत्नमय वेदिका है, उस पर श्रीदेवी की शय्या है ।

मुख्य कमल के चारों ओर मूल कमल से आधे-आधे प्रमाणवाले 108 कमल हैं। सभी वलयों में प्रमाण इसी क्रम से आधा-आधा समझना चाहिए।

दूसरे वलय में वायव्य, ईशान व उत्तर दिशा में 4000 सामानिक देवों के 4000 कमल, पूर्व में चार महत्तरा के चार कमल, आग्नेय दिशा में अभ्यंतर पर्षदा के देवों के 10,000 कमल, नैऋत्य में बाह्य पर्षदा देवों के 12,000 कमल, पश्चिम में 7 सेनापतिदेवों के 7 कमल हैं। तीसरे वलय में उतने ही अंगरक्षक देवों के 16,000 कमल हैं। चौथे वलय में अभ्यंतर आभियोगिक देवों के 32 लाख कमल हैं।

पाँचवें वलय में मध्य आभियोगिक देवों के 40 लाख कमल हैं। छठे वलय में बाह्य आभियोगिक देवों के 48 लाख कमल हैं। इस प्रकार कुल 1,20,50,120 कमल हैं।

श्रीदेवी के चरण सुवर्ण के कछुए के समान उन्नत हैं। हाथ-पैर की अंगुलियाँ कमल पत्र के समान कोमल हैं। जंघाएँ हाथी की सूंड के समान हैं। सोने के कंदोरे के कारण कटिभाग अत्यंत मनोहर है। उसकी रोम-राजि श्याम, कोमल व सूक्ष्म है। उसकी नाभि गंभीर है। सिंह के कटिप्रदेश की तरह उसका कटिप्रदेश कृश है। उदर भाग त्वचा की तीन रेखाओं से सुशोभित है। उसके वक्षस्थल पर लाल व पीत सुवर्ण तथा चंद्रकांतमणि व मोतियों के हार हैं। उसके हाथों में रत्नजड़ित कंकण हैं। अंगुलियों में अँगूठियाँ, कानों में कुंडल हैं।

इस प्रकार आभूषणों से युक्त श्रीदेवी का मुखमंडल अत्यंत ही सुंदर लगता है। उसके दोनों नेत्र कमलपत्र के समान दीर्घ व विशाल हैं। दोनों हाथों में 1-1 कमल है, जिनमें से मकरंद बह रहा है। आनंद के लिए एक हाथ में पंखा रखा है। कमल पर बैठी हुई ऐसी श्रीदेवी के मस्तक पर ऐरावण आदि दिग् गजेन्द्र अपनी सूंड-द्वारा अभिषेक कर रहे हैं। ऐसी श्रीदेवी त्रिशला देवी ने चौथे स्वप्न में देखी।

दूसरा व्याख्यान पूर्ण हुआ।

व्याख्यान 3

कल्पसूत्र के दूसरे व्याख्यान में, त्रिशला महारानी के द्वारा देखे गए चौदह स्वप्नों में से चार स्वप्नों का वर्णन पूरा हुआ । अब **तीसरे व्याख्यान** में शेष दस स्वप्नों का वर्णन आता है ।

पाँचवाँ स्वप्न :

पाँचवें स्वप्न में त्रिशला महारानी ने आकाश में से उतरती हुई फूलमाला देखी । उस फूलमाला में कल्पवृक्ष के फूल, चंपा, नाग, पुन्नाग, प्रियंगु, शिरीष, मालती, जाई, जुई, अंकोल, कूटज, कोरष्ट, दमनक, बहुल, पाटल, तिलक, वासंतिका, नवमल्लिका, कुंद, मचकुंद, सूर्य और चंद्रविकासी कमल आदि फूल लगे हुए थे ।

उस माला में आम्र की मंजरियाँ भी थीं । उस माला में छहों ऋतुओं के पंचवर्णीय पुष्प भी थे । श्वेतवर्ण के बहुत से फूल थे । उनमें विविध रंगवाले फूल गुंथे हुए थे । इस कारण वह माला बहुत ही सुंदर लग रही थी । उस फूल माला की सुगंध दशों दिशाओं में फैली हुई थी, इस कारण बहुत से भ्रमर फूलमाला की ओर आकर्षित होकर आ रहे थे और उस सुगंध से प्रसन्न हुए वे भ्रमर मधुर गुंजन कर रहे थे ।

छठे स्वप्न में त्रिशला रानी ने गाय के दूध, जलकण व चांदी के कलश के समान पूर्ण चंद्र को देखा ।

यह चंद्रमा अत्यंत सौम्य होने से आसानी से देखा जा सकता था । देखनेवाले की आँखों को शीतलता प्रदान करनेवाला था । दर्शक के हृदय व आँखों को आनंद देनेवाला था । पूनम का चांद होने से यह चांद अपनी सोलह कलाओं से खिला हुआ था । अपने प्रकाश से गाढ़ अंधकार को भी भेदनेवाला

होने से अत्यंत ही तेजस्वी था । सूर्य के ताप से बंद (बीड़े हुए) कुमोदिनियों को अपनी सौम्य किरणों द्वारा पुनः विकस्वरित करनेवाला था । काजल जैसी रात्रि को प्रकाश से भरकर सुशोभित करनेवाला था । वह चंद्रमा हंस के समान अति उज्ज्वल था । चन्द्रमा अन्य ग्रह-नक्षत्र और ज्योतिष चक्र में मुख्य है । आकाश के चलते फिरते तिलक की भाँति यह चंद्रमा अत्यंत ही शोभा देता था ।

सातवें स्वप्न में त्रिशला महारानी ने अत्यंत ही तेजस्वी सूर्य को देखा । यह सूर्य अंधकार का नाश करनेवाला है । यद्यपि सूर्यबिंब के पृथ्वीकाय जीवों का शरीर शीतल होता है, परंतु उन्हें आतप नाम कर्म का उदय होने से उनका तेज मनुष्यलोक के जीवों को आकुल-व्याकुल बना देता है । यह सूर्य उदित अवस्थावाला होने से अशोकवृक्ष व पोपट की चोंच की तरह अत्यंत ही लाल था । सूर्य के उदय से कमलवन विकसित हो जाते हैं, अर्थात् बंद हुए कमलों को विकस्वरित करनेवाला था । मेष आदि राशियों में भ्रमण करने के कारण ज्योतिष चक्र के लक्षणवाला है । आकाश के दीपक समान था, अपनी गर्म किरणों से बर्फ के पहाड़ को पिघलानेवाला था । ग्रह-नक्षत्र और ताराओं का स्वामी है । रात्रि को विदाई देनेवाला था । अपने उदय और अस्त के एक मुहूर्त में आराम से देखा जा सकता था, क्योंकि उस समय वह सौम्य रूप को धारण करनेवाला था, उसके सिवाय के काल में प्रचंड रूपवाला होने से उसे देखना मुश्किल है । चोरी, वेश्यागमन आदि दुष्ट प्रवृत्तियों को रोकने वाला था, क्योंकि चोरी जैसे पाप लगभग रात्रि में ही होते हैं । ठंडी से काँपने वाले लोगों की ठंडी को दूर करनेवाला था । यह सूर्य मेरु की प्रदक्षिणा दे रहा था । अपनी 1000 किरणों से चंद्र-तारा आदि की शोभा को दूर करनेवाला था ।

यह सूर्य अंधकार का नाश करनेवाला, तेजस्वी, लाल अशोक वृक्ष आदि के समान लाल वर्णवाला

तथा कमलों को विकसित करनेवाला था । वह सूर्य रात्रि का नाश करनेवाला, ठंडी को दूर करने वाला, मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देनेवाला तथा अपनी हजारों किरणों द्वारा समस्त ग्रहों के तेज को निस्तेज करनेवाला था ।

आठवें स्वप्न में त्रिशला महारानी ने उत्तम सुवर्ण के दंडवाले तथा एक हजार योजन ऊँचे ध्वज को देखा । उस ध्वज के ऊपरी भाग में पंचवर्ण के मोर के पिच्छे लगे हुए होने से वह ध्वज अत्यंत ही आकर्षक लगता था । उस ध्वज में स्फटिक रत्न, शंख, जलबिंदु तथा चांदी के कलश के समान उज्ज्वल श्वेतवर्ण का सिंह चित्रित था । पवन से ध्वजा के उड़ने पर ऐसा लगता था, मानों वह सिंह आकाश को भेदने के लिए उछल रहा है । यह ध्वज बहुत ही बड़ा और देखनेवाले के मन को आनंद देनेवाला था ।

नौवें स्वप्न में सूर्य मंडल के समान प्रकाशमान, उत्तम सोने से बना हुआ जल से भरा हुआ पूर्ण कलश देखा । उसके चारों ओर कमल थे, सभी मंगलों का संकेतस्थल था । यह कलश उत्तम रत्नों से सुशोभित रत्नमय विकसित कमल पर रखा हुआ था । यह कलश नेत्रों को आनंद देनेवाला था । कांति से अनुपम, प्रशस्त लक्ष्मी का घर था । कुंभ के कंठ में सभी ऋतु के फूलों से बनी माला पहिनायी हुई थी ।

दसवें स्वप्न में पद्मसरोवर को देखा । इस पद्मसरोवर में बड़े-बड़े कमल थे । सूर्य के उदय होने के कारण ये सभी कमल विकसित हो रहे थे । इन कमलों की सुगंध से सरोवर का पानी भी सुगंधवाला हो गया था । कमलों का पराग पानी में मिलने से सरोवर का पानी भी कुछ लाल-पीला हो गया था । इस सरोवर में अनेक मछलियाँ और जलचर प्राणी इधर-उधर भागते हुए क्रीड़ा कर रहे थे । यह सरोवर 1000 योजन लंबा और 500 योजन चौड़ा था । इस सरोवर में सूर्य-विकासी कमल, चंद्रविकासी कमल, हजार पंखुड़ियोंवाले सहस्रदल कमल तथा सफेद कमल उगे हुए थे । इन सभी कमलों से इस सरोवर की शोभा खूब बढ़ गई थी

। इसकी सुंदरता को देख मन प्रसन्न हो जाता था । इन कमलों की सुवास दूर तक फैल रही थी । कमलों की सुवास से आकर्षित होकर अनेक भ्रमर दूर-दूर से आ रहे थे और पुष्प रस का पान कर प्रसन्न बने हुए थे । पद्मिनी, कमल पर रहे हुए जलबिंदु नीलरत्न पर रहे मोतियों की तरह सुंदर लग रहे थे । इस सरोवर में कलहंस, बगुले, चक्रवाक, राजहंस तथा सारस आदि पक्षी-युगल रहे हुए थे । यह सरोवर देखनेवाले के नेत्र व हृदय को आनंद देनेवाला था ।

ग्यारहवें स्वप्न में चंद्रकिरण के समान उज्ज्वल क्षीरसमुद्र को देखा । चारों दिशाओं में बढ़ता हुआ अगाध जलप्रवाह था । ऊँचे उठनेवाली जलतरंगों से उसका पानी बार-बार इकट्ठा होता था । पवन के कारण वे जलतरंगें किनारे से टकराती थीं । जलतरंगों के परस्पर मिलने से मानों वह समुद्र शीघ्र वेग से किनारे की ओर भागकर पुनः न लौट रहा हो, इस प्रकार अतिमनोहर लगता था । उस समुद्र में छोटे मोटे मगरमच्छ, मत्स्य आदि विविध प्रकार के जलचर प्राणियों की दौड़ के कारण उज्ज्वल फेन प्रगट हो रहा था । गंगा आदि नदियों के प्रवाह के वेग के संगम-स्थल पर गिर रहा जल, आवर्त में गोल-गोल घूम रहा था । इससे मानों समुद्र ही घूम रहा हो, ऐसा प्रतीत होता था ।

बारहवें स्वप्न में त्रिशला माता ने एक विमान को देखा । उसकी कांति उगते हुए सूर्य के बिंब के समान लाल थी । उसमें उत्तम सुवर्ण व रत्नों से सुशोभित 1008 स्तंभ थे । उस विमान में पाँचों रंग के फूलों की मालाएँ लटक रही हैं । मोतियों की मालाओं से उसकी कांति बढ़ गई है । विमान की दीवालें वृषभ, अश्व, मनुष्य, मगर, सर्प, किन्नर, अष्टापद, चमरी गाय, जंगली पशु, हाथी, अनेक पंखियों के चित्रों से चित्रित थीं । विमान में वाद्ययंत्र तथा देवदुंदुभि बज रही थी । सुगंधित धूप जलने से वातावरण सुगंधमय बना हुआ

था । विमान की कांति भी उज्ज्वल थी । यह विमान उत्तम देवों से सुशोभित था । साता वेदनीय को भोगने का उत्तम स्थान था । जिस प्रकार कमलों में पुंडरीक कमल श्रेष्ठ है, उसी प्रकार अन्य विमानों से यह विमान अत्यंत ही श्रेष्ठ था ।

त्रिशला महारानी ने **तेरहवें स्वप्न** में मेरुपर्वत जितना ऊँचा रत्नों का ढेर देखा । वह ढेर पुलाक, वज्र, इन्द्रनील, कर्केतन, लोहिताक्ष, मरकत, प्रवाल, स्फटिक, अंजन, चंद्रकांत आदि सारभूत रत्नों के समूह से इतना बड़ा था कि भूमि पर होने पर भी अपनी कांति से आकाश को प्रकाशित कर रहा था ।

चौदहवें स्वप्न में धुएँ रहित अग्नि देखी । घी और मधु से सिंचित होने के कारण वह अग्नि धुएँ रहित थी । छोटी-मोटी ज्वालाएँ एक-दूसरे में प्रवेश कर रही थीं । ऊँची उठती वे ज्वालाएँ ऐसी लगती थीं, मानों आकाश को ही पका रही हों ।

इन कल्याणकारी स्वप्नों को देखकर त्रिशला माता जागृत हो गई । उसकी समस्त रोमराजि विकस्वरित हो गई ।

जिस रात्रि में तीर्थंकर परमात्मा माता की कुक्षि में आते हैं, उस रात्रि में वे माताएँ इन महान् चौदह स्वप्नों को देखती हैं ।

मेघ की धारा से सिंचित कदंब पुष्प के समान रोमराजिवाली त्रिशला महारानी ने उन स्वप्नों को क्रमशः याद किया, फिर अपनी शय्या से उठकर चपलता रहित, राजहंसी के समान गति से सिद्धार्थ महाराजा के शयनखंड में आई । उसके बाद मधुर मांगलिक, मनोज्ञ, विनय से कोमल आदि विशेषणों से युक्त भाषा से सिद्धार्थ महाराजा को जागृत किया ।

सिद्धार्थ महाराजा की आज्ञा प्राप्तकर रत्नजड़ित सुवर्ण सिंहासन पर स्वयं बैठी । तत्पश्चात् कुछ समय विश्राम लेकर क्षोभ छोड़कर मधुर शब्दों से बोली, ``हे स्वामिन् ! आज मैं अर्द्धजागृत अवस्था में थी तब मैंने उत्तम, कल्याणकारी, श्रेष्ठ व मांगलिक चौदह स्वप्न देखे हैं ।' इतना कहकर त्रिशला महारानी ने जो स्वप्न देखे थे, उन सभी स्वप्नों की बात सिद्धार्थ महाराजा को कह दी । उसके बाद बोली, ``हे नाथ ! इन कल्याणकारी स्वप्नों को देखने के बाद मेरे चित्त में इन स्वप्नों का फल जानने की जिज्ञासा पैदा हुई...और मैं अपनी जिज्ञासा को रोक न सकी अतः तत्क्षण उठकर इन स्वप्नों का अर्थ जानने के लिए आपके पास आई हूँ ।''

त्रिशला महारानी के मुख से इन स्वप्नों की बात सुनकर सिद्धार्थ महाराजा भी खुश हो गए । वर्षा से खिले कदंबवृक्ष के फूलों की भाँति उनकी रोमराजि भी विकस्वरित हो गई । सिद्धार्थ महाराजा ने उन स्वप्नों को अवधारण किया, उसके बाद वे उनके फल का चिंतन करने लगे । अपनी बुद्धि के अनुसार स्वप्नों के फल का निर्णयकर अत्यंत ही मधुर वाणी से बोले, ``हे देवानुप्रिये ! तूने जो स्वप्न देखे हैं, वे अत्यंत ही कल्याणकारी, श्रेष्ठ, उपद्रवनाशक, धन-धान्य की वृद्धि करनेवाले, मंगलकारी व शोभायुक्त हैं ।

ये स्वप्न आरोग्य प्रदान करनेवाले हैं, चित्त की प्रसन्नता बढ़ानेवाले हैं, दीर्घायुष्य दिलानेवाले हैं तथा अपने वांछित को प्राप्त करानेवाले हैं । इन स्वप्नों के दर्शन से अर्थ का लाभ होगा, भोग का लाभ होगा, पुत्र का लाभ होगा, राज्य का लाभ होगा । यश की वृद्धि होगी और धन-धान्य का लाभ होगा ।

नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर तुम उत्तम लक्षण वाले पुत्र को जन्म दोगी । वह पुत्र अपने कुल में ध्वज समान होगा, दीपक की तरह अपने कुल को प्रकाशित करनेवाला और मंगलकारक होगा ।

पर्वत की तरह अचल होगा । पृथ्वी की तरह वह अपने कुल का आधार बनेगा । मुकुट की तरह अपने कुल की शोभा बढ़ाएगा, वह अपने कुल में तिलक समान होगा, अपने शुभ आचरण से कुल की कीर्ति बढ़ाएगा, कुल का भरण-पोषण करनेवाला होगा, सूर्य की तरह कुल का प्रकाशक होगा, कुल में सभी प्रकार की वृद्धि करेगा । वृक्ष की तरह कुल में छाया करनेवाला और आश्रय देनेवाला होगा ।

उस पुत्र का शरीर सर्वश्रेष्ठ लक्षणों से युक्त तथा पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण होगा । उसके हाथ-पाँव के तलभाग अत्यंत ही कोमल होंगे । उसका शरीर मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त होगा । अंग-उपांग से सुशोभित वह पुत्र चंद्र के समान सौम्य कांतिवाला तथा पुनः पुनः दर्शनीय होगा ।

बाल्यकाल व्यतीत होने पर वह बालक विज्ञान का पार पानेवाला होगा । युवावस्था में दानी, प्रतिज्ञापालन में शूर तथा युद्ध में वीर होगा, पराक्रमी होगा और विशाल सैन्य का स्वामी बड़ा राजा होगा ।

``हे देवानुप्रिया ! तू ने बहुत ही सुंदर व श्रेष्ठ स्वप्न देखे हैं'' सिद्धार्थ महाराजा के मुख से इस फलादेश को सुनकर त्रिशला रानी खुश हो गई और हाथ जोड़कर बोली, ``हे स्वामिन् ! आपने जो कहा है, वह सत्य है, निःसंदेह है, और मुझे भी प्रसिद्ध करने वाला है ।''

उसके बाद सिद्धार्थ महाराजा की अनुमति प्राप्त कर त्रिशला देवी राजहंसी के समान गति से वापस अपने शयन खंड में आ गई ।

'मेरे ये उत्तम स्वप्न, अन्य पाप-स्वप्नों से निष्फल न हो जायें' इस प्रकार विचार कर वह शेष रात्रि देव-गुरु-धर्म संबंधी विचारों द्वारा व्यतीत करने लगी ।

हर व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि और क्षयोपशम के अनुसार किसी भी पदार्थ का अर्थ निकाल लेता है ।

यद्यपि त्रिशला महारानी ने स्वप्न देखे हैं, वे बहुत ही महान् और श्रेष्ठ फल देनेवाले हैं, फिर भी सिद्धार्थ महाराजा ने अपने क्षयोपशम के अनुसार स्वप्नों का फल निर्णय किया है ।

उन्हें भी लगता है कि इन स्वप्नों का तो कोई विशिष्ट अर्थ होना चाहिए इसलिए वे भी स्वप्नों का वास्तविक फल जानने की जिज्ञासा से स्वप्न-पाठकों को बुलाकर उनसे अर्थ-निर्णय करने का विचार करते हैं ।

प्रातःकाल होने पर सिद्धार्थ महाराजा ने अपने सेवकों को बुलाकर कहा, ``हे महानुभावो ! आज उत्सव का दिन है, अतः अपने बाहर की उपस्थान शाला बैठक (कचहरी) को साफ कराओ । सुगंधित जल का छिड़काव करो, गोबर का लीपन करो, पंचवर्णीय सुगंधित फूलों से वातावरण को सुगंधित करो । कृष्ण अगरु आदि सुगंधित धूप से वातावरण को मघमघायमान करो ।

यह सब कार्य तुम कराओ और शीघ्र ही वापस आकर आज्ञापालन की खबर दो ।''

पूर्ण समर्पित उन सेवकों ने राजा की हर आज्ञा शिरोधार्य की और वे वहाँ से चले गए ।

तत्पश्चात् राजा की आज्ञानुसार वे सब कार्य पूर्णकर वापस आकर उन्होंने राजा को निवेदन किया कि आपकी आज्ञानुसार यह सब कार्य हो गया है ।

अरुणोदय अर्थात् प्रभातकाल होने पर आकाश में लालवर्ण धारण करनेवाले सूर्य का उदय हुआ, उस समय निद्रा को छोड़कर सिद्धार्थ महाराजा भी जागृत हुए ।

अपनी शय्या पर से उठकर सिद्धार्थ महाराजा व्यायामशाला में गए । वहाँ जाकर वे मल्लयुद्ध आदि अनेक प्रकार के व्यायाम करने लगे । श्रमित होने पर शतपाक, सहस्त्रपाक आदि तैलों से नौकरों के द्वारा वे अपने शरीर की मालिश कराने लगे ।

मालिश करने में अत्यंत कुशल पुरुषों ने प्रीतिकर, कामवर्धक और बलवर्धक मर्दन इस प्रकार किया कि सिद्धार्थ महाराजा की थकावट दूर हो गई । उसके बाद सिद्धार्थ महाराजा मोतियों से व्याप्त गवाक्षवाले तथा अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ित आँगनवाले स्नानघर में गये । स्नान घर में जाकर रत्नजड़ित स्नान-पीठ पर बैठे और अनेक पुष्पों के रस सहित चंदन, कपूर, कस्तूरी युक्त, पवित्र, निर्मल, न अधिक गर्म और न अधिक ठंडे जल से उन्होंने स्नान किया ।

स्नान के बाद चंदन-कस्तूरी आदि सुगंधित द्रव्यों से वासित वस्त्र से शरीर को पोंछकर गोशीर्ष-चंदन आदि का विलेपनकर सुंदर वस्त्र धारण किये । उसके बाद सुगंधित फूल-मालाएँ धारण कीं । केसर आदि के तिलक लगाये । सुवर्ण, मणि, रत्न आदि के आभूषण धारण किये ।

सिद्धार्थ राजा ने कमर पर कटि-भूषण, अंगुलियों में अंगूठियाँ, गले में हीरे-माणेक के हार तथा भुजाओं में बाजुबंध आदि धारण किये ।

विविध अलंकारों से अलंकृत सिद्धार्थ महाराजा अत्यंत ही सुंदर लग रहे थे । चारों ओर लोग राजा की जय-जयकार कर रहे थे । उनके मस्तक पर उत्तम छत्र था और दोनों ओर चामर वींजे जा रहे थे ।

गणनायक, दंडनायक, राजा, युवराज, मंत्री, महामंत्री, अमात्य, नगरसेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि अनेक राजपुरुष और मानव-समुदाय से युक्त सिद्धार्थ महाराजा उपस्थान शाला में आए और पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बैठ गए ।

उसके बाद अपने से थोड़ी दूरी पर ईशानकोने में श्वेत वस्त्रों से आच्छादित आठ भद्रासन रखवाये और

दूसरी ओर त्रिशला महारानी के बैठने के लिए पर्दे के पीछे मणि-रत्नजड़ित श्वेतवस्त्र से ढका हुआ एक भद्रासन रखवाया । बीच में जो पर्दा था, उस पर्दे पर मृग, रोझ, वृषभ, मनुष्य, मगरमच्छ, सर्प, किन्नर, अष्टापद, सिंह, चमरी गाय आदि के चित्र बने हुए थे ।

स्वप्न पाठक

उसके बाद सिद्धार्थ महाराजा ने कौटुम्बिक पुरुष अर्थात् सेवकों को बुलाकर कहा, `अष्टांग महा निमित्त के ज्ञाता स्वप्न-पाठकों को बुलाकर लाओ ।'

अष्टांग निमित्त इस प्रकार हैं—

1) **अंगविद्या :** स्त्री-पुरुष आदि के अंग-उपांग के स्फुरण से होनेवाले शुभ-अशुभ भावों का ज्ञान करानेवाली विद्या ।

2) **स्वप्न विद्या :** रात्रि में देखे गए स्वप्नों के आधार पर शुभ-अशुभ फल बतानेवाली विद्या ।

3) **स्वर विद्या :** कौआ, उल्लू, सियार आदि पक्षियों की आवाज के आधार पर शुभ-अशुभ फल को बतानेवाली विद्या ।

4) **भौम विद्या :** भूकंप आदि संबंधी ज्ञान ।

5) **व्यंजन विद्या :** शरीर पर रहे तिल, मसा आदि के आधार पर होनेवाले शुभ-अशुभ भाव को बतानेवाली विद्या ।

6) **लक्षण विद्या :** हाथ, पैर आदि में रही रेखाओं के आधार पर होनेवाले शुभ-अशुभ फल को बतानेवाली विद्या ।

7) **उत्पात विद्या :** उल्कापात आदि के द्वारा होनेवाले शुभ-अशुभ फल को बतानेवाली विद्या ।

8) अंतरिक्ष विद्या : ग्रह, नक्षत्र आदि के आधार पर होनेवाले शुभ-अशुभ फल को बतानेवाली विद्या ।

सिद्धार्थ महाराजा की आज्ञा को सुनकर वे राजसेवक खुश हो गए । उन्होंने राजा की आज्ञा शिरोधार्य की । क्षत्रियकुंडनगर के मध्य भाग में से प्रसार होते हुए वे स्वप्नलक्षण-पाठकों के घर गए । वहाँ जाकर उन्होंने उनको सिद्धार्थ महाराजा का संदेश सुना दिया ।

सिद्धार्थ महाराजा की आज्ञा सुनकर वे स्वप्न-पाठक खुश हो गए । उन्होंने स्नान-पूजा आदि की । अच्छे वस्त्र धारण किये । मस्तक पर तिलक किये । दूर्वा-अक्षत आदि से मंगल किया । राजसभा में प्रवेश योग्य सुवर्ण आदि के अलंकार धारण किये ।

उसके बाद क्षत्रियकुंडनगर के मध्य भाग में से निकलकर वे सब स्वप्नपाठक राजदरबार के बाहर इकट्ठे हुए और वहाँ सभी ने मिलकर अपने में से एक को अग्रेसर बनाया ।

कहा भी है–

'जहाँ सब अग्रेसर हों, सभी अपने आपको पंडित मानते हों, सभी महत्त्वाकांक्षी हों, वह समुदाय नष्ट हो जाता है ।'

इस बात पर एक दृष्टांत प्रसिद्ध है :-

एक बार 500 सैनिकों का समूह नौकरी करने के लिए एक राजसभा में आया । वे सभी सैनिक अभिमानी थे । छोटे-बड़े का व्यवहार भी नहीं रखते थे । मंत्री की सलाह से उन सबकी परीक्षा करने के लिए उन सबको सोने के लिए एक ही पलंग दिया । वे सब अपने आपको बड़ा समझते थे । अतः उस पलंग पर सोने के लिए

परस्पर झगड़ने लगे । आखिर निर्णय लिया कि पलंग पर कोई न सोये । पलंग को बीच में रखा जाये और सभी उसकी ओर पाँव रखकर सो जायें ।

गुप्त पुरुषों द्वारा जब उनकी इस चेष्टा का राजा को ख्याल आया तो राजा ने उन सब को अपमानित कर बाहर निकाल दिया ।'

`स्वप्नपाठकों ने एक को नायक बनाया और वे आगे बढ़े । क्रमशः सभाखंड में आये । हाथ जोड़कर नमस्कार कर महाराजा को आशीर्वाद देते हुए बोले, `हे महाराजाधिराज !'

''आप दीर्घायु बनो । आप सदाचारी बनो ! आप लक्ष्मीवंत बनो ! आप यशस्वी बनो ! आप बुद्धिमान् बनो, आप दयालु बनो ! आप भाग्यवान् बनो ! आप सौभाग्यशाली बनो !''

''हे नरनाथ ! आपके कुल का कल्याण हो ! आपके कुल में पुत्रजन्म की समृद्धि हो ! आपके वैरियों का नाश हो ! आपके कुल में सदैव जिनभक्ति हो ।''

तीसरा व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

कल्पसूत्र के हिंदी प्रवचन

व्याख्यान 4

स्वप्नलक्षण-पाठकों ने सिद्धार्थ महाराजा को आशीर्वाद दिये । सिद्धार्थ महाराजा ने भी उन स्वप्न-लक्षण-पाठकों का स्वागत किया, उनके गुणों की प्रशंसा की और फूलों का गुच्छा अर्पण किया । फल व वस्त्र प्रदान कर उनका सत्कार किया । खड़े होकर उनका अभिवादन भी किया ।

उसके बाद राजा ने उन स्वप्न पाठकों को सिंहासन पर बैठने के लिए विनती की । सिद्धार्थ राजा ने त्रिशला महारानी को भी बुलाकर पर्दे के पीछे भद्रासन पर बिठा दिया ।

राजा, प्रभु व गुरु के दर्शनार्थ खाली हाथ नहीं जाना चाहिए । निमित्तज्ञ के पास भी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए क्योंकि फल से ही फल की प्राप्ति होती है ।

सिद्धार्थ राजा ने हाथ में फल-फूल लेकर स्वप्न-पाठकों को कहा, ``हे देवानुप्रिय ! आज मध्य रात्रि में त्रिशला महारानी ने अर्द्धजागृत अवस्था में हाथी-वृषभ आदि कल्याणकारी चौदह महास्वप्न देखे हैं, उन स्वप्नों के फलस्वरूप क्या लाभ होगा और क्या फल होगा ?''

सिद्धार्थ महाराजा के मुख से इन स्वप्नों की बातों को सुनकर वे स्वप्नपाठक खुश हो गए । उन्होंने उन स्वप्नों को यादकर अर्थनिर्णय के लिए परस्पर विचार विमर्श किया । परस्पर विचार-विमर्श के बाद अंतिम-निर्णय कर सिद्धार्थ महाराजा के सामने बोले, ``मनुष्य को नौ कारणों से स्वप्न आते हैं-

(1) अनुभूत : जिस वस्तु का अनुभव किया हो, वह वस्तु स्वप्न में दिखाई देती है (व्यापारी को व्यापार संबंधी व विद्यार्थी को परीक्षा संबंधी स्वप्न आते हैं ।)

(2) श्रुत : सुनी हुई बातें स्वप्न में दिखाई देती हैं ।

(3) दृष्ट : दिन में देखी चीजें स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं ।

(4) प्रकृति विकार : कफ, वायु और पित्त के विकार से भी रात्रि में स्वप्न दिखते हैं ।

(5) स्वाभाविक : कई बार सहजता से स्वप्न आते हैं ।

(6) चिंता : मन में चिंता हो तो भी स्वप्न दिखाई देते हैं ।

(7) देवता के द्वारा : देवता के उपदेश से स्वप्न आता है ।

(8) धर्म के प्रभाव से : धर्म क्रिया के प्रभाव से भी स्वप्न आता है ।

(9) पापोदय से : तीव्र पाप के उदय से भी स्वप्न आता है ।

इन नौ प्रकार से आनेवाले स्वप्नों में से प्रथम छह प्रकार से आनेवाले स्वप्न निष्फल जाते हैं, जबकि अंतिम तीन प्रकार से आए स्वप्न अवश्य फल देते हैं ।

रात्रि के पहले, दूसरे, तीसरे व चौथे प्रहर में आए हुए स्वप्न क्रमशः 12, 6, 3 और 1 मास बाद फल देते हैं । रात्रि समाप्ति के दो घड़ी पूर्व आया स्वप्न 10 दिन में तथा सूर्योदय समय आया स्वप्न तत्काल फल देता है ।

फूलमाला की तरह स्वप्नों की हारमाला चलती हो या दिन में स्वप्न देखे, मल-मूत्र के अवरोध से दिखनेवाले स्वप्न का कोई फल नहीं होता है । जो व्यक्ति धर्म में रत हो, स्थिरचित्त, जितेन्द्रिय व दयालु होता है, उसे स्वप्न के फल-स्वरूप इच्छित वस्तु अवश्य प्राप्त होती है । अच्छा स्वप्न देखने के बाद गुरु आदि

योग्य व्यक्ति को कहना चाहिए । योग्य व्यक्ति न मिले, तो गाय के कान में कह देना चाहिए । अच्छा स्वप्न देख, सो जाने से स्वप्न का फल नष्ट हो जाता है, पहले खराब स्वप्न देख फिर अच्छा स्वप्न देखने से अच्छे स्वप्न का फल मिलता है और अच्छा स्वप्न देख खराब स्वप्न देखने से खराब स्वप्न का फल मिलता है ।

❑ स्वप्न में कोई हाथी, घोड़ा, सिंह, वृषभ और सिंहनी से युक्त रथ में अपने आपको बैठे देखे तो वह राजा होता है ।

❑ स्वप्न में घोड़े-हाथी-वाहन-वस्त्र आदि का अपहरण देखे तो वह राजा की ओर से शंकित, बंधुओं का विरोध करनेवाला और धन की हानि करनेवाला होता है ।

❑ स्वप्न में सूर्य-चंद्र के बिंब को निगल जाय तो दरिद्र होने पर भी समुद्र सहित पृथ्वी का मालिक बनता है ।

❑ आभूषण सोना चांदी आदि का अपहरण देखे तो उससे धन, मान का नाश होता है ।

❑ सफेद हाथी पर बैठकर नदी तट पर चावल का भोजन करते देखे तो वह जाति-हीन होने पर भी धर्म-धन को ग्रहण कर समस्त पृथ्वी को भोगता है । स्त्री के अपहरण से धन का नाश, पराभव से क्लेश होता है । गोत्रस्त्री का हरण या पराभव देखे तो बंधु का वध-बंधन होता है ।

❑ अपनी दाहिनी भुजा को सफेद सर्प से डसा देखे तो 5 दिन में हजार सुवर्ण मुद्राएँ प्राप्त करता है ।

❑ अपनी शय्या या जूतों का हरण देखे तो उसकी स्त्री मर जाती है और शरीर को पीड़ा होती है ।

❑ तालाब, समुद्र, जल से भरी नदी व मित्र की मृत्यु देखे तो उसे बिना निमित्त धन मिलता है ।

❑ देव-प्रतिमा की यात्रा, स्नान तथा पूजा आदि देखे तो हर तरह से वृद्धि होती है ।

❑ अपने हृदय तालाब में कमल की उत्पत्ति देखे तो वह कोढ़ी होकर तुरंत मरता है ।

❑ घी प्राप्त करे तो निर्मल यश मिलता है । खीर के साथ घी खाए तो भी लाभ होता है ।

❑ स्वप्न में हँसने से शोक, नाचने से बंधन व पढ़ने से क्लेश होता है ।

❑ गाय, घोड़ा, राजा, हाथी और देव को छोड़ अन्य काले रंग के स्वप्न खराब समझने चाहिए तथा कपास व नमक को छोड़ अन्य सफेद रंग के स्वप्न भी श्रेष्ठ समझने चाहिए ।

❑ स्वप्न में अपने लिए शुभ-अशुभ देखे तो उसका फल दूसरों के लिए होता है ।

❑ खराब स्वप्न देखने के बाद देव-गुरु का पूजन व यथाशक्ति तप उचित है, धर्म के प्रभाव से कुस्वप्न भी सुंदर फल देता है ।

स्वप्नों के फलों की इतनी पूर्व-भूमिका कर स्वप्न-पाठक ने कहा, `हे राजन् ! स्वप्न शास्त्र में 42 सामान्य फल देनेवाले और 30 महास्वप्न उत्तम फल देनेवाले कहे गए हैं । कुल 72 स्वप्न कहे हैं ।

अरिहंत परमात्मा व चक्रवर्ती की आत्मा गर्भ में आने पर उनकी माता, गज, वृषभ आदि चौदह महास्वप्न को देखकर जागृत होती है । अरिहंत की माता इन स्वप्नों को स्पष्टतया व चक्रवर्ती की माता कुछ धुंधले स्वप्न देखती है ।

❑ वासुदेव की माता, वासुदेव के गर्भ में आने पर इनमें से 7 स्वप्न; बलदेव की माता, बलदेव के गर्भ में आने पर चार स्वप्न देखती है । मांडलिक की माता, मांडलिक के गर्भ में आने पर इनमें से एक स्वप्न देखती है । हे देवानुप्रिय ! त्रिशला महारानी ने ये चौदह प्रशस्त महास्वप्न देखे हैं । ये स्वप्न मंगलकारी हैं । इन स्वप्नों से आपको अर्थ का लाभ, भोग का लाभ, पुत्र का लाभ, सुख का लाभ और राज्य का लाभ होगा ।

नौ मास व साढ़े-सात दिन व्यतीत होने पर त्रिशला महारानी आपके कुल में ध्वज, दीपक, मुकुट, पर्वत, तिलक समान पुत्र को जन्म देगी । वह पुत्र कुल की कीर्ति बढ़ानेवाला तथा कुल का निर्वाह करनेवाला होगा । वह पुत्र कुल में सूर्य समान, कुल में आधार-रूप, कुल के यश को बढ़ानेवाला, कुल में वृक्ष समान, कुल की परंपरा बढ़ानेवाला होगा ।

सुकोमल हाथ-पाँव के तल भागवाले, अखंड पाँच इन्द्रिय वाले, लक्षण-व्यंजन आदि गुणों से युक्त, मान-उन्मान से प्रमाण युक्त, सुंदर शारीरिक अवयववाले, चंद्र समान मनोहर आकृतिवाले, प्रिय, प्रियदर्शन व सुंदर रूपवाले पुत्ररत्न को जन्म देगी । वह बालक युवावस्था में परिपक्व ज्ञानवाला होगा । दान देने में शूर, संग्राम में पराक्रमी होगा । चारों दिशाओं का स्वामी चक्रवर्ती राजा होगा या तीन लोक का नायक धर्मचक्रवर्ती-तीर्थंकर होगा ।

हे राजन् ! त्रिशला महारानी ने जो स्वप्न देखे हैं, उन स्वप्नों का अलग-अलग फल इस प्रकार होगा–

1) चार दाँतवाला हाथी देखने से वह चार प्रकार का धर्म कहेगा ।

2) दूसरे स्वप्न में वृषभ को देखने से वह भरत क्षेत्र में बोधिबीज बोयेगा ।

3) तीसरे स्वप्न में सिंह देखने से वह भव्यजन रूपी वन को नुकसान करनेवाले काम आदि उन्मत्त हाथियों से बचाएगा ।

4) चौथे स्वप्न में लक्ष्मी देखने से वह तीर्थंकर की लक्ष्मी को भोगने वाला होगा ।

5) पाँचवें स्वप्न में फूलों की माला देखने से वह त्रिभुवन के मस्तक पर धारण करने योग्य होगा ।

6) छठे स्वप्न में चंद्र देखने से भव्य जीवों को आनंददायी होगा ।
7) सातवें स्वप्न में सूर्य देखने से भामंडल से विभूषित होगा ।
8) आठवें स्वप्न में ध्वज के दर्शन से धर्मरूपी महल के शिखर पर प्रतिष्ठित होगा ।
9) नौवें स्वप्न में पद्मसरोवर देखने से देव-रचित कमलों पर विचरण करेगा ।
10) दसवे स्वप्न में रत्नाकर के दर्शन से केवलज्ञान रुपी रत्न को प्राप्त करेंगे ।
11) ग्यारहवें स्वप्न में समुद्र को देखने से केवलज्ञान रूप रत्नाकर के समान होगा ।
12) बारहवें स्वप्न में विमान देखने से वैमानिक देवों को भी पूजनीय होगा ।
13) तेरहवें स्वप्न में रत्नों को देखने से रत्नमय गढ़ पर बैठकर देशना देंगे ।
14) चौदहवें स्वप्न में धूम्ररहित अग्नि देखने से भव्य जीव रूपी सुवर्ण को शुद्ध करनेवाले बनेंगे ।'

स्वप्न-पाठकों की इन बातों को सुनकर सिद्धार्थ महाराजा खुश हो गए । उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, `तुमने जो कहा है, वह बिल्कुल सत्य-यथार्थ है ।' इतना कहकर स्वप्नों के फलादेश को अच्छी तरह से स्वीकार किया ।

राजा ने भी उन स्वप्न-पाठकों को विपुल खाद्यसामग्री फल, वस्त्र, माला, मुकुट, अलंकार आदि प्रदान कर उनका सम्मान किया और जीवन भर चले, उतना प्रीतिदान प्रदान कर मानपूर्वक विदाई दी ।

सिद्धार्थ महाराजा पर्दे के पीछे रही त्रिशला महारानी के पास गए और वहाँ जाकर स्वप्न-पाठकों ने जो बातें कहीं, वे सब सुनाकर बोले, **`हे प्रिये ! तूने जो स्वप्न देखे हैं, उन स्वप्नों के फलस्वरूप तू तीर्थंकर को जन्म देनेवाली होगी ।'** इस बात को सुनकर त्रिशला महारानी भी खुश हो गई ।

दिव्य प्रभाव

जिस रात्रि में भगवान महावीर प्रभु त्रिशला महारानी की कुक्षि में आए उस दिन से इन्द्र के कहने से कुबेर की आज्ञा स्वीकार कर तिर्यक् जृंभक देवों ने सिद्धार्थ महाराजा के भंडार को भरपूर कर दिया । जिस धन का कोई मालिक नहीं था...जिसके मालिक मर चुके थे । ऐसा धन जिस गाँव, शहर, मार्ग, आश्रम, खेत, शून्यगृह, श्मशान, पर्वत, पर्वत की गुफा या अन्य स्थान में पड़ा था, वहाँ से उठाकर देवतागण सिद्धार्थ महाराजा के भवन में रख देते थे । इस कारण सिद्धार्थ महाराजा के भवन में सोना, चांदी, अलंकार, रत्न, उत्तम वस्त्र, अनेक प्रकार के धान्य, सप्तांग सैन्य, ऊँट आदि वाहन आदि सब कुछ बढ़ने लगे । रत्न, मोती, माणक, दक्षिणावर्त शंख, पद्मराग मणि आदि मूल्यवान वस्तुओं की भी इस प्रकार वृद्धि होने लगी कि धन-समृद्धि में कोई उनकी तुलना नहीं कर सकता था । चारों ओर से सत्कार सम्मान बढ़ने लगे । इस प्रकार चारों ओर की इस वृद्धि को देख प्रभु के माता-पिता के दिल में विचार आया, `गर्भ के प्रभाव से यह सब कुछ बढ़ा है, अतः जब इस बालक का जन्म होगा, तब इस बालक का गुणसंपन्न नाम **'वर्धमान'** रखेंगे ।'

◆ माँ के गर्भ में रहे प्रभु को एक बार मातृभक्ति से विचार आया कि मेरे हलन-चलन से माँ को कष्ट होता है, अतः मैं हलन-चलन बंद कर दूँ । इस प्रकार सोचकर गर्भ में रहे प्रभु स्थिर हो गए ।

प्रभु के स्थिर हो जाने की बात को लक्ष्य कर कवि कल्पना करता है, `मानों मोह का जय करने के लिए मंत्र स्मरण करते हैं, परम ब्रह्म के संबंध में अगोचर ध्यान कर रहे हैं अथवा किसी कल्याण-रस की सिद्धि चाहते हैं अथवा काम के निग्रह के लिए अपना रूप छिपाना चाहते हैं तथा दूसरों को भी मातृभक्ति का आदर्श

बताने के लिए प्रभु ने अपनी हलन-चलन बंद कर दी है ।

प्रभु ने तो मातृभक्ति से हलन-चलन बंद की थी परंतु इस घटना को देख माता स्वयं शोकातुर बन गई । वह सोचने लगी, `क्या किसी देव ने मेरे गर्भ का अपहरण कर लिया है ? क्या मेरा गर्भ मर गया है ? क्या मेरा गर्भ गल गया है ? अहो ! पहले तो वह कंपन करता था, अब तो बिल्कुल कंपन नहीं हो रहा है ।'

इस प्रकार सोचकर त्रिशला महारानी शोकसागर में डूब गई । वह अपनी हथेली पर मुँह रखकर आर्तध्यान करती हुई भूमि पर दृष्टि रखकर सोचने लगी, `जिस प्रकार दरिद्र के घर में रत्न नहीं रहता...निर्भागी को प्राप्त हुआ चिंतामणि रत्न टिक नहीं पाता, भूमि के दोष से मरुभूमि में कल्पवृक्ष नहीं उगता, तृषातुर पुण्यहीन को अमृतपान नहीं मिलता, उसी प्रकार निर्भागी को भी उत्तम पुत्र की प्राप्ति नहीं होती है, वास्तव में पुत्रवियोग से मैं निर्भागियों में शिरोमणि बनी हूँ ।'

◆ `हे क्रूर विधाता ! तुझे धिक्कार हो ! तूने यह क्या कर दिया ? मेरे मनोरथ रूपी वृक्ष को जड़ से ही उखाड़ दिया । अंधे को तेजस्वी आँखें देकर, वापस वे आँखें छीन लीं । मुझे मेरुशिखर पर चढ़ाकर वापस नीचे गिरा दिया । भूखे को उत्तम भोजन का थाल परोसकर उस थाल को वापस खींच ले', वैसी मेरी हालत हुई है ।'

◆ हे विधाता ! भवांतर में मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया जिस कारण तू मुझे इतनी कड़ी सजा दे रहा है ? अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके आगे बात करूँ ? अब मुझे इस राज्य की क्या जरूरत है ? इन विषयजन्य कृत्रिम सुखों से भी क्या फायदा ? इन ऊँचे-ऊँचे महलों में और सुकोमल शय्या में भी क्या रखा है ?

श्रेष्ठ स्वप्नों से सूचित उस पुत्र की प्राप्ति बिना मुझे अन्य किसी चीज की जरूरत नहीं है । लगता है शायद पूर्व भव में मैंने कोई दुष्कर्म किया होगा ! पशु-पक्षी या मनुष्य के बच्चों को उनकी माता से वियोग कराया होगा ?

◆ छोटे बछड़ों को उनकी माता से अलग कर उनके दूध पीने में अंतराय किया होगा ।

◆ बच्चों सहित चूहे के बिल को पानी से भरा होगा । बच्चों सहित पक्षियों के घोंसले तोड़ दिये होंगे ?

◆ कोयल, तोते, मुर्गे आदि के बच्चों का माँ से वियोग कराया होगा ? बालहत्या की होगी ! सपत्नियों के बालकों के प्रति दुष्ट विचार किया होगा ?

◆ किन्हीं बच्चों पर टोना किया होगा ? किसी के गर्भ को नष्ट किया होगा या स्तंभित किया होगा या इस संबंध में कोई मंत्र-औषधि का प्रयोग किया होगा ?

◆ पूर्व भव में मैंने शील का भंग किया होगा ? ऐसा ही कोई पाप किया होगा जिसका फल अब मैं भुगत रही हूँ ।

◆ शास्त्र में कहा है, **'कुशीलवृत्ति, शीलभंग व दुराचार के फलस्वरूप भवांतर में वंध्यत्व, कुप्रसूति, विषकन्यापन प्राप्त होता है, अतः जीवों को शील धर्म में दृढ़ रहना चाहिए ।'**

◆ रत्नों से भरपूर ऐसे समुद्र में छिद्रवाला घड़ा भरा नहीं जाता है, उसमें समुद्र का दोष नहीं है ।

◆ वसंत ऋतु में सारी वनराजि खिल उठती है, परंतु केरड़े का वृक्ष खिलता नहीं है तो उसमें वसंत ऋतु का दोष नहीं है ।

◆ फल से लदे वृक्ष की झुकी डालियों पर से एक वामन फल प्राप्त नहीं कर पाता है, उसमें उस वृक्ष का दोष नहीं है ।

◆ जो सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, उसे देखकर भी उल्लू अपनी आँखें बंद कर लेता है तो उसमें सूर्य का कोई दोष नहीं है । इसी प्रकार मेरे दुर्भाग्य से मेरा गर्भ कुशल नहीं है तो इसमें दूसरों का कोई दोष नहीं है, दोष मेरा ही है । अतः अब मेरे लिए जीना भी निरर्थक ही है ।

त्रिशला के इस करुण विलाप को सुनकर सभी सखियाँ भी रुदन करने लग गईं । वे भी कहने लगीं, `अहो ! यह क्या हो गया ? निष्कारण ही भाग्य क्यों रूठ गया ?' हे कुलदेवियो ! इस समय आप कहाँ चली गईं ? आपने महारानी के गर्भ की सँभाल क्यों नहीं की ?

त्रिशला की सखियाँ ज्यों ज्यों कुशलता के बारे में पूछती हैं, त्यों-त्यों पुत्र-वियोग का दुःख ज्यादा अखरता है ।

दुःख का भार बढ़ने से त्रिशला मूर्च्छित हो गई । सखियों ने शीतल-जल, चंदन आदि का उपचार किया । पूरा परिवार विलाप करने लगा । यह क्या हो गया ? निष्कारण वैरी-विधाता ने यह क्या कर डाला । कुलवृद्धाएँ इस विघ्न की शांति के लिए शांति-कर्म, पुष्टिकर्म, मंत्र-जाप आदि करने लगीं । ज्योतिषी आदि को बुलाकर प्रश्न पूछे जाने लगे । ऊँची आवाज से बोलना भी बंद हो गया ।

सिद्धार्थ महाराजा और सभी मंत्रीगण आदि भी शोकातुर हो गए । उस समय सभी गीत-गान नृत्य आदि भी बंद हो गए । अपने अवधिज्ञान के बल से जब प्रभु ने यह सब स्थिति देखी तो वे सोचने लगे, `अहो !

यह क्या हो गया ? मोह की गति ही विचित्र है जैसे **'दुष्'** धातु का गुण करने पर **'दोष'** होता है, उसी प्रकार माता के हित के लिए किया गया कार्य भी दोष के लिए हो गया ।'

भावी कलिकाल का यह लक्षण है-**'जैसे-नारियल के पानी में डाला गया कपूर भी पीने वाले की मौत का कारण बन जाता है । उसी प्रकार पाँचवें आरे में जीवों के लिए किया गया गुण भी दोषकारक बनेगा ।'** इस प्रकार विचार कर माँ की खुशी के लिए गर्भ में रहे प्रभु ने अंगुली के एक भाग को थोड़ासा हिलाया । गर्भ में हुई इस हलन-चलन से त्रिशला माता प्रसन्न हो गई । कमल की भाँति उसका मुख-मंडल खिल उठा । वे बोलीं, `अहो ! मेरे गर्भ का न तो अपहरण हुआ है और न ही मेरा गर्भ गला है । पहले कंपित नहीं होता था, अब कंपित होता है ।'

पुनः बोलीं, `तीन भुवन में मैं धन्य हूँ, मेरी भाग्यदशा अब जागृत हो गई है । मैंने मोहवश होकर अनेक कुविकल्प किये । मेरा जीवन धन्य व प्रशंसनीय है, मेरा जन्म कृतार्थ है । जिनेश्वर देव तथा गोत्रदेवी की मुझ पर कृपा है । जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष की, की गई आराधना सफल हुई । त्रिशलादेवी को प्रसन्न देखकर सभी सखियाँ व दासियाँ भी खुश हो गईं ।

कुलवृद्धाएँ भी खुश हो गईं और शुभ आशिष देने लगीं । कुलांगनाएँ धवल-मंगल गीत गाने लगीं...समस्त राजकुल आनंदमय हो गया । गर्भकाल के साढ़े छह मास बीतने पर गर्भ में रहे प्रभु ने अभिग्रह धारण किया कि **'जब तक मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा अंगीकार नहीं करूंगा ।'** गर्भ में रहने पर भी माता को मेरे प्रति इतना स्नेह है तो जन्म के बाद कितना होगा ?' यह समझकर तथा दूसरों

को भी माता-पिता की भक्ति बतलाने के लिए प्रभु ने यह अभिग्रह धारण किया ।

कहा है, **'पशुओं को माता का संबंध स्तनपान करे तब तक, अधम मनुष्य को माता का संबंध शादी न हो तब तक, मध्यम पुरुष को माता का संबंध जब तक वह गृहकार्य करे तब तक और उत्तम पुरुष तो माता को तीर्थतुल्य मानकर जीवनपर्यंत सेवा करते हैं ।'**

त्रिशला महारानी स्नान, पूजन तथा कौतुक मंगल आदि कर आभूषणों से अलंकृत हुई । त्रिशला महारानी अपने गर्भ के रक्षण के लिए अतिउष्ण, अतिशीत, अतिकषैले, अतिखट्टे, अतिखारे, अति मीठे, अति-कड़वे पदार्थ नहीं लेती है । सर्व ऋतु में सुखकारी आहार लेकर गर्भ का पोषण करने लगी, क्योंकि अतिशीत आदि पदार्थ गर्भ को नुकसान करते हैं ।

◆ अतिशीत आदि पदार्थों में कुछ वायु करनेवाले, कुछ पित्त करनेवाले और कुछ कफ करनेवाले होते हैं ।

वाग्भट्ट ने कहा है, `वायुवाले पदार्थ खाने से गर्भ कुब्ज, अंध, जड़ तथा वामन होता है । पित्तवाले पदार्थ से गर्भ टालवाला तथा पीतवर्णी होता है तथा कफवाले पदार्थ लेने से गर्भ कोढ़ी तथा पांडुरोग वाला होता है । अति खट्टे पदार्थ से नेत्र को नुकसान होता है । अति ठंडे पदार्थ से वायु कुपित होता है, अति उष्ण पदार्थ से बल का नाश होता है तथा विषय सेवन से गर्भ के प्राण नष्ट होते हैं ।

मैथुनसेवन, लंबी-यात्रा, प्रतिकूल वाहन में बैठने, धक्का लगने, भीड़ में दबने, ज्यादा दौड़ने, टकराने, विषयसेवन, ज्यादा उपवास करने, मल-मूत्र रोकने, अति रुक्ष, कड़वा, तीखा खाने, अति भोजन से, अतिरोग-शोक करने, अतिसार, वमन, विरेचन, झूले में झूलने तथा अजीर्ण से प्रायः गर्भ नाल से अलग

हो जाता है ।

`वर्षा ऋतु में नमक, शरद् ऋतु में पानी, हेमंत में गाय का दूध, शिशिर में खट्टा भोजन, बसंत में घी तथा गर्मी में गुड़ का भोजन अमृत है ।

त्रिशला महारानी रोग, शोक, भय, मोह तथा परिश्रम से रहित सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगी ।

सुश्रुत वैद्यक ग्रंथ में कहा है-**`गर्भवती स्त्री दिन में ज्यादा निद्रा ले तो गर्भ निद्रालु या आलसी होता है । आँखों में बारबार अंजन डालने से गर्भ अंधा होता है । ज्यादा रोने से गर्भ विकृत आँखवाला होता है । ज्यादा स्नान व लेप से दु:शील होता है, तैल मर्दन से कोढ़ी होता है, दौड़ने से चंचल स्वभाव वाला, हँसने से श्याम होठ-दाँत व जीभवाला, ज्यादा आवाज सुनने से बहरा होता है । ज्यादा बोलने से वाचाल होता है । पंखे आदि से वायु का अतिसेवन करने से गर्भ उन्मत्त होता है ।'**

त्रिशलादेवी इन सब बातों का ध्यान रखती है । वृद्ध स्त्रियाँ त्रिशला को कहती हैं, `हे देवी ! आप धीरे-धीरे चलो । धीरे-धीरे बोलो, क्रोध मत करो, पथ्य वस्तु का सेवन करो, ज्यादा जोर से न हँसो । नाड़ा कसकर न बाँधो, खुले आकाश में न बैठो, ज्यादा ऊपर-नीचे मत जाओ ।'

त्रिशला महारानी समय पर आरोग्य पोषक भोजन लेती है । कोमल शय्या व आसन का सेवन करती है । गर्भ के प्रभाव से त्रिशला महारानी को अनेक उत्तम दोहद पैदा होते हैं । त्रिशला महारानी को विचार आया । `सभी जीवों की हिंसा बंद कराऊँ' दान दूँ ! गुरुजनों की पूजा करूँ ! तीर्थंकरों की अंगरचना कराऊँ । संघ का वात्सल्य करूँ, सिंहासन पर बैठूँ और मेरे दोनों ओर चामर ढुलाऊँ । सभी पर आज्ञा करूँ, राजा

आदि मेरे पादपीठ को नमस्कार करें । सर्वत्र पताकाएँ लगी हों, वाद्ययंत्रों से दिशाएँ गूँज रही हों, उस समय मैं हाथी पर बैठकर चलूँ...जनसमुदाय जय-जय शब्द करे...मैं खुश होकर उद्यान में पवित्र क्रीड़ा का आनंद लूँ ।'

सिद्धार्थ महाराजा ने त्रिशला महारानी के सभी मनोरथ पूर्ण किये । त्रिशला महारानी सूखपूर्वक गर्भ वहन करने लगी ।

श्री महावीर जन्म वांचन

तिण काले समये चैत तेरस अजुआली, दिशि निर्मल पवनह, अनुकूले रज टाली,
सवि शकुन प्रदक्षिणा, मेदिनी सवि निष्पन्न, जनपद सवि सुखिओ, मुदित लोक सुप्रसन्न ।।6।।

उत्तरा फाल्गुणी योगे, चंद्र थयो शुभ लग्न, उच्च स्थानी ग्रह सग, मज्झरयणी सुख मग्न ।
जिन जन्म्या निराबाध, व्रणनाणी गुणखाण, ज्ञानविमले ए, भाख्युं चोथुं वखाण ।।7।।

अर्थ : उस काल और उस समय में चैत्र सुदी त्रयोदशी के शुभ दिन प्रभु के गर्भ के नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत हुए थे । प्रसंगानुसार सभी तीर्थंकरों का गर्भकाल कहते हैं ।

1)	ऋषभदेव	9 मास	4 दिन	4)	अभिनंदन स्वामी	8 मास	28 दिन
2)	अजितनाथ	8 मास	25 दिन	5)	सुमतिनाथ	9 मास	6 दिन
3)	संभवनाथ	9 मास	6 दिन	6)	पद्मप्रभ	9 मास	6 दिन

7)	सुपार्श्वनाथ	9 मास	19 दिन	16)	शांतिनाथ	9 मास	6 दिन
8)	चंद्रप्रभ	9 मास	7 दिन	17)	कुंथुनाथ	9 मास	5 दिन
9)	सुविधिनाथ	8 मास	26 दिन	18)	अरनाथ	9 मास	8 दिन
10)	शीतलनाथ	9 मास	6 दिन	19)	मल्लिनाथ	9 मास	7 दिन
11)	श्रेयांसनाथ	9 मास	6 दिन	20)	मुनिसुव्रतस्वामी	9 मास	8 दिन
12)	वासुपूज्य	8 मास	20 दिन	21)	नमिनाथ	9 मास	8 दिन
13)	विमलनाथ	8 मास	21 दिन	22)	नेमिनाथ	9 मास	8 दिन
14)	अनंतनाथ	9 मास	6 दिन	23)	पार्श्वनाथ	9 मास	6 दिन
15)	धर्मनाथ	8 मास	26 दिन	24)	महावीर स्वामी	9 मास	7 दिन

उस समय सभी दिशाएँ दिग्दाह आदि दोषों से रहित निर्मल थीं, मंद-मंद गति से ठंडा पवन बह रहा था, धूल दूर हो जाने से दिशाएँ अंधकार रहित थीं, क्योंकि प्रभु के जन्म-समय सर्वत्र उद्योत होता है। कौए, उल्लू आदि पक्षियों के जय-जय शब्द सभी उत्तम शकुन के सूचक थे, दक्षिणावर्त पवन सुगंध फैलाता हुआ बह रहा था, सारी पृथ्वी धान्य से निष्पन्न थी, सभी देशों के सभी लोग सुखी थे और खुश होकर लोग गीत-गान कर आनंदमग्न थे।

उस समय उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चंद्र का योग हुआ था, उस शुभ वेला में सभी सातों ग्रह उच्च स्थान में थे।

सूर्य आदि ग्रह मेष आदि में हों तो उच्च के कहलाते हैं और 10 अंश आदि के हों तो परम उच्च के कहलाते हैं ।

1. सूर्य मेषराशि में 10 अंश का परमोच्च होता है । 2. चंद्र वृषभराशि में 3 अंश का परमोच्च होता है । 3. मंगल मकरराशि में 28 अंश का परमोच्च होता है । 4. बुध कन्याराशि में 15 अंश का परमोच्च होता है । 5. गुरु कर्कराशि में 5 अंश का परमोच्च होता है । 6. शुक्र मीनराशि में 27 अंश का परमोच्च होता है । 7. शनि तुलाराशि में 20 अंश का परमोच्च होता है ।

प्रभु के जन्म-समय सभी ग्रह परम उच्च स्थिति में थे । जन्म-समय में एक ग्रह उच्च हो तो सुखी, दो ग्रह उच्च हों तो भोगी, तीन ग्रह उच्च हों तो धनिक, चार ग्रह उच्च हों तो नेता, पाँच ग्रह उच्च हों तो मांडलिक राजा और सात ग्रह उच्च हों तो चक्रवर्ती होता है । **अथवा**

तीन ग्रह उच्च हों तो राजा, पाँच ग्रह उच्च हों तो वासुदेव, छह ग्रह उच्च हों तो चक्रवर्ती और सात ग्रह उच्च के हों तो तीर्थंकर होता है ।

प्रभु के जन्म-समय सातों ग्रह उच्च के थे । ऐसी उत्तम लग्नवेला में मध्य रात्रि के समय, जब सभी सुख में मग्न थे, तब माता ने तीन ज्ञान से युक्त व अनंत गुणों की खान ऐसे प्रभु को किसी भी प्रकार की पीड़ा बिना जन्म दिया ।

इस प्रकार श्री ज्ञानविमलसूरि ने पर्युषणा कल्पसूत्र का चौथा व्याख्यान कहा, जिसे सद्भावपूर्वक सुनने व पढ़नेवाले का कल्याण होता है ।

चौथा व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

व्याख्यान 5

देवकृत जन्माभिषेक

तारक तीर्थंकर परमात्माओं का जब जन्म होता है, तब समस्त प्राणी-सृष्टि को सुखानुभूति होती है। यहाँ तक कि नरक के व स्थावर जीवों को भी क्षण भर के लिए शांति मिलती है। अमावस्या के अंधकार से भी अधिक गाढ़ अंधकार वाले नरकों में भी क्षणभर के लिए प्रकाश हो जाता है। तारक तीर्थंकर परमात्मा का जन्म **'अंतिम जन्म'** है, उनके जन्मदिन की आराधना से हमारा भी कल्याण होता है, इस कारण उनका जन्म, जन्मकल्याणक कहलाता है।

जैसे ही मध्यरात्रि में त्रिशला महारानी ने महावीर प्रभु को जन्म दिया, उसके साथ ही संपूर्ण जगत् में चारों ओर प्रकाश-प्रकाश फैल गया। नरक के जीवों को भी क्षण भर के लिए शाता उत्पन्न हुई। अचेतन ऐसी दिशाएँ भी मानों प्रसन्न हो गईं, पृथ्वी ने भी संतोष का श्वास लिया। पवन भी अनुकूल बहने लगा।

प्रभु के जन्म के साथ ही 56 दिक्कुमारिकाओं के आसन कंपित हुए और वे तत्काल ही अपना आचार समझकर प्रभु के पास आईं।

◆ अधोलोकवासिनी भोगंकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, पुष्पमाला और अनिंदिता ये आठ कुमारिकाएँ आकर माता सहित जिनेश्वर को प्रणाम कर ईशान कोण में प्रसूतिगृह बनाती हैं और **संवर्त्तक वायु द्वारा योजन प्रमाण भूमि को साफ करती हैं।**

◆ ऊर्ध्वलोकवासिनी मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, वारिषेणा और

बलाहका ये आठ कुमारिकाएँ आकर सुगंधित जल व पुष्पों की वृष्टि करती हैं ।

◆ पूर्वरुचक द्वीप से नंदा, उत्तरनंदा, आनंदा, नंदिवर्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता- ये आठ कुमारिकाएँ आकर हाथ में दर्पण धारण करती हैं ।

◆ दक्षिण रुचक द्वीप से समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीमती, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुंधरा ये आठ कुमारिकाएँ आकर स्नान के लिए जल से भरे कलशों को हाथ में लेकर गीतगान करती हैं ।

◆ पश्चिम रुचक द्वीप से इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा और शीता ये आठ कुमारिकाएँ आकर हाथ में पंखा लेकर खड़ी रहती हैं ।

◆ उत्तर रुचक द्वीप से अलंबुसा, मितकेशी, पुंडरीका, वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, श्री और ह्री ये आठ कुमारिकाएँ आकर हाथ में चामर वींजती है ।

◆ रुचक पर्वत की विदिशा में से चित्रा, चित्रकनका, शतेरा और वसुदायिनी ये चार कुमारिकाएँ प्रभु के आगे दीप धारण करती हैं ।

◆ रुचक द्वीपवासिनी रूपा, रूपासिका, सुरूपा और रूपकावती ये चार कुमारिकाएँ आकर प्रभु के चार अंगुल से नाल को छेदकर खड्डे में डालती हैं और उसे वैडूर्य रत्नों से भरकर उसके ऊपर पीठिका बनाती हैं । उसके बाद पूर्व, उत्तर व दक्षिण दिशा में तीन कदली-गृह बनाती हैं । उसके बाद दक्षिण दिशा के कदलीगृह में पुत्र सहित माता को बिठाकर सुगंधित तेल से मालिश करती हैं । पूर्व दिशा के कदलीगृह में ले जाकर दोनों को स्नान कराकर विलेपन कर सुंदर वस्त्र अलंकार पहिनाती हैं ।

◆ उसके बाद उत्तर कदली गृह में अरणि-काष्ठ से अग्नि उत्पन्न कर अग्नि में चंदन जलाकर उसकी

राख से चार दिक् कुमारिकाएँ प्रभु व प्रभु की माता के हाथ में रक्षापोटली बाँधती हैं और **'पर्वतायुर्भव'** कहकर प्रभु व प्रभु की माता को उनके नियतस्थान में रखकर अपने-अपने स्थान में चली जाती हैं। इन दिक्कुमारिकाओं के प्रत्येक के साथ 4000 सामानिक देव, चार महत्तरा, 16000 अंगरक्षक देव, 7 सेना व 7 सेनाधिपति व अन्य महर्द्धिक-देव होते हैं।

◆ परमात्मा का जन्म होने के साथ ही सौधर्म इन्द्र का सिंहासन कंपित होता है। अपने अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा चरम तीर्थपति के जन्म को जानकर इन्द्र महाराजा ने हरिणेगमेषी देव को सुघोषा घंट बजाने का आदेश दिया।

हरिणेगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा को स्वीकार कर सुघोषा घंट बजाया, उस घंट के बजने के साथ बत्तीस लाख विमानों में रहे हुए घंट भी स्वतः बज उठे। इन्द्र की आज्ञा से पालक नाम के देव ने 1 लाख योजन प्रमाण का पालक विमान तैयार किया। इन्द्र महाराजा बीच में बैठे। फिर अपने आगे अग्र महिषियों के आठ, बायीं ओर सामानिक देवों के 84000, दायीं ओर अभ्यंतर पर्षदा के देवों के 12000, मध्यम पर्षदा के देवों के 14000, बाह्य पर्षदा के देवों के 16000, इस प्रकार कुल 42000 फिर सात सेनापतियों के सात और चारों दिशाओं में आत्म-रक्षक देवों के 84-84000 भद्रासन रखे गए। वे सभी देव अपने अपने आसन पर बैठ गए...इसके बाद वह विमान पृथ्वी लोक की ओर बढ़ा।

प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाने के लिए कुछ देव इन्द्र की आज्ञा से, कुछ देव मित्र-देव के आग्रह से, कुछ देव अपनी देवियों की प्रेरणा से, कुछ देव अपनी भावना से, कुछ देव कुतूहल से तथा कुछ देव इन्द्र की भक्ति से आगे बढ़े।

विविध आकार के वाहनों में बैठकर आ रहे देवताओं से विशाल आकाश भी छोटा हो गया और वाद्य यंत्रों की आवाज से आकाश-मंडल भी गूँज उठा । आनंदित हुए वे देव एक दूसरे देव को पीछे रखने के लिए प्रयत्न करने लगे । प्रमोद से बातें करते हुए वे देव आगे बढ़ने लगे । इस प्रकार वे सभी देवता मेरु पर्वत पर आए ।

सौधर्म इन्द्र अपने पालक विमान को नंदीश्वर द्वीप पर ले गया । वहाँ जाकर उन्होंने अपने विमान को संक्षिप्त किया और इन्द्र प्रभु के जन्मगृह में आया । प्रभु और प्रभु की माता को तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार-वंदन करके बोला, ``हे रत्नकुक्षि धारिणी ! हे जगत्दीपिका ! मैं शक्र नाम का देवेन्द्र हूँ ! पहले देवलोक से आया हूँ और चरम तीर्थपति का मैं जन्म-महोत्सव करूंगा, अतः आप डरें नहीं ।''

इस प्रकार कहकर अवस्वापिनी निद्रा देकर प्रभु की माता को निद्राधीन कर दिया...फिर प्रभु का एक प्रतिबिंब बनाकर प्रभु की माता के पास रख दिया ।

प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जाने के लिए इन्द्र ने अपने पाँच रूप किये, एक रूप के द्वारा इन्द्र ने अपने दोनों हाथ के संपुट में प्रभु को ग्रहण किया । दो रूपों द्वारा दोनों ओर चामर वींजने लगा, एक रूप से प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण किया और एक रूप से हाथ में वज्र लेकर चलने लगा ।

(इन्द्र द्वारा भी पाँचरूप करना, प्रभु-भक्ति व बहुमान का प्रतीक है । इससे ध्यान रखना चाहिए कि प्रभु की प्रतिमा वजन में कम या छोटी भी क्यों न हो, उसे बहुमान पूर्वक दोनों हाथों से ही उठाना चाहिए ।)

इन्द्र महाराजा प्रभु को मेरुपर्वत के शिखर पर आए पांडुकवन में ले गए । मेरुपर्वत पर दक्षिण दिशा में अतिपांडुकंबला नाम की शिला पर प्रभु के जन्माभिषेक के लिए बैठे । उस समय वैमानिक के 10, भवनपति

के 20, व्यंतर के 32 और ज्योतिष के दो इस प्रकार कुल 64 इन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। इन्द्र की आज्ञा से आभियोगिक देवताओं ने अभिषेक की सामग्री तैयार की।

1) सोना 2) चांदी, 3) रत्न 4) सोना-चांदी 5) रत्न-चांदी 6) सोना-चांदी व रत्न के मिश्रणवाली 7) सोना-रत्न तथा 8) मिट्टी इस प्रकार आठ जातिवाले 1008 कलश बनाये। ये कलश 25 योजन ऊँचे 12 योजन चौड़े और 1 योजन की नलिकावाले थे।

इस प्रकार दर्पण, रत्न करंडक, सुप्रतिष्ठक, थाल, कटोरी, पुष्प, चंगेरी आदि भी कलश की तरह आठ जाति के 1008-1008 बनाये।

उसके बाद अच्युतेन्द्र ने आभियोगिक देवों के पास मागध आदि तीर्थों से मिट्टी, क्षीर-सागर, गंगा-नदी, पद्म-द्रह आदि से जल तथा पद्मद्रह से पद्मकमल व वर्षधर पर्वत, वैताढ्य वक्षस्कार आदि पर्वतों से सफेद सरसों के फूल तथा अनेक औषधि आदि सामग्री मँगवाई।

अभिषेक के समय जल से भरे हुए घड़ों को छाती से लगाकर जब वे देवता अभिषेक करते थे, तब ऐसा लगता था-मानों ये देव संसार-सागर से पार उतरने के लिए प्रयत्नशील हों। अभिषेक करते समय वे देवता ऐसे लगते थे-मानों भाववृक्ष का सिंचन कर रहे हैं, मानों अपने कर्ममैल को धो रहे हैं...अथवा धर्मरूपी महल पर कलश स्थापित कर रहे हैं।

शंका का समाधान

अत्यंत ही लघुकाय वाले परमात्मा पर होने वाले करोड़ों देवताओं के जलाभिषेक को देखकर इन्द्र के मन में शंका उत्पन्न हुई, **'प्रभुजी का देह तो इतना छोटासा है। वे नदी के प्रवाह की भाँति इस जल-**

प्रवाह को कैसे सहन कर पायेंगे ?'

प्रभु ने अपने अवधि-ज्ञान के बल से इन्द्र के मन में रही शंका को जाना । तुरंत ही इन्द्र की शंका के निवारण के लिए प्रभु ने अपने दाएँ पैर के अँगूठे का मेरु पर्वत को स्पर्श कराया । प्रभु के अँगूठे के स्पर्श के साथ ही वह मेरु पर्वत काँपने लगा । पर्वत के शिखर टूटने लगे और ब्रह्माण्ड का विस्फोट हो, ऐसी आवाज होने लगी ।

प्रभु के जन्माभिषेक के महामंगलकारी प्रसंग में इस भयंकर विस्फोट की आवाज को सुनकर इन्द्र ने सोचा, **'इस महामंगलकारी प्रसंग में यह विघ्न किसने खड़ा किया है ?'** इन्द्र ने अवधिज्ञान के बल से देखा, `यह तो प्रभु ने ही मेरी शंका के निवारण के लिए अपने अँगूठे का मेरु को स्पर्श किया है ।' यह जानकर इन्द्र ने प्रभु से क्षमायाचना की ।

`अहो ! प्रभु तो अनंत बली हैं, अल्पज्ञ ऐसा मैं, अचिंत्य शक्तिशाली ऐसे परमात्मा की शक्ति को पहिचान नहीं पाया । प्रभु की काया भले ही छोटी है, परन्तु प्रभु तो अमाप शक्ति के भंडार हैं ।' सभी इन्द्रों व देवताओं ने प्रभु का जन्माभिषेक किया । अंत में, ईशानेन्द्र ने प्रभु को अपनी गोद में लिया और सौधर्म इन्द्र ने वृषभ का रूप कर अपने शृंगों में जल भरकर प्रभु का अभिषेक किया ।

(इन्द्र द्वारा वृषभ का रूप करना, यह उनकी अत्यंत ही नम्रता को सूचित करता है । स्वयं तीन ज्ञान के धनी और 32 लाख विमानों के अधिपति इन्द्र भी प्रभु के सामने एक बैल का रूप धारण करते हैं ।)

परमात्मा के कुल 1 करोड़ 60 लाख अभिषेक इस प्रकार हुए-आठ जाति के कुल 8000 कलशों से 8-8 बार अभिषेक होने पर 64000 कलश हुए । ऐसे 250 अभिषेक हुए 64000 x 250 = 1,60,00,000 ।

चंद्र-सूर्य बिना कुल इन्द्र	62
ढाई द्वीप के चंद्र-सूर्य 66-66	132
सामानिक देवों का	1
त्रायस्त्रिंशत् देवों के	33
पार्षदिक देवों के	3
आत्मरक्षक देवों के	1
लोकपाल के	4
सात सेनाधिपति के	7
प्रकीर्ण देवों के	1
इंद्राणी के	5
आभियोगिक देवों के	1
	250

देवताओं को विबुध (होशियार) भी कहा जाता है क्योंकि उन्होंने प्रभु को स्नान कराने के बहाने अपनी आत्मा के ही कर्ममैल को धोया है। अभिषेक के बाद उत्तम वस्त्रों से प्रभु के देह को पोंछकर कीमती वस्त्रों व अलंकारों से प्रभु को अलंकृत किया गया। उसके बाद उन देवों ने प्रभु के सामने नाच-गान और आरती-मंगलदीप किया।

प्रभु के देवकृत जन्माभिषेक महोत्सव की समाप्ति के बाद इन्द्र महाराजा प्रभु को लेकर पुनः माता के पास आए। माता के पास प्रभु को रखकर अपनी शक्ति द्वारा प्रभु के प्रतिबिंब व माता को दी गई अवस्वापिनी

निद्रा दूर कर दी । दो कुंडल, रेशमी वस्त्रों की दो जोड़ी, पुष्प व रत्नों की माला से युक्त सुवर्ण की गेंद प्रभु के पास रखी । उस समय इन्द्र ने 32 करोड़ स्वर्ण-रत्नों की वृष्टि की और आभियोगिक देवों ने घोषणा की कि जो कोई प्रभु या प्रभु की माता का अशुभ करेगा, उसका शिरच्छेद कर दिया जाएगा । तत्पश्चात् इन्द्र ने प्रभु के अँगूठे में अमृत का सिंचन किया । फिर नंदीश्वर द्वीप पर जाकर इन्द्र आदि देवों ने प्रभु के जन्म-कल्याणक निमित्त अष्टाह्निका-महोत्सव किया । जिस रात्रि में प्रभु का जन्म हुआ, उस रात्रि में कुबेर की आज्ञा से तिर्यग्जृंभक देवों ने सिद्धार्थ राजा के भवन में सोने, चांदी, हीरा, वस्त्र, आभरण, धान्य, पुष्प, पत्र, फल, सुगंधित चूर्ण आदि पदार्थों की वृष्टि की ।

सिद्धार्थ राजा कृत जन्म-महोत्सव

◆ प्रातःकाल होने पर प्रियंवदा दासी ने जाकर सिद्धार्थ महाराजा को पुत्रजन्म की बधाई दी । पुत्र-जन्म की बात सुनकर सिद्धार्थ महाराजा हर्ष से गद्गद हो गए...उनकी रोमराजि विकस्वरित हो गई । उन्होंने राजचिह्न मुकुट को छोड़कर शरीर पर रहे हुए सभी मूल्यवान अलंकार प्रियंवदा दासी को भेंट कर दिये और जीवन पर्यन्त के लिए उसका दारिद्र्य दूर कर दिया ।

प्रातःकाल होने पर सिद्धार्थ राजा ने नगर के आरक्षकों को बुलाकर कहा, ``हे देवानुप्रियो ! तुम जल्दी जाकर क्षत्रियकुंड नगर में रहे सभी कैदियों को मुक्त कर दो ।''

(युवराज के राज्याभिषेक, दुश्मन-राज्य पर विजय और राजपुत्र के जन्म, इन तीन प्रसंगों पर आजीवन कैदियों को मुक्त किया जाता था ।)

तुम जाकर वजन और माप में अभिवृद्धि करो अर्थात् ग्राहक जितना माँगे, व्यापारी उससे अधिक दे । नगर में जहाँ तीन, चार या ज्यादा रास्ते मिलते हों वहाँ तथा राजमार्ग, छोटे मोहल्ले आदि स्थलों पर जल का छिड़काव करो, कचरे को दूर करो, गोबर लिपवाओ । मार्ग के मध्य भाग में, दुकानों के मार्ग और बाजार में मंच (Stage) बँधा दो, जहाँ बैठकर लोग महोत्सव देख सकें । रंग-बिरंगी तथा सिंह आदि के चित्रोंवाली ध्वजा-पताकाओं से नगर को सुशोभित करो । दीवारों पर सफेदी कराओ । गोशीर्ष चंदन, रस युक्त लाल चंदन से दीवारों पर थापे लगवाओ ।

स्थान-स्थान पर चंदनकलश स्थापित करो । जगह-जगह पर तोरण बँधवाओ । फूलमालाओं से नगर को सजाओ । पंचवर्णी सुगंधित फूलों के ढेर करो । कालागरु आदि सुगंधित द्रव्यों से नगर को सुगंधमय बना दो । नाचनेवाले नृत्यकार, खेल करनेवाले मल्ल-योद्धा, मुष्टि-युद्ध में निष्णात, विदूषक, सुंदर कथाकार, मंगलश्लोक पाठक, बाँस पर खेलनेवाले, चित्रकार, ताली बजानेवाले, वीणा आदि वाद्ययंत्र बजानेवालों से सारे नगर को उत्सवमय बना दो ।

खेत में हल चलाना, गाड़ी चलाना, अनाज दलना आदि पर प्रतिबंध लगा दो । इस प्रकार संपूर्ण नगर को महोत्सवमय बना दो । मेरी इस आज्ञा का अच्छी तरह से पालन होना चाहिए ।'' राज-सेवकों ने राजा की यह आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की । क्षत्रियकुंड नगर में जाकर उन राजसेवकों ने **'कैदियों को बंधन मुक्त करना'**-इत्यादि राजा की सभी आज्ञाओं का पालन किया, और अंत में आकर राजा को निवेदन किया, ``हे राजन् ! आपकी हर आज्ञा का अच्छी तरह से पालन हुआ है ।''

उसके बाद सिद्धार्थ महाराजा व्यायामशाला में गये और वहाँ जाकर उन्होंने शरीर को पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकार के व्यायाम किये। व्यायाम के बाद मर्दन करने में कुशल सेवकों ने राजा के शरीर की अच्छी तरह से मालिश की। उसके बाद राजा ने न अधिक ठंडे, न अधिक गर्म ऐसे जल से स्नान किया। स्नान के बाद अपने शरीर पर चंदन आदि का विलेपन किया...फिर मूल्यवान वस्त्र व अलंकार धारण किये। उसके बाद हर प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि, सेना, वाहन, वाद्य-यंत्र तथा अन्य उत्कृष्ट सामग्री से युक्त सिद्धार्थ महाराजा ने दस दिन का महोत्सव किया। महोत्सव दरम्यान लेनेवाली सभी वस्तुओं पर से कर माफ कर दिया। प्रजाजन से जो प्रतिवर्ष टैक्स (Tax) लिया जाता था, वह भी माफ कर दिया। सभी लोगों को ऋण-मुक्त कर दिया अर्थात् सभी का ऋण राजा ने अपनी ओर से चुकाया। जिसको जो वस्तु चाहिए, वह वस्तु व्यापारी के पास से ले सकता था और उसका मूल्य राजा की ओर से चुका दिया जाता था। सभी राज-दंड माफ कर दिये गये। राजपुरुष किसी को किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं देते थे।

श्री आचारांग सूत्र में कहा है कि प्रभु महावीर के माता-पिता श्री पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा के श्रावक थे। उन्होंने इन दिनों में सैकड़ों, हजारों, लाखों स्थलों में जिनपूजा-भक्ति की और दूसरों के द्वारा करवाई। राजा ने इन दिनों में खूब दान दिया। इन दिनों में हजारों लोगों ने राजा को पुत्रजन्म की बधाई दी। राजा ने भी अनेक को खूब प्रीति-दान दिया। इस प्रकार महोत्सव दरम्यान प्रभु के माता-पिता ने इस प्रकार की कुल-मर्यादा की। तीसरे दिन चंद्र-सूर्य के दर्शन का महोत्सव किया, जिसकी विधि इस प्रकार है-

जन्म से लेकर दो दिन व्यतीत होने पर तीसरे दिन गृहस्थ गुरु (पवित्र विधिकारक) अरिहंत की प्रतिमा के पास चांदी के चंद्र की मूर्ति स्थापित करे, फिर पूजा व स्नान आदि से पवित्र बनी माता व पुत्र को, आकाश

में चंद्रमा का उदय होने पर चंद्र-दर्शन करावे और **'अर्हं चन्द्रोऽसि, नक्षत्रपतिरसि सुधाकरोसि, औषधिगर्भोऽसि अस्य कुलस्य वृद्धिं कुरु कुरु स्वाहा'** यह मंत्र बोले ।

फिर पुत्रसहित माता ने गुरु को नमस्कार किया । गुरु ने भी आशीर्वाद देते हुए कहा, ``समस्त औषधियों से मिश्रित किरण राशिवाला, समस्त आपत्तियों को दूर करने में समर्थ यह चंद्रमा प्रसन्न होकर सदैव तुम्हारे वंश की वृद्धि करे ।'' इसी प्रकार सूर्यदर्शन कराया गया । उसमें मूर्ति सोने या तांबे की रखी जाती है । सूर्यदर्शन के बाद **'अर्हं सूर्योऽसि दिनकरोऽसि, तमोपहोऽसि, सहस्त्रकिरणोऽसि, जगच्चक्षुरसि प्रसीद प्रसीद'** मंत्र बोला गया । फिर गुरु ने आशीर्वाद देते हुए कहा, ``समस्त देवों और असुरों के लिए वंदनीय, सभी अपूर्व कार्य करनेवाला जगत् के नेत्र समान यह सूर्य, पुत्र सहित तुम्हें मंगल प्रदान करे ।''

इस प्रकार सूर्य-चंद्र दर्शन की विधि जाननी चाहिए । वर्तमान में बालक को मूर्ति की जगह दर्पण बतलाते हैं । इसके बाद छठे दिन धर्म-जागरिका की गई । जन्मसंबंधी अशुचि निवारण के ग्यारह दिन पूर्ण होने के बाद बारहवें दिन प्रभु के माता-पिता ने अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम आदि चारों प्रकार का भोजन तैयार कराया । फिर अपने सगे-संबंधी, जातिवाले, नौकर-चाकर तथा क्षत्रियों को अपने घर भोजन के लिए आमंत्रण दिया । सिद्धार्थ महाराजा और त्रिशला महारानी ने स्नान आदि से मंगल कर, उत्तम वस्त्र धारण कर सभी के साथ मिलकर भोजन किया । भोजन करने के बाद सभी को पुष्प-वस्त्र आदि विविध वस्तुएँ प्रदान कर सभी का आदर-सत्कार किया । तत्पश्चात् सिद्धार्थ महाराजा ने सभी को संबोधित करते हुए कहा, ``हे देवानुप्रियो ! जब से यह बालक गर्भ में आया, तबसे हम सुवर्ण-चांदी, धन-धान्य तथा अन्य रीति से वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे । सीमावर्ती व मध्यवर्ती राजा भी वश में आ गए थे, अतः हमने यह संकल्प किया था कि जब

यह बालक पैदा होगा, तब इस बालक का गुणसंपन्न **'वर्धमान'** नाम रखेंगे । आज हमारा वह मनोरथ पूर्ण हो रहा है, अतः 'इस बालक का नाम **वर्धमान** रखते हैं ।''

बालक्रीड़ा

यद्यपि प्रभु तो जन्म से ही विरक्त थे, संसारी जीवों की सभी चेष्टाएँ उन्हें बाल-धूलि की क्रीड़ा के समान प्रतीत होती थीं । बालचेष्टाओं में उन्हें किसी प्रकार का मोह नहीं था...फिर भी वे अपने मित्रों आदि की प्रसन्नता के लिए बाल-क्रीड़ाएँ भी करते थे । एक बार वर्धमान कुमार अपने मित्रों के साथ नगर के बाहर उद्यान में खेल रहे थे, सौधर्म देवलोक में रहे सौधर्म इन्द्र ने प्रभु के धैर्यगुण की प्रशंसा करते हुए कहा, ``हे देवो ! मनुष्यलोक में वर्तमान समय में वर्धमानकुमार बालक होते हुए भी उसका पराक्रम अद्‌भुत है । देव भी उन्हें डरा नहीं सकते हैं ।''

इन्द्र के मुख से वर्धमानकुमार के अमाप पराक्रम की बात सुनकर एक मिथ्यादृष्टि देव ने विचार किया, 'अहो ! अपनी सत्ता के अभिमान के कारण इन्द्र अपनी मनचाही बातें कर रहे हैं । क्या एक मनुष्य में कभी इतनी ताकत हो सकती है कि उसके आगे दैविक बल को भी झुक जाना पड़े...और वह तो एक बालक है, उसकी क्या ताकत हो सकती है ? अभी मैं वहाँ जाता हूँ और उसे डरा-धमकाकर इन्द्र के वचन को मिथ्या कर देता हूँ ।'

बस ! इस प्रकार विचार कर वह देव चंद क्षणों में ही धरती पर आ गया...और तुरंत ही उसने मुशल की भाँति अत्यंत ही स्थूल भयंकर सर्प का रूप किया । वह भयंकर सर्प उस उद्यान में आकर जोरों से

फूत्कार करने लगा । चपल नेत्र और भयंकर फणवाला वह सर्प उस वृक्ष के चारों ओर घूमने लगा, जिस वृक्ष के इर्दगिर्द होकर वर्धमानकुमार आदि कुमार खेल रहे थे । अचानक फूत्कार कर रहे सर्प को देखने के साथ ही सभी बच्चे भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे । परन्तु उस भयंकर सर्प को देखकर भी वर्धमानकुमार डरे नहीं । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से उस सर्प को पकड़ लिया और उसे दूर फेंक दिया ।

वर्धमानकुमार ने भागते हुए अपने मित्रों को वापस बुलाया और कहा, ''तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, मैंने उस सर्प को दूर कर दिया है ।'' जैसे ही उन सब बच्चों ने उस सर्प को वहाँ नहीं देखा, वे बच्चे वापस आकर क्रीड़ा करने लगे । सर्प के रूप में परास्त हुए उस मिथ्यादृष्टि देव ने पुनः अपना रूप परिवर्तन किया । इस बार किसी कुमार का रूप करके वह वर्धमानकुमार आदि के साथ क्रीड़ा करने लगा । उस क्रीड़ा में यह शर्त रखी गई कि जो हारेगा वह जीतने वाले को अपने कंधे पर उठाएगा । इस खेल में वह देव जानबूझकर वर्धमानकुमार से हार गया । बस, खेल की शर्त के अनुसार उस कुमार देव ने वर्धमानकुमार को अपने कंधे पर उठाया...और देखते-ही-देखते उस देव ने एक ताड़ की भाँति अपनी ऊँचाई बढ़ाना चालू कर दिया । इसके साथ ही एक राक्षस की भाँति अपना भयंकर रूप कर दिया ।

अपने ज्ञान के बल से देव के इस स्वरूप को जानकर वर्धमानकुमार ने उसकी पीठ पर वज्र के समान अत्यंत ही कठोर अपनी मुष्टि से प्रहार किया । उस प्रहार की तीव्र वेदना से पीड़ित वह देव एक मच्छर की भाँति अत्यंत ही संकुचित हो गया । उस मिथ्यादृष्टि देव को इन्द्र के वचन की सत्यता की प्रतीति हो गई...अतः हारकर उसने अपना मूल स्वरूप प्रगट किया और प्रभु के पास क्षमायाचना कर देवलोक को चला गया । इससे संतुष्ट होकर इन्द्र ने प्रभु का नाम **'श्री वीर'** रखा ।

पाठशाला गमन

प्रभु तो जन्म से ही तीन ज्ञान से युक्त थे । उन्हें किसी प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु वे इतने गंभीर थे कि कभी भी उन्होंने अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं किया ।

(सामान्यतया देखा जाता है कि जो अपूर्ण ज्ञानी या अल्पज्ञानी होता है, वह ज्यादा छलकता है अर्थात् अल्पज्ञ व्यक्ति अपने ज्ञान का प्रदर्शन किये बिना नहीं रहता । कहा भी है- 'अध जल गगरी छलकत जाय ।')

वर्धमानकुमार जब आठ वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता उनको विद्या अध्ययन कराने के लिए किसी पंडित के पास ले जाने के लिए तैयार हुए । वर्धमानकुमार को सुंदर वस्त्र व आभूषणों से अलंकृत किया गया । अध्यापन करानेवाले पंडित के बहुमान के लिए स्वर्णादि से अलंकृत व सहाध्यायी बालकों को भेंट देने के लिए विविध प्रकार की खाद्य-सामग्री, मिठाई एवं लेखन-सामग्री तैयार कर दी गई । उसके बाद वाद्य-यंत्रों की मधुर ध्वनि के साथ, विशाल परिवार सहित प्रभु को पाठशाला की ओर ले गये । सौधर्म इन्द्र ने अपने ज्ञान के उपयोग द्वारा परिवारजनों की ओर से महाज्ञानी ऐसे प्रभु को पाठशाला ले जाने की चेष्टा देखी । वे सोचने लगे, **'अहो ! प्रभु तो महाज्ञानी हैं, उन्हें पाठशाला ले जाने की यह कैसी विचित्र चेष्टा हो रही है ?'**

प्रभु को पढ़ाना यह तो आम्रवृक्ष पर तोरण बाँधना, अमृत रस में शक्कर डालना, सरस्वती को पढ़ाना, माता के आगे मामा के घर का वर्णन करना आदि की तरह निरर्थक ही है । **'प्रभु तो बिना अध्ययन किये हुए भी परमज्ञानी हैं ।'** इस प्रकार विचार कर वे इन्द्र तत्काल ब्राह्मण का रूप करके उस पंडित के घर

आ गये और पंडित के योग्य आसन पर प्रभु को बिराजमान कर, पंडित के मन में रहे हुए संदेह प्रभु को पूछने लगे । प्रभु ने उन सभी प्रश्नों के सही जवाब दिये जिन्हें सुनकर पंडित और सभी लोग भी आश्चर्यचकित रह गये ।

पंडित ने सोचा, `अहो ! बाल्यकाल से ही मेरे मन में घर कर गये जिन संदेहों को आज तक कोई दूर नहीं कर सका था, उन सब का समाधान इस बालक ने कर दिया ! `अहो ! यह बालक विद्या-विशारद होते हुए भी इसकी गंभीरता कितनी है ।'

सचमुच ! शरद् ऋतु में बादल सिर्फ गर्जना ही करते हैं किंतु बरसते नहीं हैं, जबकि वर्षा ऋतु में आवाज किये बिना ही बादल बरस पड़ते हैं ।

नीच पुरुष सिर्फ बोल-बोल ही करते हैं, जबकि करते कुछ भी नहीं हैं, उत्तम पुरुष बोलते कम हैं किंतु काम करके दिखाते हैं । हल्के पदार्थ का आडंबर कुछ अधिक ही होता है । स्वर्ण के बर्तन में जैसी ध्वनि नहीं होती है, वैसी ध्वनि कांस्य के बर्तन करते हैं ।'

पंडित को सोचते हुए देखकर इन्द्र ने कहा, ``विप्रवर ! ये कोई सामान्य बालक नहीं हैं, ये तो तीन लोक के नायक, समस्त शास्त्रों के पारगामी श्रीवीर प्रभु हैं ।'' इस प्रकार वीर प्रभु की स्तुति कर इन्द्र अपने स्थान में चले गए । प्रभु भी वापस अपने परिवारजनों के साथ घर लौट आए ।

लग्न जीवन

(सामान्य जीव और तीर्थंकर की आत्मा की मनः-स्थिति में बहुत बड़ा अंतर होता है । तीर्थंकर परमात्मा अपने अंतिम भव में जन्म से ही विरक्त होते हैं ।)

प्रश्न : प्रभु यदि जन्म से ही विरक्त हैं तो फिर वे राज्यग्रहण व विवाह आदि सांसारिक कृत्य क्यों करते हैं ?

उत्तर : आत्मा पर लगे हुए कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है । उन कर्मों का नाश अनासक्त भाव से संसार के सुखों को भोगने से ही हो सकता है । उन कर्मों को शास्त्रीय भाषा में **'भोगावली कर्म'** कहते हैं । उन कर्मों को खपाने के लिए ही तारक तीर्थंकर परमात्मा लग्न-जीवन और राजगद्दी को स्वीकार करते हैं ।

यद्यपि सांसारिक भोग की क्रिया राग-भाव के बिना नहीं होती है, परंतु अनासक्त योगी ऐसे परमात्मा को उस रागभाव का स्पर्श नहीं होता है, इस कारण संसार की पाप-क्रिया, भोग-क्रिया करते हुए भी वे तारक परमात्मा कर्मों की निर्जरा ही करते हैं । जैसे ही वे तारक परमात्मा अपने ज्ञानबल से अपने भोगावली कर्मों को क्षीण हुए देखते हैं, उसके साथ ही वे संसार के समस्त बंधनों का त्याग कर चारित्र धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं ।

भगवान महावीर प्रभु बाल्यकाल से ही विरक्त थे । ज्योंही उन्होंने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया, त्रिशला माता बारबार वर्धमानकुमार को लग्न-जीवन के स्वीकार के लिए आग्रह करने लगी । यद्यपि वर्धमान अनासक्त योगी थे, उन्हें भोग-सुखों का लेश भी आकर्षण नहीं था, फिर भी अपने भोगावली कर्मों के क्षय के लिए ही उन्होंने **समरवीर** राजा की पुत्री **यशोदा** के साथ पाणिग्रहण स्वीकार किया ।

समय व्यतीत होने पर एक दिन यशोदा ने एक पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम **प्रियदर्शना** रखा गया । **प्रियदर्शना** का विवाह राजपुत्र **जमालि** के साथ हुआ, उनके भी एक पुत्री पैदा हुई जिसका नाम

शेषवती रखा गया । प्रभु के पिता काश्यपगोत्रीय थे, उनके तीन नाम थे **सिद्धार्थ, श्रेयांस** और **यशस्वी ।** माता वासिष्ठगोत्रीय थी उसके तीन नाम थे **त्रिशला, विदेहदिन्ना** और **प्रीतिकारिणी ।** प्रभु के काका का नाम **सुपार्श्व** था । भाई का नाम **नंदिवर्धन,** बहिन का नाम **सुदर्शना,** पत्नी का नाम **यशोदा** था । पत्नी **कौंडिन गोत्री** थी । पुत्री के अणोज्जा व प्रियदर्शना दो नाम थे । दोहित्री काश्यपगोत्री थी, उसके **शेषवती** और **यशस्वी** दो नाम थे ।

प्रभु सभी कलाओं में कुशल थे । प्रतिज्ञापालन में दृढ़ थे । विनीत और सर्वगुणों से विशिष्ट थे । कुल में चंद्रतुल्य थे, पहला संघयण और पहला संस्थान होने से उनका शरीर अत्यंत ही श्रेष्ठ था । प्रभु गृहवास में अत्यंत कोमल होने पर भी संयम-जीवन में अत्यंत कठोर थे ।

काश्यप गोत्रवाले भगवान महावीर के तीन नाम प्रसिद्ध थे ।

1) माता-पिता के द्वारा दिया गया **वर्धमान ।**

2) सहज रही तप की शक्ति के कारण दूसरा नाम हुआ-**'श्रमण ।'**

3) देवों के द्वारा दिया गया-नाम **'श्रमण भगवान महावीर ।'**

प्रभु जन्म से अतुल बली थे । अचानक बिजली आदि से उत्पन्न हुए भय तथा सिंह-सर्प आदि से उत्पन्न हुए भय आदि से सदा निर्भय और धीर थे । भूख-प्यास आदि 22 परिषहों को तथा देव-तिर्यंच आदि के द्वारा होने वाले 16 प्रकार के उपसर्गों को लाचारी से नहीं, किंतु क्षमापूर्वक सहन करते थे । **'एकरात्रिकी'** प्रतिमा आदि घोर अभिग्रहों का सत्त्वपूर्वक पालन करते थे । तीन ज्ञान से युक्त ऐसे प्रभु, रति-अरति के प्रसंगों में भी हर्ष-शोक से रहित रहते थे । इस प्रकार राग-द्वेष के विजेता और महापराक्रमी होने से देवों ने अवसर देखकर प्रभु का **'महावीर'** नाम रखा । **'महावीर' नाम के संबंध में वृद्धवाद इस प्रकार है ।**

दूज के चांद और मेरुपर्वत पर उत्पन्न कल्पवृक्ष के अंकुर की तरह सुख-साता पूर्वक बढ़ते हुए प्रभु का मुख चंद्र समान प्रसन्न था। हाथी की तरह उनकी गंभीर चाल थी। उनके होठ लाल थे। दाँतों की पंक्ति सफेद व उज्ज्वल थी, उनके केश अत्यंत श्याम थे। उनके हाथ कमल के समान अत्यंत कोमल थे। उनका श्वास सुगंधित था। उनका वर्ण सुवर्ण के समान तेजस्वी था। उनका देह अत्यंत निर्मल था। वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व विपुल अवधिज्ञान के धारक थे। आरोग्य, बुद्धि, कांति, धैर्य आदि गुणों से जगत् में तिलक समान थे।

दीक्षा-कल्याणक

बाल्यकाल से ही जल में कमल की भाँति अत्यंत ही अनासक्त प्रभु महावीर को संसार के भौतिक भोग-सुख लेश मात्र भी ललचा नहीं सके, प्रभु अत्यंत ही अनासक्तिपूर्वक एक मात्र अपने भोगावली कर्मों को खपाने के लिए ही निर्मम भाव से दिन व्यतीत करने लगे। नदी के जल-प्रवाह की भाँति काल का प्रवाह भी बहता रहा। देखते-ही-देखते प्रभु 28 वर्ष के हो गए। एक दिन सिद्धार्थ महाराजा व त्रिशलादेवी ने प्रत्याख्यान पूर्वक संलेखना कर अपने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। वे दोनों मरकर **आवश्यक** ग्रंथ के अनुसार चौथे स्वर्ग में और **आचारांग** के अनुसार अच्युत देवलोक में देव बने। देवलोक में से च्यवकर वे दोनों महाविदेह क्षेत्र में मानव देह धारण कर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करेंगे।

अपने माता-पिता के स्वर्गगमन के साथ ही, अपनी गर्भस्थिति में प्रभु महावीर ने जिस प्रतिज्ञा का स्वीकार किया था, उनकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई थी। अपने माता-पिता के स्वर्गवास से नंदिवर्धन शोक के महासागर में डूब गया था। वर्धमान प्रभु ने नंदिवर्धन को संसार की अनित्यता और आयुष्य की क्षणभंगुरता समझाकर उसके शोक को दूर किया।

नंदिवर्धन ने वर्धमान को राज्यग्रहण करने के लिए अत्यंत ही आग्रह किया, परन्तु संसार के मोहबंधनों से विरक्त बने वर्धमानकुमार ने राज्यग्रहण करने से इन्कार कर दिया। दूसरे दिन शुभ मुहूर्त में सिद्धार्थ राजा के पद पर नंदिवर्धन का राज्याभिषेक किया गया। नंदिवर्धन राजा बन गए। कुछ समय बाद अपने स्वजन-कुटुम्बीजनों को इकट्ठा करके वर्धमानकुमार ने नंदिवर्धन को कहा, ``बंधुवर्य ! पूर्व में स्वीकार की गई मेरी प्रतिज्ञा अब पूर्ण हो चुकी है, मेरे अन्य कर्तव्य भी पूर्ण हो चुके हैं, अतः संयम स्वीकार करने के लिए आप मुझे अनुमति प्रदान करें।''

(विश्व में सर्वोच्च तीर्थंकर पद पर आसीन होने पर भी वर्धमानकुमार दीक्षा अंगीकार करने के लिए अपने ज्येष्ठ बंधु की भी अनुमति मांगते हैं। यह उनका कितना महान् औचित्य पालन है !)

वर्धमानकुमार के मुख से दीक्षा की बात सुनकर नंदिवर्धन ने कहा, ``बंधुवर्य ! एक ओर माता-पिता का वियोग मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर रहा है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हारे वियोग की पीड़ा कैसे सहन कर पाऊंगा ? तुम्हारा वियोग मेरे लिए घाव पर नमक छिड़कने के समान ही सिद्ध होगा, अतः अभी तत्काल दीक्षा लेने का विचार छोड़ दो ! मुझ पर कृपा कर दो वर्ष तक और घर में रहो।'' नंदिवर्धन की इस विचित्र स्थिति को देखकर वर्धमानकुमार ने और दो वर्ष तक घर में रहना स्वीकार किया परन्तु इसके साथ ही निश्चय किया कि **'आज से मैं सभी सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ। आज से मैं प्रासुक भोजन ही ग्रहण करूंगा। शरीर पर विलेपन आदि के त्यागपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूंगा।'** इस प्रकार की प्रतिज्ञा के पालनपूर्वक प्रभु ने एक वर्ष पूरा किया। इसके साथ ही नौ लौकांतिक देवताओं ने आकर प्रभु को विनंति की,

'हे प्रभो ! जगत् के जीवों के हित के लिए आप धर्मतीर्थ की स्थापना करो ।'

यद्यपि तीर्थंकर-परमात्मा, स्वयं बोध पाये हुए ही होते हैं, फिर भी अपनी आचार-मर्यादा के अनुसार लौकांतिक देव प्रभु को इस प्रकार विनंति करते हैं । प्रभु भी उनकी विनंति को स्वीकार कर वार्षिक दान प्रारंभ करते हैं । वे प्रतिदिन सूर्योदय से मध्याह्न तक 1 करोड़ और आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हैं । इन्द्र की आज्ञा से तिर्यक् जृंभक देव जहाँ-तहाँ जमीन में गड़े हुए मालिक बिना के धन को ला-लाकर प्रभु के भंडार को भरते रहते हैं ।

'जिसको जो चाहिए, वह ले जाये' इस प्रकार की घोषणापूर्वक प्रभु ने दान दिया । इस प्रकार एक वर्ष तक निरंतर दान देकर प्रभु ने जगत् का द्रव्य-दारिद्र्य दूर किया । एक वर्ष में प्रभु ने कुल 388 करोड़ 80 लाख सुवर्णमुद्राओं का दान किया । अब जगत् के जीवों के भाव-दारिद्र्य को दूर करने के लिए प्रभु चारित्र-धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए ।

प्रभु ने पुनः नंदिवर्धन राजा के पास दीक्षा के लिए अनुमति माँगी । नंदिवर्धन ने सहर्ष अनुमति देते हुए दीक्षा के भव्य समारोह के लिए अपनी तैयारी प्रारम्भ कर दी । नगर के सभी राजमार्गों पर ध्वजा-तोरण व पताकाएँ लगाई गईं और नगर को नई दुल्हन की भाँति सजाया गया ।

उसके बाद सभी इन्द्रों ने आकर देवताओं द्वारा लाये गये क्षीरसागर आदि के जल से प्रभु का अभिषेक किया । स्नान के बाद उज्ज्वल वस्त्र से प्रभु के देह को पोंछकर प्रभु के देह पर विलेपन आदि किया । सुंदर

वस्त्रों व अलंकारों से विभूषित प्रभु अत्यंत ही सुंदर दिखाई देने लगे । तत्पश्चात् देवताओं द्वारा निर्मित **'चंद्रप्रभा'** नाम की शिविका में प्रभु आरूढ़ हुए । प्रभु की दाहिनी ओर हंस-लक्षण पट-वस्त्र को लेकर कुलमहत्तरा बैठी और प्रभु की बायीं ओर प्रभु की अंबधात्री बैठी । एक श्रेष्ठ तरुणी ने अपने हाथों में श्वेत छत्र धारण किया । ईशान कोने में एक स्त्री ने अपने हाथ में पूर्ण कलश लिया । अग्नि कोने में एक स्त्री ने अपने हाथ में पंखा धारण किया ।

तत्पश्चात् इन्द्र, देवता व अनेक श्रेष्ठ पुरुषों ने प्रभु की उस शिविका को उठाया और क्रमशः क्षत्रियकुंड नगर के राजमार्गों पर आगे बढ़ने लगे ।

प्रभु के इस महाभिनिष्क्रमण के मंगल अवसर पर भव्यातिभव्य वरघोड़ा निकला, जिसमें सबसे आगे रत्नमय अष्टमंगल चल रहे थे । उसके बाद पूर्ण कलश, दिव्य-दर्पण व ध्वजा चल रही थी । उसके बाद छत्र, मणि व सुवर्णमय पादपीठ सहित सिंहासन चल रहा था । उसके बाद 108 जातिवंत घोड़े चल रहे थे । फिर 108 हाथी चल रहे थे । उसके बाद श्रेष्ठ घोड़ों से युक्त 108 रथ चल रहे थे । फिर विविध शस्त्रों से युक्त 108 सुभट चल रहे थे । उसके बाद गज सैन्य, रथ सैन्य व पदाति सैन्य चल रहा था । उसके बाद 1 हजार योजन ऊँचा महेन्द्र ध्वज चल रहा था । उसके बाद हजारों नृत्यकार-गायक वृंद आदि चल रहे थे । इसके सिवाय हजारों देवता अपने अपने विमान सहित चारों ओर आगे बढ़ रहे थे ।

नंदिवर्धन भी सुंदर वस्त्र-अलंकारों से विभूषित होकर हाथी पर आरूढ़ होकर प्रभु के पीछे- पीछे चल रहा था । नगर के हजारों नर-नारी प्रभु के पुनःपुनः दर्शन कर अपने आपको धन्य मान रहे थे । इस प्रकार क्रमशः

आगे बढ़ते हुए महावीर प्रभु ज्ञातखंड नाम के उपवन में पधारे । अशोक वृक्ष के नीचे शिबिका को रखा गया । प्रभु उस शिविका में से बाहर आए । तत्पश्चात् प्रभु अपने हाथों से ही वस्त्र-अलंकार आदि उतारने लगे ।

उस समय कुलमहत्तरा हंसलक्षण रेशमी वस्त्र में उन आभूषणों को ग्रहण करती हुई अत्यंत ही करुण स्वर से आँख में आँसू लाती हुई बोली, ``हे पुत्र ! तुम काश्यप गोत्र में सिद्धार्थ राजा के पुत्र हो, ज्ञातकुल में शरद् ऋतु के चंद्र समान हो । त्रिशला देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए हो । तुम क्षत्रियों में तिलक समान हो । गर्भावस्था से ही अतिसुकुमाल और सुंदर अंग से युक्त हो । तुम अप्रतिम रूप, लावण्य और कांतिवाले हो...तो फिर तुम इस अति दुष्कर तप अनुष्ठान का पालन कैसे कर पाओगे ?

``हे वत्स ! असिधारा समान इन महाव्रतों का तुम बराबर पालन करना । घोर उपसर्गों से लेश भी भयभीत मत होना । संयम के लिए हितकारी शुद्ध भिक्षावृत्ति का पालन करना । हे वत्स ! तुम तो समस्त भावों के ज्ञाता हो, मैं तुम्हें क्या कहूँ ? फिर भी इस तरह प्रवृत्ति करना, जिससे मोक्ष शीघ्र प्राप्त हो ।'' अपने गद्‌गद कंठ से कुलमहत्तरा ने जैसे ही अपनी बात पूरी की, इसके साथ ही उसकी आँखों से सावन-भादों बरसने लगे । उस समय नंदिवर्धन आदि सभी की आँखें अश्रुभीनी हो गईं ।

कुलमहत्तरा के इन वचनों को स्वीकार कर प्रभु ने पंचमुष्टि लोच किया । इन्द्र ने वे केश अपने वस्त्र के अंचल में ग्रहण किये और उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिया । प्रभु के केश-लोच के साथ ही चारों ओर वातावरण में स्तब्धता छा गई । सभी वाद्य-यंत्र बंद हो गए और उस मगसर वदी दसमी के शुभ दिन अंतिम प्रहर में उत्तरा

फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर स्वयं संबुद्ध ऐसे प्रभु ने **'सिद्धों को नमस्कार कर सावद्ययोग के त्याग की प्रतिज्ञा को स्वीकार कर चारित्रधर्म स्वीकार किया ।**

उस समय इन्द्र महाराजा ने प्रभु के बाएँ स्कंध पर देवदूष्य रखा और उसी समय संयम के महाभार को वहन करनेवाले प्रभु को चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ ।

ऋषभदेव आदि अन्य तीर्थंकरों ने हजारों के साथ चारित्र-धर्म को स्वीकार किया था...परन्तु प्रभु वीर ने अकेले ही दीक्षा स्वीकार की थी ।

प्रभु ने केशलोच के बहाने अपने अंतरंग शत्रुभूत कर्मशत्रुओं से लड़ने के लिए भयंकर युद्ध छेड़ दिया था । आत्मा के वैरीभूत अंतरंग शत्रुओं को परास्त करने के लिए प्रभु एक शूरवीर की भाँति पराक्रमी योद्धा बन गए । प्रभु को वंदनकर इन्द्र महाराजा नंदीश्वर द्वीप पर गए और वहाँ जाकर अष्टाह्निका महोत्सव कर पुनः सभी देवता अपने-अपने स्थान पर चले गए ।

पाँचवाँ व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

कल्पसूत्र हिन्दी प्रवचन

व्याख्यान 6

उपसर्गों की हारमाला

भागवती दीक्षा स्वीकार करने के बाद अपने बंधुवर्ग की अनुमति लेकर आत्मा पर लगे कर्मशत्रुओं को जड़मूल से उखाड़ने के लिए वीर प्रभु अकेले ही जंगल की ओर चल पड़े ! जब तक प्रभु दृष्टि-गोचर रहे, तब तक नंदिवर्धन आदि प्रभु की ओर अपनी दृष्टि को स्थिर कर खड़े ही रहे...परन्तु जैसे ही प्रभु आँखों से ओझल हो गए...नंदिवर्धन फूट-फूटकर रोने लगा और करुण विलाप करते हुए कहने लगा, **''हे वीर ! तेरे बिना यह महल भी मेरे लिए श्मशान तुल्य बन चुका है । मैं किसके साथ वार्ता-विनोद करूँगा ? और किसके साथ भोजन करूँगा ?** हर कार्य में मैं **'वीर ! वीर !'** कहकर तुझे बुलाता था और तू मेरे हर कार्य में हाथ बँटाता था...परन्तु अब तो मैं निराधार बन चुका हूँ । हे बंधुवर्य ! आँखों में अमृत के अंजन समान अब तेरा दर्शन कब होगा ? यद्यपि तेरे दिल में तो हमारे प्रति कुछ भी राग नहीं है फिर भी करुणा करके हमें भी कभी याद करना ।'' इस प्रकार करुण विलाप करता हुआ नंदिवर्धन अपने कुटुंबीजनों के साथ बड़ी मुश्किल से अपने महल में लौटा ।

दीक्षा के पूर्व प्रभु के देह पर चंदन आदि अनेक सुगंधित पदार्थों का विलेपन किया हुआ था, उस लेप की गंध 4½ मास तक रही । इस कारण भ्रमर आदि आकर प्रभु के शरीर पर डंख देने लगे ।

यद्यपि सभी ने भक्ति से ही प्रभु के शरीर पर विलेपन किया था, परन्तु आज उसी विलेपन के कारण प्रभु को कष्ट पड़ रहा था । परन्तु वीर प्रभु तो उन कष्टों को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन करते जा रहे थे ।

कई युवक प्रभु से गंधपुटी की याचना करते थे और प्रभु के मौन रहने पर प्रतिकूल उपसर्ग भी करते थे। कई स्त्रियाँ प्रभु के अद्भुत रूप को देख भोग की प्रार्थना व अनुकूल उपसर्ग करती थीं, परंतु प्रभु तो मेरु की तरह अडिग थे।

गोवाल से उपसर्ग प्रारंभ

दीक्षा अंगीकार करने के पहले ही दिन, एक मुहूर्त दिन शेष रहने पर प्रभु कुमारग्राम के बाहर आकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रह गए। उसी समय एक गोपाल (ग्वाला) दिन भर खेत में हल चलाकर अपने बैलों को लेकर वहाँ पर आया और प्रभु से बोला, ``मैं थोड़ी ही देर में गायों को दूहकर वापस आ जाता हूँ, तुम इन बैलों का ध्यान रखना।'' इतना कहकर वह ग्वाला तो चला गया। इधर वे बैल चरते हुए जंगल की ओर बढ़ गये। गाय दूहकर वह ग्वाला प्रभु के पास आया और बोला, ``मेरे बैल कहाँ हैं ?'' कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर बने प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। प्रभु मौन ही खड़े रहे।

प्रभु को मौन देखकर वह ग्वाला बैलों की शोध के लिए जंगल में गया। रात भर वह उन बैलों की शोध करता ही रहा और इधर कुछ रात शेष रहने पर वे बैल स्वयं ही प्रभु के पास आकर बैठ गए।

ग्वाले ने जैसे ही उन बैलों को प्रभु के पास बैठे देखा तो उसे बड़ा गुस्सा आया। **'इसने मुझे व्यर्थ ही सारे जंगल में भटका दिया'** इस प्रकार विचार कर उसने आवेश में आकर प्रभु को मारने के लिए चमड़े की डोरी चाबुक घुमायी...उसी समय अवधिज्ञान के बल से प्रभु पर आए हुए इस उपसर्ग को जानकर सौधर्म इन्द्र वहाँ पर आ गया और उसने ग्वाले को कठोर शिक्षा देकर उस उपसर्ग का निवारण किया।

विनंति अस्वीकार

भक्तिसभर हृदय से इन्द्र ने कहा, `प्रभो ! श्रमणधर्म का पालन करते हुए आप पर अत्यंत ही दु:खदायी और सामान्य व्यक्ति के लिए तो मौत में कारणभूत ऐसे भयंकर उपसर्ग होनेवाले हैं, अत: उन उपसर्गों के निवारण के लिए मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ, आप मुझे अनुज्ञा प्रदान करें ।'

इंद्र की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु ने कहा, ***''इन्द्र ! तेरी असाधारण भक्ति के कारण तू इस प्रकार की बात करे, वह उचित ही है किंतु आज तक भूतकाल में ऐसा हुआ नहीं है, वर्तमान में होता नहीं है और भविष्य में होगा भी नहीं कि किसी तीर्थंकर ने अन्य की मदद से अपने कर्म क्षय किये हों । मेरे ऊपर विविध महा उपसर्ग होने वाले हैं, यह सब जानते हुए ही मैंने यह संयम स्वीकार किया है अत: उन कष्टों से भयभीत होने की मुझे आवश्यकता नहीं है ।***

''मैंने पूर्व भव में हँसते-हँसते कर्म बाँधे हैं तो उन कर्मों के घोर विपाक को मुझे हँसते-हँसते ही सहन करना है ।''

इतना कहकर प्रभु तो पुन: कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर हो गए । प्रभु की मासी का पुत्र बाल-तप के प्रभाव से मरकर सिद्धार्थ व्यंतर बना था, उसी समय वह वहाँ आ गया ।

इंद्र ने उस सिद्धार्थ व्यंतर को आज्ञा करते हुए कहा, ``हे सिद्धार्थ ! ये प्रभु तुम्हारे संबंधी हैं, इस कारण तथा मेरी आज्ञा से तू इनकी सेवा में रहना और उनके ऊपर आनेवाले मरणांत उपसर्गों को दूर करना ।'' इतना कहकर इन्द्र देवलोक में चले गए ।

पहला-पारणा

वहाँ से विहारकर प्रभु **कोल्लाग सन्निवेश** में गए । वहाँ सपात्र (पात्र सहित) धर्म की प्ररूपणा करने की भावना से प्रभु ने पहला पारणा **बहुल** नाम के ब्राह्मण के घर परमान्न (खीर) से किया । उसी समय पंच दिव्य प्रगट हुए ।

1) आकाश में देवताओं ने दुंदुभि का नाद किया । 2) सुगंधित जल व पुष्पों की वृष्टि हुई । 3) वस्त्र की वृष्टि हुई । 4) 12.5 करोड़ सोना मोहर की वृष्टि हुई । 5) देवताओं ने **'अहो दानं, अहो दानं'** की उद्घोषणा की ।

अभिग्रह-स्वीकार

वीर प्रभु अपने चरण-कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए **मोराक** सन्निवेश में **दूइज्जंत** तापस के आश्रम में पधारे । उस आश्रम में **ज्वलन-शर्मा** नाम का कुलपति था, जो गृहस्थावस्था में सिद्धार्थ राजा का मित्र था ।

अपने मित्र के पुत्र के आगमन को जानकर कुलपति ने प्रभु का स्वागत किया । अपने पूर्वाभ्यास के कारण प्रभु ने भी अपनी दो भुजाएँ फैला दीं । उसके बाद कुलपति ने प्रभु को कहा, ``हे कुमार श्रेष्ठ ! आप इस आश्रम में खुशी से रहो, यहाँ साधना में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होगा । और अभी ज्यादा दिन नहीं ठहर सको तो कम-से-कम चातुर्मास-वर्षाकाल के लिए यह क्षेत्र सानुकूल होने से यहाँ अवश्य पधारना !''

प्रभु ने उस कुलपति की विनंति स्वीकार की और एक रात्रि वहाँ रहकर अन्यत्र चले गए । ग्रीष्म ऋतु में अन्यत्र विहार कर चातुर्मास के प्रारंभ में प्रभु उस आश्रम में आ गए । कुलपति ने साधना के लिए प्रभु को घास

की एक अनुकूल झोंपड़ी प्रदान की । प्रभु उस झोंपड़ी में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बन गए ।

इधर घास की कमी के कारण जब कुछ गायें आकर आश्रम में रही घास की कुटीरों को खाने लगीं तो अन्य तापस तो उन गायों को लकड़ी से मारकर हाँकने लगे, परन्तु अपनी साधना में लीन प्रभु ने अपनी झोंपड़ी के रक्षण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया...अतः कुछ गायें आकर निर्भयतापूर्वक उस कुटीर की घास खाने लगीं ।

प्रभु की कुटीर को इस प्रकार नष्ट होते देखकर कुछ तापस कुलपति के पास गए और शिकायत करने लगे, ``हम तो अपनी-अपनी कुटीरों का रक्षण करते हैं, जबकि यह श्रमण तो अपनी झोंपड़ी की भी परवाह नहीं करता है ।''

कुलपति ने उन तापसों को आश्वासन दिया और उसके बाद वह प्रभु के पास आया । उसने देखा, `सारी झोंपड़ी नष्ट हो चुकी है-गायों ने आकर सारा घास खा लिया है ।'

इस विचित्र स्थिति को देख कुलपति ने कहा, ``चार आश्रमों के गुरु ऐसे सिद्धार्थ राजा का तू पुत्र है । तेरे पिता ने अत्यंत ही आदरपूर्वक इस आश्रम का अच्छी तरह से रक्षण किया है, अतः अब तुम्हें भी इसका पालन करना है । दुष्टों को दंड देना यह तो तुम्हारा मुख्य व्रत है । तुम घास खा रही इन गायों को क्यों नहीं रोकते हो ? अरे ! पक्षी भी प्रयत्नपूर्वक अपने घोंसले का रक्षण करते हैं और तुम राजपुत्र होते हुए भी इस झोंपड़ी का रक्षण नहीं कर पाते हो ?'' कुलपति की इस बात को सुनकर प्रभु ने सोचा, **'मैं यदि यहाँ रहूंगा तो इसे अप्रीति होगी ।'** इस प्रकार विचार कर, प्रभु ने पाँच अभिग्रह धारण किये ।

1. जिसको अप्रीति हो, उस घर में नहीं रहूंगा । 2. हमेशा प्रतिमा (कायोत्सर्ग ध्यान) में ही रहूंगा ।

3. गृहस्थ का विनय नहीं करूंगा। 4. हमेशा मौन रहूंगा। 5. कर-पात्र में ही भोजन करूंगा।

उपर्युक्त पाँच अभिग्रह धारण कर प्रभु ने **अस्थिक** गाँव की ओर विहार प्रारंभ कर दिया। भगवान महावीर के कंधे पर एक वर्ष और एक मास तक देवदूष्य रहा, फिर देवदूष्य न होने से प्रभु अचेलक हुए और कर-पात्री बने।

प्रभु अचेलक बने

दीक्षा लेने के तेरह मास बीतने पर प्रभु दक्षिण-वाचाल सन्निवेश के पास सुवर्णवालुका नदी के तट पर आए। वहाँ चलते-चलते देवदूष्य का आधा भाग काँटे में लग जाने से गिर गया। सिंहावलोकन से प्रभु ने पीछे दृष्टि की। ममत्व-रहित होने से उस वस्त्र को लिये बिना ही प्रभु आगे बढ़ गए।

अन्य मत है कि 'गिरे हुए वस्त्र के आधार पर मेरा शासन कैसा होगा ?' यह जानने के लिए प्रभु ने पीछे देखा। काँटों में फँसा होने से प्रभु ने सोचा, 'मेरे शासन में काँटों रूप अनेक विरोधी पैदा होंगे।'

वह आधा वस्त्र प्रभु के पिता के मित्र ब्राह्मण ने उठा लिया।

आधे वस्त्र का दान तो प्रभु ने स्वयं ही उसे किया था, जिसका वृत्तांत इस प्रकार है–

वस्त्रदान

क्षत्रियकुंड नगर ! उस नगर में जुए का महाव्यसनी सोम नाम का ब्राह्मण रहता था। पिता की अपार संपत्ति उसने जुए में नष्ट कर दी थी। वह कंगाल हो गया था। अब वह दाने-दाने के लिए तरसने लगा। आखिर एक दिन अपनी पत्नी की बार-बार की प्रेरणा से क्षत्रियकुंड नगर को छोड़कर धन कमाने के लिए वह विदेश चला गया। परन्तु भाग्यहीन को लक्ष्मी कहाँ से ? अंतराय कर्म के तीव्र उदय के कारण अनेक गाँवों

नगरों व देशों में भटकने पर भी वह कुछ भी धन कमाए बिना वापस अपने नगर लौट आया । उसकी पत्नी को तो बहुत बड़ी आशा थी कि उसके पति खूब धन कमाकर आएंगे...परन्तु जब उसने देखा कि वे कुछ भी लेकर नहीं आए हैं, तब उसे अत्यंत ही आघात लगा । वह अपने पति को ठपका देती हुई बोली,

``ओ पापी ! सिद्धार्थ-नंदन यहाँ एक वर्ष तक पुष्करावर्त मेघ की भाँति निरन्तर बरसते रहे । याचकों को मुँहमाँगा दान देकर उन्होंने जगत् को द्रव्य-दारिद्र्य से मुक्त किया । यदि तुम भी शीघ्र लौट आते तो कम-से-कम ऐसी दरिद्रता तो सहन नहीं करनी पड़ती । उनके दान के प्रभाव से कितने गरीब व्यक्ति भी समृद्ध बन गए हैं । क्या तुमने कहीं भी उनके दान की बात नहीं सुनी ?'' पत्नी की इस बात को सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा, ``अर्थार्जन के लिए मैं दूर-दूर देश में भटका हूँ, परन्तु दुर्भाग्य के कारण कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका । दूर-देशांतर में चले जाने के कारण मुझे इस बात के समाचार भी नहीं मिल पाए कि सिद्धार्थनंदन ने इस प्रकार दिल खोलकर दान किया है ।''

ब्राह्मणी ने कहा, ``यद्यपि सिद्धार्थ-नंदन ने सब कुछ छोड़ दिया है, फिर भी तुम उन्हीं के पास जाओ और उनके पास याचना करो । वे करुणा के भंडार हैं, अतः अवश्य ही कुछ देंगे ।'' पत्नी की प्रेरणा प्राप्त कर वह ब्राह्मण क्रमशः प्रभु की शोध करता हुआ प्रभु के पास आया और याचना करते हुए बोला, ``हे दयालु प्रभो ! मैं दुर्भागी शेखर हूँ । इस पेट की पूर्ति के लिए मैं कहाँ-कहाँ नहीं भटका हूँ ? किस-किसके आगे मैंने दीनता व याचना नहीं की ? परन्तु तीव्र पापोदय के कारण मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका । कंगाल जैसी मेरी हालत है । आप तो मेघ की भाँति एक वर्ष तक निरंतर बरसे हो । संपूर्ण जगत् को आपने दारिद्र्य से मुक्त कर दिया...परन्तु दुर्भागी ऐसा मैं इसी दीन-हीन हालत में पड़ा रहा । प्रभो ! आप मुझ रंक पर कृपा करो

और मेरा दारिद्र्य दूर करो ।'' अत्यंत दयनीय और करुण स्वर में जब उस ब्राह्मण ने प्रभु के पास याचना की, तब दया के महासागर ऐसे प्रभु का हृदय भी दया से भर आया ।

प्रभु ने कहा, ``हे देवानुप्रिय ! इस समय तो मैंने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है, यद्यपि यह अयोग्य है फिर भी तेरी इस परिस्थिति को देख इस देवदूष्य का आधा भाग तुझे प्रदान करता हूँ ।'' इस प्रकार कहकर प्रभु ने देवदूष्य का आधा भाग उस गरीब ब्राह्मण को दे दिया ।

आधे देवदूष्य को पाकर वह ब्राह्मण अत्यंत ही खुश हो गया और वह उसका मूल्य पाने के लिए किसी बुनकर के घर चला गया । इस दिव्य वस्त्र को देखकर वह बुनकर भी खुश हो गया । उसने पूछा, ``यह कहाँ से लाया ?''

ब्राह्मण ने कहा, ``यह तो प्रभु ने मुझे दान में दिया है ।''

बुनकर ने कहा, ``यदि इसका आधा भाग भी तुम ले आओ तो मैं उन दोनों टुकड़ों को इस प्रकार सी लूंगा कि इसके भेद का पता नहीं लगेगा, जिसके फलस्वरूप उसकी बड़ी कीमत एक लाख सोना मोहर प्राप्त हो सकेगी, जिससे हम दोनों का दारिद्र्य सदा के लिए मिट जाएगा ।''

ब्राह्मण ने कहा, ``अब मैं दूसरी बार प्रभु के पास कैसे याचना करूँ ?''

बुनकर ने कहा, ``तुझे माँगने की जरूरत नहीं है, तू प्रभु के पीछे-पीछे चलना, वह वस्त्र कहीं काँटे में लग जाए तो तू प्राप्त कर लेना ।'' बुनकर की बात उस ब्राह्मण को पसंद आ गई । वह भगवान के समीप आ गया और प्रभु के विहार करते समय पीछे-पीछे चलने लगा ।

...एक दिन अचानक वह वस्त्र किसी काँटे में लग जाने से नीचे गिर पड़ा । बस, उस समय उस

ब्राह्मण ने वह वस्त्र उठा लिया । उस वस्त्र को लेकर वह बुनकर के पास गया ।

उस बुनकर ने उन दोनों टुकड़ों को अच्छी तरह से जोड़ लिया, जिसके फलस्वरूप उसे 1 लाख सोना मोहरें प्राप्त हो गईं । उन दोनों ने वह धन आधा-आधा बाँट लिया । दोनों का दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो गया ।

पुष्प-सामुद्रिक

◆ एक बार प्रभु गंगा नदी के तट पर से जा रहे थे । तब गंगा नदी के तट की महीन रेती में प्रतिबिंबित हुए चक्र, ध्वज, अंकुश आदि चिह्नों को देखकर **पुष्प** नाम के एक सामुद्रिक ने सोचा, `इस मार्ग से कोई चक्रवर्ती अकेला गया लगता है, अतः मैं भी जाकर उसकी सेवा करूँ तो मुझे भी विशेष लाभ हो सकता है ।' इस प्रकार विचार कर उन पद-चिह्नों के आधार पर वह आगे बढ़ा । आगे जाकर जब मुंडित मस्तक वाले प्रभु को देखा तो वह सोचने लगा, `अहो ! मैंने व्यर्थ ही खूब मेहनत करके यह सामुद्रिक शास्त्र पढ़ा है । यह सामुद्रिक शास्त्र झूठा लगता है । इतने श्रेष्ठ लक्षणोंवाला भी यदि मुंडित होकर व्रत-कष्ट सहन करता हो तो इस सामुद्रिक शास्त्र का क्या अर्थ है ?' इस प्रकार विचारकर वह उन सामुद्रिक शास्त्रों को नदी में फेंकने के लिए तैयार हो गया ।

अपने अवधिज्ञान से पुष्प के इस आचरण को देखकर इन्द्र महाराजा तुरंत ही वहाँ उपस्थित हो गए और प्रभु को वंदन कर उस पुष्प को बोले, ``तू व्यर्थ ही खेद क्यों करता है ? इस प्रकार के उत्तम लक्षणों से युक्त ये कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं । ये तो देवों व असुरों के भी स्वामी हैं । समस्त संपत्ति के आश्रयभूत ये तीर्थंकर होने वाले हैं । इनकी काया स्वच्छ, रोगरहित और पसीने रहित है, इनका श्वास भी सुगंधित है ।

इनके शरीर में रहा रक्त व मांस भी गाय के दूध के समान स्वच्छ है । इनके बाह्य-अभ्यंतर अगणित लक्षणों को गिनने में कौन समर्थ है ?'' इतना कहकर शक्रेन्द्र ने उस पुष्प नाम के सामुद्रिक को रत्न-सुवर्ण आदि देकर समृद्ध कर दिया ।

प्रभु भी अन्यत्र विहार कर गये । दीक्षा स्वीकार करने के 12 .5 वर्ष के साधनाकाल में भगवान महावीर पर देव, मनुष्य और तिर्यंच के भयंकर से भयंकर उपसर्ग हुए । उन सभी परिषह-उपसर्गों को प्रभु ने अत्यंत ही समतापूर्वक सहन किया । वे उपसर्ग इस प्रकार हैं–

मोराक सन्निवेश से विहारकर प्रभु ने पहला चातुर्मास शूलपाणि यक्ष के मंदिर में किया था ।

उपसर्ग-निवारण

मथुरा नगरी ! जिनदास श्रावक और साधुदासी श्राविका । जिनदास व साधुदासी दोनों जिन धर्म के परम उपासक थे । उन्होंने श्रावकजीवन के अलंकार स्वरूप बारह व्रतों को स्वीकार किया था ।

पाँचवें परिग्रहपरिमाण अणुव्रत में उन्होंने चतुष्पद गाय-बैल आदि पशु नहीं रखने का नियम किया था । वे किसी ग्वालिन के पास से हमेशा दूध-दही आदि खरीद लेते थे । एक बार वह ग्वालिन बहुत सा दही लेकर आई । साधुदासी श्राविका ने वह सारा दही खरीद लिया और बोली, ``तुझे दूध-दही बेचने के लिए कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है, तुम्हारा सारा दूध-दही मैं ग्रहण कर लूंगी ।''

वह ग्वालिन बड़ी खुश हो गई और हमेशा दूध-दही आदि लाने लगी । वे भी खुश होकर उस ग्वालिन को वस्त्र आदि भेंट देने लगे । इस प्रकार उन दोनों में परस्पर खूब स्नेह हो गया ।

एक बार उस ग्वालिन के घर लग्न का प्रसंग आया । उस ग्वालिन ने उन दोनों को लग्नप्रसंग पर आने

के लिए आमंत्रण दिया...परन्तु उन दोनों ने अपनी असमर्थता बतलाई और कहा, ``विवाह के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता हो तो तुम ले जा सकती हो।'' इतना कहकर साधुदासी ने उसे अन्न, वस्त्र, अलंकार आदि प्रदान किये। साधुदासी द्वारा दी गई सामग्री से उस ग्वालिन का विवाह कार्य बहुत ही अच्छे ढंग से संपन्न हो गया, अतः प्रसन्न होकर ग्वालों ने तीन वर्ष के कंबल-शंबल नाम के दो बछड़े जबरदस्ती इनके घर बाँध दिये।

जिनदास ने सोचा, `यदि इन बछड़ों को मैं नहीं रखूंगा तो इन्हें हल आदि में जोड़ा जायेगा...अतः अब मैं क्या करूँ ?' इस प्रकार विचार कर वह श्रेष्ठी उन दोनों बैलों का प्रासुक घास और छने हुए पानी से पालन-पोषण करने लगा। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जब श्रेष्ठी पौषध कर धार्मिक पुस्तक पढ़ता तो वे बछड़े भी पास में बैठकर सुनते और सेठ के उपवास करने पर वे दोनों बैल भी उपवास करते। सेठ ने उन दोनों बछड़ों का एक साधर्मिक की तरह पालन-पोषण किया। वे बछड़े बड़े हो गए।

एक दिन भंडीर यक्ष की यात्रा का महोत्सव आया। ग्रामवासियों ने वाहनों की दौड़ का आयोजन किया। उस दिन जिनदास के एक मित्र ने बिना पूछे ही उन दोनों बैलों को बैलगाड़ी में जोड़ दिया। भंडीर यक्ष की यात्रा में उनको खूब दौड़ाया। उस मित्र ने दौड़ में सभी को जीत लिया। इस प्रकार पहली बार ही इतनी दौड़ करने के कारण वे बैल अत्यंत ही परेशान हो गए। बाद में उस मित्र ने लाकर जिनदास के घर में वे बैल छोड़ दिये।

सेठ ने उन दोनों बैलों की बुरी हालत देखी, इससे उसे बहुत ही दुःख हुआ। सेठ ने घास-चारा व पानी दिया, परन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं खाया।

सेठ ने उनके सामने अन्य भोजन रखा, फिर भी उन बैलों ने कुछ भी नहीं खाया। सेठ ने उन दोनों के भावों को जानकर अनशन प्रदान किया और उन्हें नवकार मंत्र सुनाया। उस नवकार-मंत्र के प्रभाव से वे दोनों बैल समाधि मृत्यु प्राप्त कर नागकुमार जाति के कंबल-शंबल देव बने।

भगवान महावीर परमात्मा पृथ्वीतल को पावन करते हुए सुरभिपुर नगर से आगे बढ़े। बीच मार्ग में गंगा नदी अत्यंत तेजी से बह रही थी। प्रभु उस नदी के तट पर आए। उस नदी को पार करने के लिए एक नाविक ने अपनी नाव तैयार की। अन्य लोगों के साथ प्रभु भी उस नाव में आरूढ़ हुए। जैसे ही नाव चलने लगी, उसी समय नदी तट पर उल्लू आवाज करने लगे। जिसे सुनकर क्षेमिल नाम के निमित्तज्ञ ने कहा, ``अहो ! यह शकुन इस बात को सूचित करता है कि बीच मार्ग में भयंकर आपत्ति आएगी परन्तु इस महर्षि के प्रभाव से सभी बच जायेंगे।''

धीरे-धीरे नाव आगे बढ़ने लगी। नदी के मध्य में पहुँचने के साथ ही **सुदंष्ट्र नाम** के नागकुमार ने अपने पूर्व वैर को याद कर नदी में भयंकर तूफान चालू कर दिया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में भगवान महावीर की आत्मा ने जिस सिंह को जबड़ों से पकड़कर जीर्ण वस्त्र की भाँति फाड़ डाला था, वही सिंह अनेक भवों में भटककर सुदंष्ट्र नामक नागकुमार बना था।

अपने पूर्वभव के वैर को याद कर उसने नाव को डुबा देने के लिए भयंकर तूफान चालू किया। उस तूफान में नाव डगमगाने लगी। भयंकर संवर्तक पवन के कारण गंगा का जल खूब ऊँचाई पर उछलने लगा। नाव के स्तंभ टूटने लगे। नाविक ने नाव को बचाने के लिए भरसक प्रयत्न किये...परन्तु इस दैविक उपसर्ग के आगे वह लाचार बन गया था।

उसी समय कंबल-शंबल नाम के नागकुमारों के आसन कंपित हुए । अपने अवधिज्ञान के बल से प्रभु पर आए उपसर्ग को जानकर वे तुरंत ही अन्य कार्यों को छोड़कर वहाँ आ गए ।

एक देव ने सुदंष्ट्रदेव के साथ युद्ध प्रारंभ किया और दूसरे देव ने अपने हाथों से वह नाव उठाकर तत्काल ही किनारे लाकर रख दी । उसके बाद वे देव प्रभु को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर प्रभु का गुणगान करने लगे, जिसे देख नाव में बैठे सभी लोगों को खूब आश्चर्य हुआ । वे सोचने लगे, **'ये कोई महापुरुष लगते हैं...इनके प्रभाव से ही हम इस आपत्ति से बच सके हैं ।'** इस प्रकार विचार कर वे लोग भी प्रभु को नमस्कार करने लगे । उसके बाद कंबल-शंबल देव भी प्रभु को वंदन कर अपने स्थान पर चले गए ।

शूलपाणि यक्ष

कोशांबी नगरी में अमाप संपत्ति का मालिक धन नाम का श्रेष्ठी था, जिसके धनदेव नाम का पुत्र था । एक दिन धनदेव 500 बैलगाड़ियों में विक्रय योग्य अनाज आदि सामग्री भरकर धन कमाने के लिए कोशांबी नगरी से निकल पड़ा । वह क्रमशः व्यापार करता हुआ वर्धमान गाँव के समीप आ पहुँचा । उस गाँव के बाहर अत्यंत ही कीचड़ वाली नदी थी । इस कारण बैलगाड़ियाँ उस कीचड़ में फँस गईं...परन्तु एक अत्यंत ही पराक्रमी बैल की मदद से वे सारी गाड़ियाँ नदी में से बाहर आ गईं । इस प्रकार अतिसाहस करने के कारण उसके सांधे एकदम टूट गए । उसके मुँह से खून बहने लगा ।

धनदेव ने सोचा, `अब यह बैल आगे चलने में असमर्थ है ।' उसने वर्धमान गाँव के मुखिया को बुलाया और घास-चारा और औषध आदि का पूर्ण प्रबंध हो सके उतने रुपए देते हुए कहा, ``यह बैल आगे चलने में समर्थ नहीं है, इसने हमें खूब-खूब मदद की है, अतः जीवनभर इसका अच्छी तरह से पालन-पोषण हो,

इसके लिए ये रुपए ग्रहण करो ।'' धनदेव की यह बात सुनकर गाँव के मुखिया ने धनदेव को आश्वासन दिया कि आप इस बैल की लेश भी चिंता न करें । अंत में धनदेव ने उस बैल को अपने हाथों से घास-चारा डाला और बाद में अश्रुस्नात आँखों से उससे विदाई ली ।

इधर धनदेव के चले जाने के बाद उन स्वार्थी ग्रामीण लोगों ने उस बैल की लेश भी चिंता नहीं की और वह सारा धन गाँव का मुखिया ही खा गया । अपनी इस स्थिति को देख उस बैल को बड़ा दु:ख हुआ । भूख और प्यास से एक ओर कोने में दु:खदायी स्थिति में पड़ा हुआ वह बैल सोचने लगा, `अहो ! इस गाँव के लोग कितने दयाहीन हैं ? ये कितने निर्दय हैं ? स्वयं करुणा करना तो दूर रहा, किंतु मेरे स्वामी द्वारा चारे-पानी के लिए दिया गया धन भी ये लोग खा गए । अहो ! इन पापियों को धिक्कार हो ।' इस प्रकार ग्रामवासियों पर अत्यंत ही कुपित वह बैल अकामनिर्जरा के फलस्वरूप मरकर **शूलपाणि** नाम का व्यंतर बना ।

उस व्यंतर ने अपने विभंगज्ञान के बल से अपना पूर्व भव देखा और वह वर्धमान ग्रामवासियों के प्रति अत्यंत ही कुपित हो गया । उस व्यंतर ने गाँव में चारों ओर **'मरकी'** की बीमारी फैला दी । देखते-ही-देखते चारों ओर लोग मरने लगे । इस प्रकार ग्रामीणजनों की अकालमृत्यु के कारण चारों ओर हड्डियों के ढेर होने लगे । ग्रामीणजनों ने रोग की शांति के लिए ज्योतिषी आदि को पूछा । गृह-देवी, कुलदेवी आदि की पूजा-स्तुति की, फिर भी रोग शांत नहीं हुआ । लोग गाँव छोड़-छोड़कर अन्यत्र जाने लगे, फिर भी वह उपद्रव शांत नहीं हुआ ।

आखिर वे ग्रामवासी पुन: अपने गाँव में आए और स्नानादि कर बलि-पुष्प आदि से पूजा आदि करते हुए आकाश की ओर ही अंजलि करके बोले, ``हे देव गंधर्वो ! आप हमारी विनंती सुनें । अज्ञान-अविनय व

मद आदि के कारण हम से कोई अपराध हो गया हो तो आप क्षमा करें और आप हम पर कृपा करें ।'' ग्रामवासियों की इस प्रार्थना को सुनकर उस देव ने कहा, ``भूख और प्यास से पीड़ित उस बैल की उपेक्षा करते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई ? अब तुम्हारा बोलना बेकार है । मैं तुम्हें जड़मूल से खत्म कर दूंगा ।''

देव की यह बात सुनकर सभी ग्रामवासी विनम्रता से (आजिजी भरी) प्रार्थना करते हुए बोले, ``हमसे जो अपराध हो गया है, उसे आप क्षमा करें । हम आपकी शरण स्वीकार करते हैं, हमारे लिए तो आप ही शरण हो ।''

ग्राम्यजनों की इस बात को सुनकर वह व्यंतर कुछ शांत हुआ और उसने कहा, ``इन हड्डियों का ढेर कर उसके ऊपर तुम मंदिर बनाओ और उसमें बैल के रूप में मेरी मूर्ति बनाओ ।''

ग्रामीणजनों ने देव की उस बात को स्वीकार किया और उन्होंने यक्ष का मंदिर बनाया । यक्ष की नियमित पूजा करने के लिए **इन्द्रशर्मा** नामक पुजारी को नियुक्त कर दिया । वह नियमित रूप से यक्ष की पूजा-स्तुति करने लगा । अस्थियों पर मंदिर का निर्माण होने से उस गाँव का नाम **'अस्थिकग्राम'** पड़ गया ।

यदि कोई भिक्षु या कार्पटिक रात्रि में उस यक्षमंदिर में विश्राम करता तो वह यक्ष उन्हें मौत के घाट ही उतार देता, अतः इन्द्रशर्मा पुजारी दिन में यक्षदेव की पूजा कर रात्रि में अपने घर चला जाता । श्रमण भगवान महावीर प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए उस गाँव में पधारे । ग्रामवासियों ने प्रभु को ठहरने के लिए अन्य बस्ती दी, परन्तु प्रभु ने इन्कार कर दिया । उस यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए प्रभु ने उसी यक्षमंदिर की याचना की ।

आखिर ग्रामीणजनों ने प्रभु को अनुमति प्रदान की । प्रभु यक्ष के मंदिर के एक कोने में प्रतिमा योग में स्थिर हो गए । सायंकाल में इन्द्रशर्मा नामक पुजारी ने अन्य सभी लोगों को यक्ष के मंदिर में से बाहर निकाल दिया । उसने प्रभु को कहा, ``आप यहाँ रात्रि में मत ठहरिये । अन्यथा वह व्यंतर आपको खत्म कर देगा ।'' प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया । प्रभु मौन ही खड़े रहे ।

संध्या समय वह व्यंतर वहाँ आया और सोचने लगा, **'अहो ! ग्रामीणजनों के रोकने पर भी यह कौन अभिमानी यहाँ आया है ? अभी मैं इसके मद को दूर कर देता हूँ ।'** इस प्रकार विचार कर उस यक्ष ने भयंकर अट्टहास किया । जिसे सुनकर ग्रामवासी भी भयभीत हो गए और सोचने लगे, `जरूर वह यक्ष स्वामी को मार देगा ।' अट्टहास से भी प्रभु को भयभीत न देख उस यक्ष ने प्रभु को डराने के लिए भयंकर पिशाच का रूप किया । फिर भी प्रभु भयभीत नहीं हुए । आखिर उसने साँप का रूप लिया और प्रभु को भयंकर डंख देने लगा । प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए । उसके बाद उसने प्रभु के मस्तक, नेत्र, कान, नाक, दाँत आदि में भयंकर वेदना उत्पन्न की । फिर भी प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए । उस भयंकर वेदना को प्रभु ने समतापूर्वक सहन किया । इस प्रकार विविध उपसर्गों को करता हुआ वह व्यंतर आखिर थक गया और प्रभु के पास अपने अपराधों की क्षमायाचना करने लगा ।

उसी समय इन्द्र के द्वारा प्रभु की सेवा में नियुक्त सिद्धार्थ व्यंतर भी वहाँ आ गया और शूलपाणि यक्ष की भर्त्सना करते हुए बोला, ``अरे सुराधम ! तुमने यह क्या कर डाला ? तीन लोक के लिए पूजनीय तीर्थंकर परमात्मा महावीर प्रभु को तू पहिचानता नहीं है ? यदि इन्द्र को इस बात का पता लग गया तो वे तुझे भयंकर सजा करेंगे ।'' सिद्धार्थ की यह बात सुनकर शूलपाणि यक्ष भयभीत होकर अपने पाप का पश्चाताप

करने लगा । शूलपाणि यक्ष को शांत देखकर सिद्धार्थ ने उसे देव-गुरु व धर्म का सही स्वरूप समझाया । जिसे सुनकर उसने भी **सम्यक्त्व** प्राप्त किया । उसके बाद प्रभु के चरणों में नमस्कार कर वह प्रभु के समक्ष गीत-गान करने लगा ।

प्रातःकाल में यक्ष की इस गीतध्वनि को सुनकर ग्रामवासियों ने अनुमान किया कि उस यक्ष ने स्वामी को खत्म कर दिया है, इसीलिए वह खुशी से नाचगान कर रहा है । कुछ न्यून चार प्रहर तक निरंतर देवकृत उपसर्गों को सहन करने के कारण प्रभु को थोड़ी देर के लिए नींद आ गई । उस नींद में प्रभु ने दस स्वप्न देखे ।

स्वप्न-फल कथन

प्रातःकाल हुआ ! पूर्व दिशा में सहस्त्र-रश्मि का आगमन हुआ । चारों ओर पक्षियों का कलरव प्रारंभ हुआ...उसी समय नगरवासी, इन्द्रशर्मा पुजारी व निमित्तज्ञ उत्पल आदि भी यक्ष के मंदिर में आए । महावीर प्रभु को स्वस्थ देख सभी लोग प्रसन्न हुए । लोगों ने पुष्प आदि से प्रभु की पूजा की और जोर से सिंहनाद किया । वे एक दूसरे को कहने लगे-**'प्रभु ने यक्ष को शांत कर दिया है ।'**

उसी समय उत्पल भी प्रभु को पहिचान कर एक शिष्य की भांति प्रभु के चरणों में बैठ गया । प्रभु ने अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया । उत्पल ने पुनः प्रभु को नमस्कार किया और बोला, ``हे प्रभो ! रात्रि के अंत में आपने जो दस स्वप्न देखे हैं, यद्यपि आप तो परमज्ञानी होने से उन स्वप्नों के अर्थ को जानते ही हो, फिर भी मैं अपने अल्पज्ञान से उन स्वप्नों का अर्थ कहता हूँ ।''

◆ पहले स्वप्न में **'आपने ताल पिशाच को मार डाला'** देखा, इसके फलस्वरूप आप मोह का नाश करोगे ।

◆ दूसरे स्वप्न में **श्वेत पक्षी देखे,** इसके फलस्वरूप आप शुक्ल-ध्यान में लीन बनोगे ।

◆ तीसरे स्वप्न में **आपने विचित्र कोयल देखी,** जिसके फलस्वरूप आप द्वादशांगी की प्ररूपणा करोगे ।

◆ पाँचवें स्वप्न में **आपने उपासना करते हुए गोवर्ग को देखा,** इसके फलस्वरूप चतुर्विध संघ आपकी सेवा करेगा ।

◆ छठे स्वप्न में **आपने पद्म सरोवर देखा** अतः चारों निकाय के देवता आपकी उपासना करेंगे ।

◆ सातवें स्वप्न में **आपने सागर को पार करते हुए देखा,** इसके फलस्वरूप आप संसार सागर के पार को प्राप्त करोगे ।

◆ आठवें स्वप्न में **आपने सूर्य देखा** अतः आप अल्प समय में केवलज्ञान प्राप्त करोगे ।

◆ नौवें स्वप्न में **आपने उदर से आँतों को बाहर निकालकर मानुषोत्तर पर्वत को वींटलाते हुए देखा,** इसके फलस्वरूप आपका यश समस्त त्रिभुवन में प्रसारित होगा ।

◆ दसवें स्वप्न में आपने मेरु पर्वत के शिखर पर अपने आपको आरूढ़ होते हुए देखा । इसके फलस्वरूप आप देव-दानव व मानव की सभा में धर्मोपदेश देंगे ।

चौथे स्वप्न में आपने जो फूलों की दो मालाएँ देखीं, उसका अर्थ मुझे पता नहीं है ।

प्रभु ने कहा, ``उसका फल यह है कि मैं साधु और श्रावक ऐसे दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करूंगा ।'' इस बात को सुनकर उत्पल खुश हो गया और प्रभु को नमस्कार कर अन्यत्र चला गया ।

प्रभु ने भी वहीं पर 15-15 दिन के उपवास व अभिग्रह करके चातुर्मास पूर्ण किया और उसके बाद वहाँ

से विहार प्रारंभ किया । उस समय शूलपाणि यक्ष भी प्रभु के पीछे चला और फिर प्रभु को नमस्कार कर बोला, ``हे प्रभो ! आप पर उपसर्ग करने के कारण मेरे समान कोई अधम नहीं ! हे प्रभो ! आप मेरे उद्धार के लिए ही यहाँ पधारे हो ।''

इस प्रकार प्रभु की स्तवना कर शूलपाणि यक्ष लौट आया और प्रभु भी अन्यत्र विहार कर गए ।

चातुर्मास के बाद प्रभु मोराक सन्निवेश में कायोत्सर्ग में रहे । सिद्धार्थ व्यंतर प्रभु के शरीर में प्रवेशकर लोगों को निमित्त बताकर प्रभु की महिमा बढ़ाने लगा ।

प्रभु की महिमा को देख वहाँ रहे हुए अछंदक नामक नैमित्तिक ने ईर्ष्या से प्रभु को तृण छेद के विषय में प्रश्न किया । सिद्धार्थ ने कहा, ``इसका छेदन नहीं होगा ।''

इस प्रकार कहने पर वह तृण का छेद करने लगा । उसी समय इंद्र ने आकर उसकी अंगुली छेद दी । रोषायमान हुए सिद्धार्थ ने लोगों को कहा, ``यह अछंदक चोर है ।''

लोगों ने कहा, ``कैसे ?''

सिद्धार्थ ने कहा, ``इसने वीरघोष के यहाँ से लोटा चुराकर खजूर वृक्ष के नीचे छुपाया है तथा इन्द्रशर्मा का बकरा खाकर उसकी हड्डियाँ बदरी वृक्ष के नीचे दबा दी हैं । दूसरा दूषण तो मुँह से कहा नहीं जा सकता । वह तो इसकी स्त्री ही सुनाएगी । लोगों ने जाकर उसकी स्त्री को पूछा तो वह बोली, **``इसका मुख भी देखने जैसा नहीं है, यह तो अपनी बहिन के साथ कुकर्म करता है ।''**

इस घटना से लज्जित बना अछंदक प्रभु के पास आकर बोला, ``प्रभो ! आप तो विश्वपूज्य हो, सर्वत्र पूजा पाओगे, मेरी आजीविका तो यहीं पर है ।'' उसकी अप्रीति को जानकर प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया ।

चंडकोशिक उपसर्ग

प्रभु विहार कर श्वेतांबी नगरी की ओर जाने लगे । बीच मार्ग में कनकखल तापस के आश्रम में चंडकोशिक नाम का दृष्टिविष सर्प रहता था । ग्वालों ने प्रभु को कहा, ``आप इस रास्ते मत जाइए, इस मार्ग में दृष्टिविष सर्प रहता है ।'' लोगों के निषेध करने पर भी चंडकोशिक को प्रतिबोध देने की भावना से, भावदया के सागर प्रभु उसी मार्ग से आगे बढ़े और चंडकोशिक के बिल के पास आकर कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़े हो गए ।

चंडकोशिक साँप पूर्व भव में महातपस्वी साधु था । एक बार गोचरी के लिए जाते समय पाँव के नीचे एक मेंढक दबकर मर गया । साथ में रहे बालमुनि ने जब उन्हें अपनी भूल बताई तो वे अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए । प्रतिक्रमण के समय जब बालमुनि ने पुनः याद दिलाया तो तपस्वी मुनि को एकदम गुस्सा आ गया । तपस्वी बालमुनि को मारने के लिए दौड़े । क्रोधावेश में स्तंभ से टकरा गए और मरकर ज्योतिष देवलोक में पैदा हुए ।

देवलोक में से च्यवकर उनका जीव एक आश्रम में 500 तापसों का अधिपति चंडकोशिक महंत बना । एक बार आश्रम के बगीचे में राजकुमार फल तोड़ रहे थे । चंडकोशिक तापस को पता चलते ही वह उन राजकुमारों को मारने के लिए हाथ में कुल्हाड़ा लेकर भागा । बीच मार्ग में गहरा खड्डा आने से उसमें गिर पड़ा । कुल्हाड़े से उसका मस्तक फट गया । वही तापस मरकर दृष्टि-विष सर्प बना । वह सर्प अपनी दृष्टि फेंककर सभी को खत्म कर देता था । उसने जब ध्यान में खड़े रहे प्रभु को देखा तो वह गुस्से में आ गया । सूर्य की ओर दृष्टि कर उसने प्रभु पर अपनी दृष्टि फेंकी...परंतु उसकी वह दृष्टि निष्फल गई । अंत में उसने

प्रभु के पाँव में डंक मारा । डंक मारने पर भी प्रभु वहीं पर निश्चल खड़े रहे । चंडकोशिक ने डंक के स्थान पर खून के बदले दूध की धारा देखी । वह सोच में पड़ गया । उसे शांत देखकर प्रभु ने उसे प्रतिबोध देते हुए कहा, **``बुज्झ ! बुज्झ चंडकोसिया ।''** प्रभु के इन वचनों को सुनकर चंडकोशिक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उसे अपना पूर्व-भव और पूर्वभव में की गई भूलें स्पष्ट दिखाई देने लगीं । उसे अपनी भूलों का तीव्र पश्चाताप हुआ । प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने सोचा, `करुणानिधि प्रभु ने मुझे बचा लिया है ।'

चंडकोशिक ने अनशन कर लिया । उसने अपना मुँह बिल में डाल दिया । **घी बेचने वाले लोग आकर उस** पर घी छांटने लगे, जिससे हजारों चींटियाँ आकर उसके देह में दंश देने लगीं । उसका शरीर जाली जैसा हो गया । फिर भी उसने अत्यंत ही समतापूर्वक वह कष्ट सहन किया । आखिर समभाव में रहते हुए पंद्रह दिन बाद वह सर्प मरकर 8वें देवलोक में देव बना । इस प्रकार प्रभु ने चंडकोशिक को दुर्गति में गिरने से बचा दिया । पंद्रह दिन कायोत्सर्ग कर प्रभु ने भी अन्यत्र विहार कर दिया । वहाँ से विहारकर प्रभु उत्तर वाचाल में गए । वहाँ नागसेन श्रावक ने प्रभु को खीर बहोराई । वहाँ से विहारकर प्रभु श्वेतांबी नगरी में गए । वहाँ के राजा ने प्रभु का खूब सत्कार किया । वहाँ से सुरभिपुर जाते समय नैयक गोत्र के पाँच राजाओं ने प्रभु को वंदन किया ।

दूसरा चातुर्मास

राजगृही नगरी के नालंदा पाड़े में एक जुलाहे की शाला के एक भाग में उसकी अनुमति लेकर चातुर्मास में रहे । प्रभु ने चातुर्मास-प्रारंभ से ही मासक्षमण किया । मासक्षमण के पारणे में विजय सेठ ने प्रभु को उत्तम सामग्री बहोराई, वहाँ पंच दिव्य प्रगट हुए । उस समय वहाँ मंखली की पत्नी सुभद्रा की कुक्षि से उत्पन्न हुआ

गोशाला आ गया । पंच दिव्य आदि की महिमा से आकर्षित होकर गोशाला ने प्रभु को कहा, ``मैं आपका शिष्य हूँ ।'' प्रभु ने दूसरे मासक्षमण का पारणा नंद सेठ के घर पक्वान्न से तथा तीसरा पारणा सुनंदा सेठ के घर परमान्न से किया । चौथा पारणा कोल्लाग सन्निवेश में बहुल नाम के ब्राह्मण ने खीर से कराया, वहाँ पंच दिव्य प्रगट हुए ।

प्रभु को जुलाहे की शाला में न देखकर गोशाला प्रभु को ढूंढने लगा । आखिर कोल्लाग सन्निवेश में मिला । उसने अपना मस्तक मुँडा दिया और प्रभु को **'अब मुझे आपकी दीक्षा हो'** कहकर प्रभु के साथ रहने लगा ।

मार्ग में ग्वाले हांडी में खीर पका रहे थे । गोशाला ने कहा, ``यहाँ भोजन करके चलेंगे ।'' सिद्धार्थ ने कहा, ``यह हांडी फूट जाएगी ।''

गोशाला ने ग्वालों को यह बात कही । अनेक उपाय करने पर भी आखिर वह हांडी फूट गई । यह दृश्य देख गोशाला ने निश्चय किया-**'जो होनहार हो वही होता है ।'**

प्रभु विहार कर ब्राह्मणग्राम में गए । वहाँ प्रभु ने नंद के मोहल्ले में प्रवेश किया, उसने प्रभु को अनुकूल आहार बहोराया । गोशाला उपनंद के मोहल्ले में गया, उसने गोशाला को बासी भोजन दिया ।

गुस्से में आए गोशाला ने कहा, ``मेरे धर्माचार्य के तप-तेज से यह घर जल जाय ।'' देवों ने उस घर को जला दिया ।

तीसरा चातुर्मास

द्विमासी तप (दो महीने के उपवास) करके प्रभु ने तीसरा चातुर्मास चंपानगरी में किया । दूसरे द्विमासी तप का पारणा प्रभुने कोल्लाग सन्निवेश में किया । फिर शून्यगृह में ध्यानस्थ खड़े रहे । वहाँ सिंह नामका

ग्रामीण विद्युत्मति दासी के साथ क्रीड़ा कर रहा था, यह देख गोशाला ने हँसी-मजाक की । उसने गोशाला को पीटा ।

गोशाला ने प्रभु को कहा, ``आपने मुझे क्यों नहीं बचाया ?''

सिद्धार्थ ने कहा, ``भविष्य में ऐसी भूल मत करना ।'' प्रभु पात्तालक के शून्य गृह में रहे । वहाँ भी स्कंदिला दासी के साथ क्रीड़ा कर रहे स्कंदक को देख गोशाला हँसा । उसने भी गोशाला को पीटा ।

प्रभु कुमार सन्निवेश में चंपारमणीय उद्यान में ध्यानस्थ रहे । वहाँ पार्श्वनाथ संतानीय मुनिचंद्र आचार्य अपने शिष्यों के साथ एक कुमारशाला में रहे हुए थे । गोशाला ने उन्हें पूछा, ``तुम कौन हो ?'' उन्होंने कहा, ``निर्ग्रंथ हैं ।''

गोशाला ने कहा, ``कहाँ हमारे धर्माचार्य और कहाँ तुम निर्ग्रंथ ?'' उन्होंने कहा, ``जैसा तू है, वैसे तेरे धर्माचार्य होंगे ।''

गुस्से में आकर गोशाला ने कहा, ``मेरे धर्माचार्य के तेज से तुम्हारा आश्रम जल जाएगा ।'' उन्होंने कहा, ``हमें इसका डर नहीं है ।''

गोशाला ने आकर प्रभु को सब वृत्तांत कहा । रात्रि में जिन-कल्प की तुलना करते मुनिचंद्र आचार्य को चोर समझकर कुंभार ने मार डाला । वे आचार्य अवधिज्ञान पाकर स्वर्ग में गए ।

उनकी महिमा करने के लिए रात्रि में देवताओं ने वहाँ प्रकाश किया तो गोशाला ने कहा, ``देखो, उनका उपाश्रय जल रहा है ।'' सिद्धार्थ ने जब सत्य बात कही तो गोशाला ने जाकर उनके शिष्यों को धमकाया ।

वहाँ से विहार कर प्रभु चौरा गाँव में आए । वहाँ प्रभु व गोशाला को जासूस समझकर कोतवाल उन्हें कुए में उतारने का प्रयत्न करने लगा । गोशाला को कुए में उतारकर प्रभु को भी कुए में उतारने लगा, तभी उत्पल नैमित्तिक की दो बहिनें, सोमा और जयंति संन्यासिनी वहाँ आ गईं । उन्होंने प्रभु को पहिचानकर, कुए में डालने से रुकवा दिया और गोशाला को भी मुक्त किया ।

चौथा चातुर्मास

भगवान ने चौथा चातुर्मास चार मास के उपवास पूर्वक पृष्टचंपा में किया । चातुर्मास बीतने पर प्रभु कायंगल सन्निवेश होते श्रावस्ती पधारे । नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन थे । सिद्धार्थ ने गोशाला को कहा, ``आज तू मनुष्य के मांस का भक्षण करेगा ।''

मानव मांस से बचने के लिए गोशाला किसी वणिक् के घर भिक्षा के लिए गया । वहाँ पितृदत्त वणिक् की स्त्री मृत-पुत्रों को जन्म देती थी । शिवदत्त निमित्तज्ञ को पूछने पर उसने उपाय बताते हुए कहा, ``मृत बालक का मांस, खीर में मिलाकर किसी भिक्षुक को देना ।'' उस स्त्री ने गोशाला को मृत बालक के मांस से मिश्रित खीर दे दी और अपने घर का दरवाजा भी बदल दिया । गोशाला ने जब खीर खाने की बात की, तब सिद्धार्थ ने उसे वमन करने को कहा । वमन करने पर सही बात का पता चला । गोशाला कुपित हो गया । वणिक् का घर नहीं मिलने पर प्रभु के नाम से उसने पूरा मोहल्ला ही जला दिया । वहाँ से प्रभु हरिद्र सन्निवेश में हरिद्र वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में रहे । वहाँ कुछ राहगीरों ने भगवान के पैर का चूल्हा बनाकर खीर पकाई । अग्नि से भगवान के पैर जले । वहाँ से प्रभु मंगल गाँव में वासुदेव के मंदिर में ध्यानस्थ रहे । गोशाला आँखें फाड़कर बालकों को डराने लगा तो लोगों ने उसको पीटा ।

◆ आवर्त गाँव में बलदेव के मंदिर में प्रभु ध्यानस्थ खड़े थे । गोशाला विचित्र चेष्टाएँ करने लगा । उसे पागल समझकर लोग प्रभु को ही मारने के लिए तैयार हो गए । उसी समय बलदेव की मूर्ति हल उठाकर सामने हो गई । लोग घबरा गए । इस चमत्कार से सभी प्रभु के चरणों में गिर पड़े ।

◆ वहाँ से प्रभु चोराक सन्निवेश में गए । कुछ लोग मंडप में भोजन पका रहे थे । गोशाला के विचित्र वर्तन को देखकर लोगों ने उसे पीटा । गोशाला ने गुस्से में आकर प्रभु के नाम से उस मंडप को ही जला दिया ।

◆ वहाँ से प्रभु कुलंबुका सन्निवेश में गए । वहाँ कालहस्ति ने प्रभु पर उपसर्ग किया और मेघ ने प्रभु से क्षमा मांगी ।

◆ वहाँ से प्रभु क्लिष्ट कर्मों की निर्जरा करने के लिए लाट देश में गए । वहाँ प्रभु पर हीलना आदि के अनेक उपसर्ग हुए ।

पूर्णकलश नाम के अनार्य गाँव में जाते हुए प्रभु को दो चोर मिले । अपशकुन की बुद्धि से वे प्रभु को तलवार से मारने के लिए दौड़े, उसी समय इन्द्र ने आकर उन्हें पकड़ लिया ।

पाँचवाँ चातुर्मास

प्रभु ने पाँचवाँ चातुर्मास भद्रिका नगरी में किया । वहाँ मासक्षमण तप किया । चातुर्मास बाद तंबाल गाँव में पधारे । वहाँ पार्श्वनाथ संतानीय नंदिषेण आचार्य साधना कर रहे थे । रात्रि में कोतवाल के पुत्र ने उन्हें चोर समझकर मार दिया, वे मरकर देवलोक में गए । यहाँ भी गोशाला का वृत्तांत मुनिचंद्र आचार्य के समान समझ लें ।

वहाँ से कूपित सन्निवेश में पधारे । जासूस की शंका से कोतवाल ने पकड़ लिया, परंतु पार्श्वनाथ प्रभु की शिष्याएँ विजया और प्रगल्भा जो बाद में परिव्राजिका हो गई थीं, प्रभु को पहिचान गईं । उन्होंने कोतवालों

को समझाकर छुड़ा दिया । गोशाला प्रभु को छोड़ अकेला ही जा रहा था । मार्ग में उसे 500 चोर मिले, जो एक-एक करके गोशाला के कंधे पर चढ़ने लगे, गोशाला परेशान हो गया । उसने सोचा, `अब प्रभु के साथ रहना ही ठीक है ।' वह प्रभु को ढूंढने लगा ।

प्रभु वैशाली में शून्य लुहार की शाला में ध्यानस्थ खड़े थे । छह महीने की बीमारी के बाद ठीक हुआ लुहार वहाँ आया, प्रभु को देख, अपशकुन की बुद्धि से प्रभु को मारने के लिए उसने घन उठाया...परंतु उसी समय इन्द्र ने वहाँ आकर उस घन से लुहार को ही मार डाला ।

शीत-उपसर्ग

◆ वहाँ से प्रभु सामाक सन्निवेश में गए । वहाँ विभेलक यक्ष ने प्रभु की महिमा की । फिर शालीशीर्ष गाँव के उद्यान में माघ मास में ध्यानस्थ रहे । प्रभु पर, वासुदेव के भव में अपमानित हुई स्त्री, जो मरकर व्यंतरी बनी थी, उसने पूर्व भव के वैर का बदला लेने की भावना से तापसी का रूपकर अपनी जटाओं में से ठंडे जल की वर्षा कर प्रभु पर भयंकर शीत उपसर्ग किया । प्रभु को निश्चल देख वह शांत हो गई और प्रभु की स्तुति करने लगी ।

छट्ठतप द्वारा उपसर्ग सहते हुए प्रभु को लोकावधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

छठा चातुर्मास

प्रभु ने छठा चातुर्मास भद्रिकानगरी में चार मास के उपवास के साथ किया । उस समय प्रभु ने अनेक अभिग्रह किये । शेष काल में मगध भूमि में उपसर्ग रहित विचरे ।

सातवाँ चातुर्मास

प्रभु ने सातवाँ चातुर्मास चार मास के उपवास पूर्वक आलंभिका में किया । बाहर पारणा कर कुंडक सन्निवेश में ध्यानस्थ रहे, वहाँ वासुदेव की मूर्ति के साथ अश्लील चेष्टा करनेवाले गोशाला को लोगों ने खूब पीटा ।

वहाँ से प्रभु मर्दन गाँव में ध्यानस्थ हो बलदेव के मंदिर में रहे । वहाँ भी खराब चेष्टाएँ करनेवाले गोशाला को लोगों ने पीटा । क्रमशः प्रभु उन्नाग सन्निवेश में गए । मार्ग में बड़े दाँतवाले युगल को देखकर हँसी-मजाक करनेवाले गोशाला को उन दोनों ने खूब पीटा ।

आठवाँ चातुर्मास

प्रभु ने आठवाँ चातुर्मास राजगृही में चार मास के उपवास पूर्वक किया । बाहर पारणा कर अनार्य देश में गए ।

नौवाँ चातुर्मास

प्रभु ने नौवाँ चातुर्मास अनियत अनार्य भूमि में चार मास के उपवास पूर्वक किया । वहाँ प्रभु पर बहुत उपसर्ग हुए ।

वहाँ से विहारकर प्रभु कुर्म गाँव की ओर जा रहे थे । बीच मार्ग में एक तिल का पौधा देखकर गोशाला ने प्रभु को पूछा, ``यह पौधा फलेगा या नहीं ?'' प्रभु ने कहा, ``फलेगा । इसमें रहे सातों फलों के जीव मरकर इसकी एक ही फली में तिल के रूप में पैदा होंगे ।''

प्रभु के वचन को मिथ्या सिद्ध करने के लिए गोशाला ने तिल के पौधे को उखाड़ कर एक ओर रख दिया । प्रभु की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिए पास में रहे व्यंतरदेव ने उस भूमि में वृष्टि की । फिर गाय का खुर पड़ने से उस पौधे का मूल पुनः जमीन में दब गया ।

◆ वहाँ से प्रभु कूर्मगाँव में गए । वहाँ वैश्यायन तापस अपनी जटाओं को खुली कर आतापना ले रहा था । उसके बालों में जुएँ देखकर गोशाला `जूं का घर (शय्यातर)' कहकर तापस की मजाक करने लगा । उससे गुस्से में आकर तापस ने उस पर तेजो-लेश्या छोड़ दी । प्रभु ने शीतलेश्या छोड़कर उसे बचा लिया ।

गोशाला ने प्रभु को पूछा, ``यह तेजोलेश्या कैसे सिद्ध होती है ?''

अवश्यंभावी भाव के योग से सांप को दूध पिलाने की तरह अनर्थकारी तेजोलेश्या की विधि बताते हुए प्रभु ने कहा, ``आतापना पूर्वक छट्ठ तप के पारणे में एक मुट्ठी उबाले हुए उड़द के दाने व एक अंजलि प्रमाण गर्म पानी वापरे, इस प्रकार छह मास तक करने से तेजोलेश्या सिद्ध होती है ।''

वहाँ से विहारकर प्रभु सिद्धार्थनगर की ओर गए । बीच मार्ग में उसी तिल के पौधे को देख गोशाला ने कहा, `तिल की फली में आपके कहे अनुसार सात तिल पैदा नहीं हुए हैं ।'

प्रभु ने कहा, `देख, उस पौधे में तिल पैदा हुए हैं ।' प्रभु के वचन की परीक्षा के लिए गोशाला ने तिल की फली को फाड़कर देखा तो उसमें सात तिल थे । यह देख गोशाला ने अपना सिद्धांत निश्चित किया, **`जीव मरकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न होता है ।'** उसने अपने नियतिवाद को भी पुष्ट किया । गोशाला प्रभु से अलग हो गया । श्रावस्तीनगरी में कुंभार की शाला में रहकर उसने तेजोलेश्या सिद्ध की और दीक्षा छोड़े हुए

पार्श्वनाथ प्रभु के किसी साधु के पास अष्टांग निमित्त का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया । भूत-भविष्य की बातें बतलाता हुआ वह अपने आपको लोगों में सर्वज्ञ के रूप से प्रख्यात करने लगा ।

दसवाँ चातुर्मास

प्रभु ने दसवाँ चातुर्मास श्रावस्तीनगर में विविध प्रकार के तप द्वारा पूर्ण किया ।

संगम कृत घोरातिघोर उपसर्ग

चातुर्मास के बाद पारणा कर महावीर प्रभु देव-मनुष्य व तिर्यंच कृत उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते हुए अपने चरणकमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए अनेक म्लेच्छों से व्याप्त दृढ़-भूमि में पधारे ।

वहाँ एक दिन पेढाल गाँव के बाहर पेढाल नाम के उद्यान में पोलास चैत्य में चोविहार अट्ठम तप पूर्वक अचित्त रुक्ष पुद्गल पर अपनी दृष्टि स्थापित कर एक रात्रि की महाप्रतिमा में खड़े रहे ।

इधर अपने अवधिज्ञान के बल से प्रभु के अप्रतिम शौर्य को देखकर इन्द्र महाराजा का मस्तक सद्भाव से झुक गया । वे अपने सिंहासन से खड़े हो गए और अत्यंत ही भक्तिभाव से प्रभु को नमस्कार करके बोले,

``हे देवो ! तुम सब लोग भगवान महावीर प्रभु की अद्भुत महिमा सुनो ।''

`वे प्रभु पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त हैं । उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है । उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में किसी प्रकार का प्रतिबंध (राग-भाव) नहीं है । वे एक रुक्ष पुद्गल पर अपनी दृष्टि स्थापित करके रहे हुए हैं । कोई उन्हें अपने ध्यान से लेश भी चलित नहीं कर सकता है ।''

इन्द्र के मुख से प्रभु की मुक्तकंठ से प्रशंसा सुनकर एक मिथ्यादृष्टि संगमदेव को मनोमन गुस्सा आ

गया । प्रचंड कोप से अपने होठ फड़फड़ाते हुए वह बोला, `अरे ! एक मानवकीट की इस प्रकार प्रशंसा ! अहो ! सत्य-असत्य कुछ भी बोलने में इन्द्र की सत्ता ही कारण है । अपनी सत्ता के मद के कारण इन्द्र जो मन में आए, बोल सकते हैं । एक मानवकीट की क्या इतनी शक्ति है कि उसे देव भी चलित नहीं कर सके ! जो बड़े शिखरों से युक्त मेरु पर्वत को एक पत्थर के टुकड़े की तरह उठा सकते हैं, ऐसे देव के सामने इस मानव की क्या ताकत है ? मैं अभी जाता हूँ और उन्हें ध्यान से चलित कर आता हूँ'' इस प्रकार कहकर वह सभामंडप में से बाहर निकल गया ।

इन्द्र ने सोचा, **'यह तो महापापी है, अतः यदि मैं इसको रोकूंगा तो यह मान लेगा कि प्रभु अपनी शक्ति से नही किंतु इन्द्र की शक्ति से ध्यान में स्थिर हैं ।'** इस प्रकार विचार कर इन्द्र मौन ही रहे और संगम देव चंद क्षणों में ही प्रभु के पास आ गया ।

1) संगम देव ने सर्वप्रथम प्रलयकाल के समान अत्यंत ही भयंकर धूल की वृष्टि की, पैर से लेकर आँख-कान तक प्रभु को आच्छादित कर दिया । प्रभु का श्वास भी बंद हो गया, फिर भी प्रभु अपने ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए ।

2) उसके बाद संगमदेव ने वज्रमुखवाली चींटियों का उपद्रव चालू किया । वे चींटियाँ प्रभु को काटने लगीं, फिर भी प्रभु ध्यान से चलित नहीं हुए ।

3) उसके बाद संगम ने सुई के समान तीक्ष्ण मुखवाले डाँस प्रगट किये...फिर भी प्रभु चलित नहीं हुए ।

4) उसके बाद प्रचंड-मुखवाली मक्खियाँ उत्पन्न कीं...वे भी प्रभु को काटने लगीं ।

5) उसके बाद भयंकर बिच्छू उत्पन्न किये, वे प्रभु को डंख देने लगे ।

6) उसके बाद संगम ने भयंकर दाढ़ वाले नेवले उत्पन्न किये ।

7) उसके बाद भयंकर फणवाले सर्प पैदा किये जो चंदन वृक्ष की तरह प्रभु के शरीर को विंटला कर प्रभु को काटने लगे ।

8) उसके बाद चूहे प्रगट किये, जो प्रभु को काटने लगे ।

9) उसके बाद भयंकर हाथी प्रगट किया, जो अपनी सूंड द्वारा प्रभु को पीड़ा देने लगा ।

10) उसके बाद हथिनी पैदा कर प्रभु को हैरान करने लगा ।

11) उसके बाद तीक्ष्ण नाखून वाला व्याघ्र प्रगट किया, जो अपने तीक्ष्ण नाखूनों द्वारा प्रभु को पीड़ा देने लगा ।

12) उसके बाद सिद्धार्थ व त्रिशला का रूप कर करुण विलाप द्वारा प्रभु को चलित करने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु निर्मोही ऐसे प्रभु पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा ।

13) उसके बाद सैन्य के पड़ाव (छावनी) की रचना कर प्रभु के पैरों के बीच ही अग्नि प्रगटाकर ऊपर बर्तन रखकर रसोई बनाने लगा ।

14) उसके बाद अनेक पक्षियों के पिंजरे प्रभु के कान, भुजा व स्कंध आदि पर लटकाये । वे पक्षी पिंजरे में से बाहर निकल कर प्रभु के शरीर पर चोंच मारने लगे ।

15) उसके बाद कल्पांतकाल समान रजकणों से युक्त प्रचंड पवन उत्पन्न किया ।

16) उसके बाद उद्भ्रामक वायु उत्पन्न कर प्रभु के देह को घुमाया ।

17) उसके बाद मेरुचूला को भी चूर्ण करने में समर्थ ऐसा सहस्त्र भार प्रमाण कालचक्र प्रभु के ऊपर फेंका, जिससे प्रभु जमीन में जानु प्रमाण धँस गए ।

18) फिर भी प्रभु जब अपने ध्यान से लेश भी विचलित नहीं हुए, तब उसने प्रभात उत्पन्न कर सामानिक देव की ऋद्धि बतलाकर प्रभु को कहा, ``हे देवार्य ! तेरे तप-जप से मैं प्रसन्न हुआ हूँ, अतः अब तू यह कष्ट क्रिया छोड़ दे, तू कहे तो तुझे स्वर्ग में ले चलूँ अथवा जरा आदि से रहित तुझे मोक्ष दे दूँ अथवा विशाल साम्राज्य का अधिपति बना दूँ, तू अन्य सब विकल्प छोड़ दे ।''

19) इतना कहने पर भी प्रभु जब अपने ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए, तब प्रभु को चलित करने के लिए देवांगनाओं की रचना कर अनेक हावभाव बताने लगा ।

इस प्रकार संगम देव ने एक ही रात्रि में प्रतिकूल-अनुकूल सभी उपसर्ग कर लिये...परन्तु वीर प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए ।

20) संगम के आश्चर्य का पार न रहा । उसने सोचा, `दीर्घ काल तक उपसर्ग करने से ये जरूर चलायमान होंगे ।' इस प्रकार विचार कर उस संगम ने निरंतर छह मास तक प्रभु की भिक्षा में अंतराय उत्पन्न किया और जिनका वर्णन नहीं किया जा सके ऐसे भयंकर से भयंकर उपसर्ग किये...फिर भी वह प्रभु को चलित करने में समर्थ नहीं बना ।

आखिर छह मास बाद प्रभु ने सोचा, **`अब वह चला गया होगा'** इस प्रकार विचार कर प्रभु ने व्रज गाँव के गोकुल में भिक्षा हेतु प्रयाण किया...परन्तु पुनः उस संगम ने गोचरी में विघ्न उत्पन्न कर दिया ।

अनेषणीय ! अकल्प्य ! भिक्षा जानकर प्रभु बीच में से ही लौट आए और प्रतिमा में खड़े हो गए ।

संगम ने प्रभु को पुनः ध्यानमग्न देखा । वह थककर चूर-चूर हो गया था । आखिर प्रभु के चरणों में नमस्कार कर म्लान-मुख वाला होकर बोला, **``जिस प्रकार इन्द्र ने आपकी प्रशंसा की थी, वैसा ही**

आपका स्वरूप है । इन्द्र के वचन की अश्रद्धा के कारण ही मैंने निरर्थक आपके ऊपर उपसर्ग किये थे । आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और मैं भ्रष्ट-प्रतिज्ञावाला हूँ । हे क्षमानिधि ! आप मेरे अपराध को क्षमा करें । मैं वापस देवलोक में जाता हूँ और आप भी नि:शंक होकर गाँव-नगर में जाएँ ।'' इतना कहकर वह संगम चला गया । इधर जितने समय तक संगम प्रभु के ऊपर उपसर्ग करता रहा, उतने समय तक सौधर्म देवलोक में इन्द्र आदि सभी देव-देवी शोकमग्न-उत्साहहीन होकर रहे । इन्द्र भी अलंकार-विलेपन आदि छोड़कर सोचने लगा, ``अहो ! प्रभु के ऊपर आए इन समस्त उपसर्गों का मूल कारण मैं ही हूँ । मैंने तो प्रभु के गुणों की प्रशंसा की, परन्तु वही प्रशंसा प्रभु के उपसर्गों का कारण बन गई ।''

अपनी प्रतिज्ञा के भंग से लज्जित होकर अधोमुख उस संगम ने जैसे ही सौधर्म सभा में प्रवेश किया, उसी समय इन्द्र ने अपना मुँह फेर लिया और बोला, ``हे देवो ! इस पापी चांडाल का मुँह देखने जैसा नहीं है । परमात्मा पर घोरातिघोर उपसर्ग कर इसने मेरा भयंकर अपराध किया है । इसे भव-भ्रमण का तो डर नहीं लगा, किंतु मेरा भी भय नहीं लगा, यह कितने आश्चर्य की बात है ?''

``श्री अरिहंत परमात्मा अन्य की सहायता से तप नहीं करते हैं, इसी कारण मैंने इस पापी को उपसर्ग काल में शिक्षा नहीं की थी, अत: अब इस पापी का यहाँ ठहरना भी हमारे पाप के लिए होगा, अत: इस सुराधम को यहाँ से बाहर निकालता हूँ ।'' इतना कहकर अपने पैर से ठोकर लगाकर संगम को देवलोक से बाहर कर दिया ।

इन्द्र से अपमानित बना वह संगमदेव अन्य देव-देवियों से भी तिरस्कृत बना हुआ, मेरु पर्वत की शिखा पर चला गया । जहाँ रहकर वह अपना एक सागरोपम का अवशिष्ट आयुष्य पूर्ण करेगा ।

इधर दूसरे दिन प्रभु ने गोचरी के लिए गोकुल में प्रवेश किया और वहाँ एक ग्वालिन ने प्रभु को खीर से पारणा कराया । उस समय देवताओं ने वहाँ पर पंचदिव्य प्रगट किये ।

◆ फिर आलंभिका नगरी में हरिकांत नामक विद्युत्कुमार इन्द्र तथा श्वेतांबिका नगरी में हरिस्सह नामक विद्युतेन्द्र प्रभु की कुशलता पूछने के लिए आए । श्रावस्ती नगरी में शक्र ने स्कंदक की प्रतिमा में प्रवेश कर प्रभु को नमस्कार किया, जिससे प्रभु की खूब महिमा बढ़ी । कोशांबी नगरी में सूर्य-चंद्र, वाराणसी नगरी में शक्र, राजगृही नगरी में ईशानेन्द्र, मिथिला नगरी में जनकराजा और धरणेन्द्र प्रभु की सुखसाता पूछने के लिए आए ।

ग्यारहवाँ चातुर्मास

प्रभु ने ग्यारहवाँ चातुर्मास वैशाली नगरी में किया । वहाँ भूतेन्द्र ने प्रभु की कुशलता पूछी । वहाँ से प्रभु सुसमार गाँव की ओर गए-जहाँ चमरेन्द्र के उत्पात का आश्चर्य हुआ । प्रभु कोशांबी में पधारे ।

अभिग्रह-पूर्णाहुति

एक दिन अचानक ही शतानीक राजा ने अपने विराट् सैन्य के साथ चंपानगरी को घेर लिया ।

चंपा के अधिपति दधिवाहन राजा की ऐसी कोई तैयारी नहीं थी कि वह शतानीक राजा व उसके सैन्य के साथ मुकाबला कर सके । आखिर मंत्री की सलाह से दधिवाहन राजा ने अपने प्राण बचाने के लिए नगर छोड़कर भाग जाना ही मुनासिब समझा । वह अवसर देखकर नगर छोड़कर भाग गया । शतानीक राजा ने नगर में प्रवेश किया और अपने सैनिकों को स्वेच्छानुसार लूट चलाने के लिए आदेश दिया । बस, सभी सैनिक

अपनी-अपनी इच्छानुसार लूट चलाने लगे । दधिवाहन राजा के नगरत्याग को जानकर धारिणी महारानी व उसकी पुत्री वसुमती भी अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगी । आखिर किसी राजसेवक ने उन्हें पकड़ लिया और रथ में बिठाकर आगे बढ़ा ।

धारिणी के अद्‌भुत रूप व लावण्य को देखकर उस राजसेवक ने किसी को कहा, ``इस स्त्री को मैं अपनी पत्नी बना दूंगा ।'' यह बात सुनकर धारिणी को अत्यंत ही आघात लगा । उस आघात के फलस्वरूप तत्काल उसकी मृत्यु हो गई । धारिणी की मृत्यु को देखकर उस राजसेवक को बड़ा दुःख हुआ । उसने सोचा, `मेरे इन वचनों के कारण ही इस शीलवती स्त्री की मौत हुई है, अतः इस कन्या को ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए ।' इस प्रकार विचार कर वसुमती को कुछ भी कहे बिना उसे लेकर कोशांबी में चला गया और वहाँ बाजार में जाकर उस कन्या को बेचने के लिए खड़ा हो गया ।

उसी समय धनावह सेठ वहाँ आ गया । वसुमती कन्या को देखकर वह सोचने लगा, `अहो ! यह रूप आदि गुणों से सामान्य कन्या तो नहीं लगती है । माता-पिता के वियोग के कारण ही इस कन्या की यह हालत हुई है । यदि यह किसी हल्के व्यक्ति के वहाँ चली गई तो इसका जीवन बिगड़ जाएगा, अतः क्यों न अधिक मूल्य देकर भी मैं इसे खरीद लूँ । मुझे अन्य संतान भी तो नहीं है, अतः इसका पुत्री की तरह पालन-पोषण भी कर सकूंगा ।'

इस प्रकार विचार कर उस सेठ ने उस राजसेवक को मुँह माँगा धन देकर वसुमती को खरीद लिया ।

धनावह सेठ उस कन्या को अपने घर ले गया । उसने उसका परिचय आदि पूछा-परन्तु लज्जा व शर्म के कारण वह कुछ भी कहने में असमर्थ थी । आखिर सेठ ने अपनी पत्नी मूला को कहा, ``इस कन्या का

पुत्री की तरह पालन करना ।'' इस प्रकार वह कन्या धनावह सेठ के वहाँ सुखपूर्वक रहने लगी । कन्या की चंदन के समान शीतल व शांत वाणी को देखकर धनावह सेठ ने उस कन्या का नाम **'चंदनबाला'** कर दिया ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा । उस कन्या ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । पूर्णिमा के विकसित चंद्र की भाँति उसका रूप और लावण्य एकदम खिल उठा । एक दिन ईर्ष्यावश मूला सेठानी के मन में कुविकल्प पैदा हुआ । ``इसके रूप व लावण्य से आकृष्ट बने मेरे पति अवश्य ही इसके साथ पाणिग्रहण कर इसे अपनी पत्नी बना लेंगे, अतः मुझे ऐसा कोई उपाय अवश्य करना चाहिए, जिससे यह पापिनी नष्ट हो जाय ।'' इस प्रकार विचार कर मूला चंदना के छिद्र देखने लगी ।

एक बार दोपहर समय सेठ बाजार से घर लौटे । उस समय सेठ के पाद-प्रक्षालन के लिए कोई नौकर नहीं होने से चंदना ही सेठ के पादप्रक्षालन के लिए खड़ी हो गई और अपने पिता तुल्य सेठ के पैर धोने लगी । उस समय अचानक ही उसका केशकलाप भूमि पर गिर पड़ा । धनावह सेठ ने सहजभाव से उसके केशकलाप को भूमि पर से उठाकर बाँध दिया । अचानक यह दृश्य मूला ने देख लिया । बस, यह दृश्य देखते ही उसके हृदय में ईर्ष्या की आग पैदा हो गई ।

थोड़ी देर बाद सेठ जैसे ही बाहर चले गए...मूला ने तुरंत ही हज्जाम को बुलाकर चंदना का मुंडन करा दिया और उसके पैरों में बेड़ी डालकर उसे घर के एक भोंयरे में छिपा दिया । उसने अपने नौकरों को यह भेद नहीं खोलने की कड़क सूचना भी कर दी ।

शाम के समय जब सेठ घर लौटे तब उन्होंने पूछा, ``चंदना कहाँ है ?'' परन्तु किसी ने कुछ भी जवाब नहीं दिया । सेठ ने सोचा, `कहीं खेल रही होगी ?' इस प्रकार तीन दिन बीतने पर भी जब चंदना

दिखायी नहीं दी तो सेठ ने उन नौकरों को खूब धमकाया ।

आखिर एक वृद्ध दासी ने सोचा, `ऐसे भी मैं वृद्ध हो चुकी हूँ...मूला मेरा ज्यादा तो क्या बिगाड़ेगी ?' इस प्रकार विचार कर मौत की परवाह किये बिना उसने सारी बात सेठ को बतला दी । सेठ को अत्यंत ही आघात लगा । तुरंत ही उन्होंने दरवाजा खुलवाया । उस कमरे में मस्तक मुंडित और भूखी-प्यासी चंदना को देखा । सेठ की आँखों में आँसू आ गए । सेठ उसे उठाकर द्वार पर ले आए । उसके बाद उसकी क्षुधा-तृप्ति के लिए रसोड़े में गए । रसोड़े में अन्य कोई भोजन-सामग्री नहीं थी, अतः सूपड़े में ही उड़द के बाकुले लाकर दे दिए और कहने लगे, ``मैं अभी जाकर लुहार को बुला लाता हूँ, तब तक तू ये बाकुले खाकर अपनी क्षुधा तृप्त करना ।'' इतना कहकर सेठ चले गए ।

इधर पृथ्वीतल को पावन करते हुए प्रभु महावीर अत्यंत ही समता पूर्वक कष्टों को सहन करते हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा कर रहे थे । एक बार पौष वदी 1 के शुभ दिन वीर प्रभु ने एक भीष्म अभिग्रह धारण किया-

'पैरों में लोहे की सांकल हो, मस्तक मुँडा हुआ हो, शोक के भार से रोती हो, स्वयं राजकन्या होने पर भी परगृह में दासीपने को प्राप्त हो, तीन दिन की भूखी हो, एक पैर घर के अंदर और दूसरा पैर घर से बाहर हो, भिक्षा का समय बीत चुका हो, ऐसे समय में सूपड़े में रहे उड़द के बाकुले भिक्षा में प्रदान करेगी तो मैं उसे ग्रहण करूंगा ।'

इस प्रकार के भीष्म अभिग्रह को धारण कर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते, परन्तु अभिग्रह नहीं फलने से लौटकर उपवास कर लेते । दिन पर दिन बीतने लगे । परमात्मा भिक्षा लिये बिना ही लौट जाते हैं, अतः अवश्य ही प्रभु का कोई अभिग्रह होगा, इस प्रकार जानकर लोग अन्य-अन्य प्रकार से प्रभु को भिक्षा लेने

के लिए विनंति करने लगे ।

इस प्रकार कुल 5 महीने और 25 दिन बीत गए । चंदनबाला द्वार पर बैठी हुई थी । उस समय उसके मन में विचार आया, `यदि कोई अतिथि (साधु) पधारे तो उनको दान देकर फिर मैं पारणा करूँ ।' इस प्रकार विचार कर उसने द्वार के सामने देखा और उसी समय महावीर प्रभु को आते हुए देखा । वह दान देने के लिए तैयार हो गई परंतु चंदना की आँखों में आँसू न देख, प्रभु लौटने लगे । प्रभु को लौटते देख चंदना की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी **``अहो ! प्रभु मेरे द्वार तक आए और फिर भी मुझे कुछ लाभ नहीं मिला ?''**

उस समय अपने अभिग्रह की समस्त शर्तों को पूर्ण देख प्रभु वापस आए और चंदनबाला के हाथों से भिक्षा ग्रहण की । उसी समय आकाश में देवदुंदुभि का नाद हुआ । सुगंधित पुष्प व जल की वृष्टि हुई । साढ़े बारह करोड़ सोना मोहर की वृष्टि हुई और आकाश में **`अहो दानं, अहो दानं'** की घोषणा हुई ।

प्रभु के पारणे के वृत्तांत को जानकर शतानीक राजा भी वहाँ पर उपस्थित हुआ । उसी समय दैविक प्रभाव से चंदनबाला की लोहे की सभी बेड़ियाँ अपने आप टूट गईं और केशपाश पूर्ववत् हो गया । उसका समस्त देह अलंकारों से विभूषित हो गया । अपने अभिग्रह का पारणा कर प्रभु अन्यत्र विहार कर गए ।

ग्वाले का उपसर्ग

पृथ्वीतल को पावन करते हुए परमात्मा षण्मानि गाँव के बाहर पधारे । प्रभु प्रतिमा में स्थिर हो गए । उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में, प्रभु ने जिस शय्यापालक के कान में गर्म-गर्म सीसे का रस उँडेला था, वह शय्यापालक मरकर अनेक भवों में भटककर उस गाँव में ग्वाले के रूप में पैदा हुआ । वह ग्वाला अपने

बैलों को लेकर प्रभु के पास आया और बोला, **''मैं गायों को दोहकर वापस आता हूँ, आप इन बैलों का ध्यान रखना ।''** इतना कहकर वह ग्वाला नगर में चला गया । इधर बंधन-रहित वे बैल घास चारा चरते हुए जंगल में पहुँच गए ।

थोड़ी देर बाद वह ग्वाला वापस आया और उसने प्रभु को अपने बैलों के बारे में पूछा । बारबार पूछने पर भी जब प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया, तब अत्यंत ही गुस्से में आकर बोला, 'तुम यदि बहरे हो तो इन कर्ण-छिद्रों को धारण करने की क्या आवश्यकता है ?' इतना कहकर उसने प्रभु के दोनों कानों में कीले ठोक दिये । बाहर से किसी को दिखाई न दे, अतः बाहर का भाग उसने काट दिया । प्रभु ने यह भयंकर उपसर्ग भी अत्यंत ही समतापूर्वक सहन किया । उसके बाद विहार करते हुए प्रभु मध्यम अपापा पहुँचे और वहाँ भिक्षा के लिए सिद्धार्थ वणिक् के घर पधारे ।

खरक वैद्य ने भिक्षा के लिए आए स्वामी को शल्ययुक्त देखा । उसके बाद वह सिद्धार्थ वणिक् उस वैद्य को लेकर उद्यान में आया । यद्यपि प्रभु तो अपने शरीर से सर्वथा निरपेक्ष बने हुए थे, फिर भी उस वैद्य ने भक्ति से अत्यंत ही युक्तिपूर्वक संडसी से खींच कर उन दोनों कीलों को बाहर निकाला । प्रभु के कान में से खून बहने लगा । कान में से कीले बाहर निकालते समय प्रभु को अत्यंत ही भयंकर वेदना उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप उनके मुँह से भी एक भयंकर चीख निकल पड़ी । उसके बाद संरोहिणी औषधि से कान की पीड़ा को दूर कर प्रभु को प्रणाम कर वह वैद्य व वणिक् अपने घर चले गए । प्रभु की वेदना में निमित्त बनने पर भी भक्तिभाव के कारण वे वणिक् व वैद्य मरकर स्वर्ग गए । वह ग्वाला मरकर सातवीं नरक गया । ग्वाले के उपसर्ग से प्रभु पर उपसर्ग प्रारंभ हुए और ग्वाले के उपसर्ग से प्रभु पर उपसर्ग समाप्त हुए ।

प्रभु पर हुए उपसर्गों में कटपूतना व्यंतरी का उपसर्ग जघन्य में उत्कृष्ट, संगमदेव के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम में उत्कृष्ट तथा कान में से कीले बाहर निकालने का उपसर्ग उत्कृष्ट में उत्कृष्ट था ।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी अणगार थे ।

1) गमनागमन के समय ईर्यासमिति के उपयोगवाले थे ।

2) वे बोलते समय भाषासमिति का पालन करते थे ।

3) गोचरी ग्रहण करते समय एषणासमिति के पालन में जागरूक थे ।

4) वस्त्र आदि के लेते-रखते समय आदान-भंड-मत्त-निक्षेपणासमिति के पालन में तत्पर थे ।

5) प्रभु मल-मूत्र परठते समय पारिष्ठापनिका समिति का पालन करते थे ।

6) प्रभु मन, वचन और काया की सम्यक् प्रवृत्तिवाले थे ।

7) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकनेवाले थे ।

8) इन्द्रियों को वश में रखने के कारण गुप्तेन्द्रिय थे ।

9) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों से मुक्त थे ।

10) शांत, प्रशांत और उपशांत थे ।

11) सभी प्रकार के संताप से रहित थे ।

12) पापबंध के कारणभूत हिंसा आदि आस्रवस्थानों से रहित थे ।

13) ममत्व से सर्वथा रहित थे ।

14) सुवर्ण आदि के ग्रंथ से रहित थे ।

15) भगवान कांस्य पात्र की तरह निर्लेप थे, जिस प्रकार कांस्य पात्र पानी से आर्द्र नहीं होता है, उसी प्रकार प्रभु रागादि प्रसंगों में निर्लेप थे ।

16) भगवान शंख की तरह रागादि से रहित होने से निरंजन थे ।

17) प्रभु जीव की तरह अस्खलित गतिवाले थे ।

18) अन्य के आधार की अपेक्षा न होने से प्रभु आकाश की तरह निरालंबन थे ।

19) कहीं भी अवस्थान न करने के कारण प्रभु वायु की तरह अप्रतिबद्ध थे ।

20) कपट आदि की मलिनता न होने से प्रभु शरद् ऋतु के तालाब की तरह अत्यंत ही स्वच्छ हृदयवाले थे ।

21) कमल के पत्ते की तरह कर्म के लेप से रहित थे । 22) कछुए की तरह प्रभु गुप्त इन्द्रियवाले थे ।

23) गेंडे के एक सींग की तरह रागादि से रहित होने के कारण प्रभु एक (अकेले) थे ।

24) पंखी की तरह अनियत आवास वाले होने से विप्रमुक्त थे ।

25) प्रभु भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त थे ।

26) प्रभु कर्मशत्रु के प्रति हाथी की तरह शूरवीर थे ।

27) महाव्रतों के भार को वहन करने में प्रभु वृषभ की तरह सक्षम थे ।

28) परिषह आदि को जीतने में सिंह की तरह दुर्धर्ष थे ।

कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन

29) उपसर्ग को सहन करने में मेरु पर्वत की तरह अचल थे ।

30) हर्ष-शोक के प्रसंग में प्रभु सागर की तरह गंभीर थे ।

31) प्रभु अत्यंत ही शांत होने से चंद्र की तरह सौम्य थे ।

32) ज्ञान और देह की कांति में सूर्य की तरह अत्यंत तेजस्वी थे ।

33) कर्ममल से रहित होने के कारण सुवर्ण की तरह दीप्तिमान थे ।

34) सर्दी, गर्मी को सहन करने में प्रभु पृथ्वी की तरह सहनशील थे ।

35) प्रभु अग्नि की तरह अत्यंत ही तेजस्वी थे ।

36) प्रभु, सचित्त आदि द्रव्य, गाँव-नगर आदि क्षेत्र, सर्दी-गर्मी आदि काल व क्रोध आदि भाव-इन चारों प्रकार के प्रतिबंध, ममता से रहित थे ।

भगवान चातुर्मास के सिवाय शेष काल में गाँव में एक रात और शहर में पाँच रात रहते थे ।

प्रभु वासी-चंदन समान थे अर्थात् वसूले से छीलने पर या चंदन का लेप करने पर भी प्रभु समभाव में रहते थे । अथवा चंदन की लकड़ी को छीलने वाले वसूले को भी चंदन सुवासित करता है, उसी प्रकार उपसर्ग करनेवाले पर भी प्रभु करुणाशील थे ।

घास-मणि या सुवर्ण-पत्थर पर समान दृष्टिवाले थे । सुख-दुःख में समभाववाले थे । इसलोक और परलोक की अपेक्षा से मुक्त थे ।

जीवन व मृत्यु के प्रति आकांक्षा रहित थे । कर्म शत्रु को नष्ट करने में उद्यमशील थे ।

भगवान अनुपम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आलय, विहार, वीर्य, सरलता, नम्रता, निःस्पृहता, तुष्टि, गुप्ति, क्षमा आदि के धारक थे। इस प्रकार साधना करते हुए प्रभु को 12.5 वर्ष बीत गए। इस साधना काल में प्रभु लेटकर कभी सोए नहीं थे। पालखी लगाकर कभी सोए नहीं थे। हमेशा कायोत्सर्ग ध्यान में ही रहते थे। भगवान ने कभी दो दिन साथ में भोजन (एकासना) नहीं किया। प्रभु के सभी पारणे ठाम चोविहार एकासना रूप थे। 12.5 वर्ष के काल में प्रभु का प्रमादकाल मुहूर्त मात्र था।

भगवान का तप

छह मासी	=	1 बार
पाँच महीने 25 दिन	=	1 बार
चार मासी	=	9 बार
त्रिमासी	=	2 बार
ढाई मासी	=	2 बार
दो मासी	=	6 बार
डेढ़ मासी	=	2 बार
मास क्षमण	=	12 बार
पास क्षमण	=	72 बार
भद्र प्रतिमा 2 दिन	=	1 बार

कल्पसूत्र की हिन्दी प्रवचन

महाभद्र प्रतिमा 4 दिन	=	1 बार
सर्वतोभद्र प्रतिमा 10 दिन	=	1 बार
अट्ठम	=	12 बार
छट्ठ	=	229 बार
पारणे	=	349

गणधरवाद

भगवान की साधना का तेरहवाँ वर्ष चल रहा था। उस समय अनुत्तर तप आदि की साधना करते हुए **वैशाख सुदी दसमी** के दिन **पश्चिम प्रहर** में प्रमाण प्राप्त **सुव्रतनामक दिन** में **विजय मुहूर्त** में **जृंभिका** गाँव के बाहर **ऋजुवालुका नदी** के किनारे व्यावृत्त नामक पुराने व्यंतर देव के मंदिर के पास **श्यामक** नाम के गाथापति के खेत में, **शाल** वृक्ष के नीचे **गोदोहिका** आसन में प्रभु आतापना ले रहे थे, उस समय प्रभु को चोविहार छट्ठ था। भगवान क्षपक श्रेणी पर चढ़े। शुक्ल ध्यान चालू था...उस श्रेणी व ध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घाती कर्मों का क्षय हुआ। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर प्रभु अरिहन्त बने। अनंत, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, संपूर्ण, अखंड केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ बने।

सर्वज्ञ बने प्रभु, अष्ट महाप्रातिहार्य आदि शोभा, पूजा के योग्य अर्हत् बने। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने हुए प्रभु समस्त जीवों के गति-आगति, स्थिति, च्यवन आदि तथा जो कुछ सोचा हो-वह सब प्रत्यक्ष जानते थे।

केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान है । इस ज्ञान के द्वारा आत्मा जगत् में रहे समस्त पदार्थों की भूत-भावी और वर्तमान की अनंत पर्यायों को हाथ में रहे पदार्थ की भाँति स्पष्ट जान सकती है । मति व श्रुत ज्ञान द्वारा वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट जानने के लिए इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है, जबकि केवलज्ञान द्वारा जगत् के समस्त पदार्थों को जानने के लिए किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती है ।

तीर्थंकर परमात्मा भगवान महावीर को जैसे ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, वैसे ही इन्द्रों के आसन कंपित हुए । इन्द्रों ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । तीर्थपति महावीर प्रभु के केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर अपने विशाल परिवार के साथ सभी इन्द्र वहाँ उपस्थित हो गए ।

प्रभु को उत्पन्न केवलज्ञान से हर्षविभोर बने हुए चारों निकाय के देवता भक्ति से नाच-गान करने लगे । देवताओं ने रत्न, स्वर्ण व रजतमय तीन गढ़ों से युक्त समवसरण की रचना की । प्रभु ने उस समवसरण में प्रवेश किया । प्रभु जानते थे कि इस पर्षदा में सर्वविरतिधर्म को अंगीकार करने के लिए कोई योग्य नहीं है, फिर भी अपने कल्प के अनुसार क्षण-भर देशना दी ।

यद्यपि तीर्थंकर परमात्मा की देशना कभी निष्फल नहीं जाती है और जिस दिन प्रभु को केवलज्ञान होता है, उसी दिन वे परमात्मा शासन की स्थापना करते हैं, परन्तु महावीर प्रभु की प्रथम देशना के समय सर्वविरति धर्म को अंगीकार करने वाली योग्य आत्मा नहीं होने से महावीर प्रभु उसी दिन शासन की स्थापना नहीं कर सके । इस प्रकार की घटना अनंतकाल में कभी-कभार ही होने के कारण एक 'आश्चर्य' कहलाती है ।

थोड़ी ही देर बाद महावीर प्रभु ने अपनी विहारयात्रा आरंभ कर दी । विहार के समय मार्ग में देवतागण नौ स्वर्ण कमलों की रचना करते थे और प्रभु उन्हीं कमलों पर पैर रखते हुए आगे बढ़ते थे । वे ही कमल पुनः वापस आगे आ जाते थे । अपने केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश में अपापानगरी में रहे इन्द्रभूति आदि को प्रतिबोध के योग्य जानकर वीर प्रभु ने रात्रि में ही 12 योजन का विहार किया ।

वीर प्रभु अपापानगरी के बाहर महसेन उद्यान में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । चौंतीस अतिशयों से सुशोभित महावीर प्रभु ने समवसरण में प्रवेश किया । उसके बाद बत्तीस धनुष ऊँचे चैत्यवृक्ष को तीन प्रदक्षिणा देकर **'नमो तित्थस्स'** कहकर पादपीठ से युक्त सिंहासन पर बैठे । उसी समय भक्ति से युक्त देवताओं ने अन्य तीन दिशाओं में भी प्रभु के अनुरूप प्रतिबिंब की स्थापना की ।

आकाशमार्ग से निरंतर देवताओं के आगमन, देवदुंदुभि के नाद आदि द्वारा जैसे ही नगरवासियों को प्रभु के आगमन के समाचार मिले, सभी लोग अपने समस्त कार्यों को छोड़कर परमात्मा की मीठी-मधुरी, अमृत-वाणी का आस्वाद लेने के लिए समवसरण की ओर बढ़ने लगे । प्रारंभ में अत्यंत ही भक्ति से रोमांचित देह वाले इन्द्र महाराजा ने परमात्मा की भावपूर्वक स्तुति की । तत्पश्चात् भव्य जीवों के कल्याण के लिए तारक वीतराग परमात्मा ने वैराग्ययुक्त अमृत के समान मधुर धर्म-देशना प्रारंभ की ।

◆ अपापापुरी नगरी में सोमिल नाम का अत्यंत समृद्ध ब्राह्मण रहता था । उसने एक महायज्ञ का आयोजन किया था । यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकाण्ड के लिए उसने इन्द्रभूति आदि ग्यारह मुख्य पण्डितों को आमंत्रण दिया था, जो कुशल मंत्रवेत्ता और यज्ञ-याग की क्रियाओं में अत्यंत ही निपुण थे । अपापापुरी में चारों ओर हलचल मची हुई थी । एक ओर हजारों नर-नारी समवसरण की ओर बढ़ रहे थे, तो दूसरी ओर कई

लोग सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ-काण्ड को देखने के लिए आतुर बने हुए थे ।

यज्ञ का प्रारंभ हो चुका था । पवित्र जल से देह शुद्धि कर पवित्र वस्त्रों को धारण किये हुए इन्द्रभूति आदि पंडित यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों का उच्चारण करने लगे और मंत्र द्वारा देवताओं का आह्वान करने लगे । अचानक उसी समय इन्द्रभूति ने अपनी नजर आकाश की ओर उठाई तो उसके आश्चर्य का पार न रहा । उसने देखा कि हजारों देवता आकाश-मार्ग से धरती की ओर आ रहे हैं । देवताओं के दिव्य-प्रकाश से चारों ओर प्रकाश-प्रकाश फैल चुका है । चारों ओर खुशनुमा वातावरण बना हुआ है । देवताओं के आगमन को देख इन्द्रभूति का मनमयूर नाच उठा । वह मन-ही-मन सोचने लगा, ``अहो ! मेरे द्वारा उच्चारित मंत्रों का कैसा प्रभाव ! देवताओं को भी तत्काल उपस्थित होना पड़ा !''

लोग भी तर्क-वितर्क करने लगे कि यज्ञ के प्रभाव से ही ये सारे देवता यज्ञमंडप की ओर आ रहे हैं ।

परन्तु यह क्या ! कुछ ही क्षणों में वे देवता यज्ञ-मंडप को छोड़कर आगे बढ़ गए । इन्द्रभूति के आश्चर्य का पार न रहा । वह सोचने लगा, ``यह क्या ? ये देवता गण इस यज्ञ-मंडप को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जा रहे हैं ? क्या अन्यत्र भी कहीं यज्ञ आदि का आयोजन हुआ है ?'' इन्द्रभूति का मुख मलिन हो गया । उसके मुख पर उदासीनता छा गई । इन्द्रभूति से रहा नहीं गया । आखिर उसने पूछ ही लिया, ``ये देवता कहाँ जा रहे हैं ?''

किसी ने कहा, **``ये देवता तो सर्वज्ञ भगवान को वंदन करने के लिए जा रहे हैं ।''** बस, `सर्वज्ञ' शब्द सुनते ही इन्द्रभूति के मन में आग सी पैदा हो गई । वे सोचने लगे, ``अहो ! मेरे सर्वज्ञ होते हुए वह कौन है, जो अपने आपको सर्वज्ञ के तौर पर प्रख्यात कर रहा है ? यह तो मेरे लिए अत्यंत ही कर्णकटु बात

है । कदाचित् कोई मूर्ख व्यक्ति किसी धूर्त के द्वारा ठग लिया जाता है, परन्तु उसने तो इन देवताओं को भी ठग लिया है ? बड़ा मायावी लगता है, जिस कारण ये बुद्धिमान देवता यज्ञ-मंडप को छोड़कर उसके पास जा रहे हैं ।

``वादी रूपी अंधकार को नष्ट करने में तेजस्वी सूर्य समान मेरे होते हुए भी यह कौन है, जो अपने आपको सर्वज्ञ कहला रहा है ? जिस प्रकार कौए तीर्थ के जल को छोड़ देते हैं, मेंढ़क सरोवर को छोड़ देते हैं, मक्खियाँ शीतल-सुगंधित चंदन को छोड़ देती हैं, नीम के कड़वे पत्ते खाने के आदी बने ऊँट आम वृक्ष के मीठे पत्तों को छोड़ देते हैं, उल्लू सूर्य के तेज को छोड़ देते हैं और सुअर खीर के भोजन को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार ये देवता भी पावन करने वाले यज्ञ-मंडप को छोड़कर उस पाखंडी के पास जा रहे हैं, इससे लगता है कि ये देवता भी विवेकशून्य हो गए हैं ।

``अथवा **'चोर-चोर मौसेरे भाई'** की तरह जैसा वह सर्वज्ञ है, वैसे ही ये देवता लगते हैं ।''

``फिर भी मैं उसके 'सर्वज्ञ' के आडंबर को सहन करने वाला नहीं हूँ । क्या आकाश में एक साथ दो सूर्य रह सकते हैं ? क्या एक गुफा में दो केसरी-सिंह एक साथ रह सकते हैं ? क्या एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं ? यदि नहीं, तो वह और मैं, एक साथ दो सर्वज्ञ कैसे रह सकते हैं ?''

इन्द्रभूति मनोमन इस प्रकार के संकल्प-विकल्प कर ही रहे थे तभी कुछ लोग भगवान को वंदन कर लौटने लगे । इन्द्रभूति ने व्यंग्य में उन लोगों से पूछा, ``अरे ! देखा न उस सर्वज्ञ को, कैसा है वह ?''

इन्द्रभूति के इस प्रश्न का जवाब देते हुए वे लोग कहने लगे-

``तीनों लोक के सभी लोग उनके गुणों की गणना करने बैठ जायें और उन लोगों का आयुष्य

कभी समाप्त होने वाला नहीं हो तथा परार्ध्य से भी ऊपर गणित हो, तो भी उनके समस्त गुणों की गणना नहीं हो सकती है, तात्पर्य यह है कि अति दीर्घ आयुष्य वाले जगत् के सभी लोग प्रभु के गुणों की गिनती करने बैठ जाएँ तो भी उन जीवों का आयुष्य पूर्ण हो सकता है, परन्तु प्रभु के सभी गुणों की गणना नहीं हो सकती है ।''

लोक-मुख से सर्वज्ञ भगवान महावीर प्रभु की इस गौरव-गरिमा को सुनकर इन्द्रभूति के खेद का पार न रहा ।

वे सोचने लगे, ``अहो ! यह तो महाधूर्त लगता है, माया का कुलमंदिर है, जिसने सभी लोगों को भ्रमजाल में फँसा दिया है । परन्तु मैं एक क्षण मात्र भी उस ढोंगी सर्वज्ञ के आडम्बर को सहन नहीं कर सकता हूँ । क्या अंधकार के समूह को नष्ट करने के लिए सूर्य किसी की प्रतीक्षा करता है ? कदापि नहीं ।

``जिस प्रकार हाथ से स्पर्श करने पर अग्नि जलाती ही है, वह किसी पर दया नहीं दिखाती है । कोई आकर सिंह की केशराओं को खींचे तो क्या वह दया करता है ? शत्रु सैन्य का आक्रमण होने पर क्या क्षत्रिय-पुत्र मौन धारण कर सकता है ? कदापि नहीं, बस, इसी प्रकार इस वादी के उपस्थित होने पर मैं मौन कैसे रह सकता हूँ ? मैंने तो बड़े-बड़े वादी-शिरोमणियों को मौन कर दिया है तो फिर **'घर में ही शूरवीर'** की भाँति यह मेरे आगे कैसे टिक सकता है ?

``अरे ! जिस आग ने बड़े-बड़े पर्वतों को जला दिया हो, उसके लिए वृक्षों की तो क्या कीमत है ? जिस वायु ने बड़े-बड़े हाथी उड़ा दिये हों, उसके लिए कपास को उड़ा देना क्या बड़ी बात है ? ओहो ! मुझ से डर कर गौड़ देश के पंडित तो दूर-देश में चले गए हैं और गुर्जर पंडित तो त्रस्त हो गए हैं । मेरे

भय से मालवा के पंडितों की तो मौत ही आ गई है ।

``अरे ! लाट देश में उत्पन्न हुए पंडित कहाँ भागकर चले गए उनका पता ही नहीं है । द्राविड़ देश के होशियार पंडित मेरे भय से लज्जित हो गए हैं । अहो ! मैं तो वादियों का इच्छुक हूँ, परन्तु अभी तो जगत् में वादियों का अकाल ही पड़ गया है । ``मेरे आगे यह कौन वादी है, जो अपने आप **'सर्वज्ञ'** का बिरुद धारण कर रहा है, अभी मैं जाकर उसे हरा देता हूँ ।'' इस प्रकार जाने के लिए उत्सुक बने इन्द्रभूति को देखकर अग्निभूति ने कहा, ``हे बंधुवर्य ! उस वादी कीट को हराने के लिए आपको जाने की क्या आवश्यकता है ? क्या एक कमल को उखाड़ने के लिए किसी ऐरावण हाथी को भेजा जाता है ?''

इन्द्रभूति बोला, ``यद्यपि उस वादी को मेरा एक छात्र भी जीत सकता है, फिर भी **'वादी'** के नाम को सुनकर मेरे पैर यहाँ स्थिर नहीं रह पा रहे हैं । तिलों को पीलते हुए शायद कोई तिल पीलने से रह जाता है, अथवा अनाज को दलते हुए कोई दाना रह जाता है, बस, इसी प्रकार सभी वादियों को जीतने पर भी लगता है, यह वादी बाकी रह गया है, परन्तु अब मुझे उसे जीतना ही होगा । यदि एक को भी जीतना बाकी रख दूँ, तो मैं सर्व-विजेता नहीं कहला सकूंगा ।''

``सती स्त्री एक बार भी शील भंग कर दे तो वह सती नहीं कहलाती है, असती ही कहलाती है । आश्चर्य है कि मैंने वाद द्वारा हजारों को जीत लिया है फिर भी यह कैसे बच गया ? जिस प्रकार शरीर में रहा छोटा सा शल्य जीवन को समाप्त कर देता है, उसी प्रकार यदि इस एक को नहीं जीतूँ तो **'विश्व-विजेता'** का मेरा यश नष्ट हो जाएगा ।

``एक छोटा सा भी छिद्र, नाव को समुद्र में डुबो देता है, अतः यदि एक को भी हराना रह गया तो

मेरा उज्ज्वल यश नष्ट हो जाएगा ।'' इस प्रकार अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प कर इन्द्रभूति प्रभु से वाद करने के लिए तैयार हो गए ।

उन्होंने अपने मस्तक पर बारह तिलक किये । स्वर्ण की जनेऊ धारण की । अत्यंत आकर्षक पीत वस्त्र धारण किये । इसके साथ ही इन्द्रभूति के कुछ शिष्य हाथ में पुस्तक कमण्डल व दर्भ आदि धारण कर इन्द्रभूति की बिरुदावली बोलने लगे, **''जय हो पंडित-शिरोमणि इन्द्रभूति की ! जय हो सरस्वती-कंठाभरण ! जय हो वादिसिंह-अष्टापद ! वादिचक्र-चूड़ामणि ! पंडितशिरोमणि ! वादिसमुद्रा-गस्त्य !''** इत्यादि बिरुदावली जोरों से बोली जा रही थी और इन्द्रभूति अपने 500 शिष्यों के साथ प्रभु महावीर के समवसरण की ओर बढ़ रहे थे । बीच मार्ग में भी इन्द्रभूति रोषायमान होकर विचार करने लगे, ***''लगता है एक मेंढ़क काले सर्प को थप्पड़ लगाने के लिए तैयार हुआ है ।''***

''एक बैल अपने सींगों के द्वारा ऐरावण हाथी पर प्रहार करने के लिए तैयार हुआ है । एक हाथी अपने दाँतों द्वारा पर्वत को भेदने की कोशिश कर रहा है ।''

''एक खरगोश केसरी-सिंह की केशराओं को खींचने की हिम्मत कर रहा है, बस, इसी प्रकार यह मेरे सामने अपने आपको सर्वज्ञ के रूप में प्रख्यात कर रहा है । शेषनाग के मस्तक पर रहे मणि को लेने के लिए कोई अपना हाथ फैलाए तो वह व्यक्ति बच नहीं सकता, इसी प्रकार सर्वज्ञता के आडम्बर द्वारा, इसने मुझे कुपित किया है ।''

''खद्योत और चन्द्रमा तभी तक गर्जना करते हैं, जब तक सूर्य का उदय न हो । सूर्य के उदय होने के साथ न तो खद्योत का प्रकाश दिखाई देता है और न ही चन्द्र का । अहो ! मेरे भाग्य से ही

यह वादी उपस्थित हुआ है, आज मेरी जीभ की खुजली निश्चित ही दूर होगी ।

''लक्षणशास्त्र में मैं दक्ष हूँ, साहित्य में मैं निष्णात हूँ, तर्क में मैं पूर्ण निपुण हूँ, ऐसा कौन-सा शास्त्र है, जिसमें मैंने श्रम नहीं किया हो ? यमराज के लिए मालवा कितना दूर है ? चक्रवर्ती के लिए क्या अजेय है ? वज्र के लिए क्या अभेद्य है ? महात्माओं के लिए क्या असाध्य है ? भूखे के लिए क्या अखाद्य है ? और दुर्जन व्यक्ति के लिए क्या अवाच्य है ? कल्पवृक्ष के लिए क्या अदेय है ? विरक्तात्मा के लिए क्या अत्याज्य है ? अभी मैं उसके पास जाता हूँ और उसके पराक्रम को देख लेता हूँ ।'' इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूति समवसरण के निकट पहुँच गए और समवसरण की सीढ़ियों पर खड़े रहकर सोचने लगे, ''अहो ! क्या यह ब्रह्मा है ? विष्णु है ? शिव है, शंकर है ?

''क्या यह चन्द्र है ? नहीं, चन्द्र तो कलंकित है ।

''क्या यह सूर्य है ? नहीं, सूर्य तो तीक्ष्ण किरणों वाला है ।

''क्या यह मेरु है ? नहीं, वह तो अत्यंत ही कठोर है ।

''क्या यह विष्णु है ? नहीं, वह तो श्याम है ।

''क्या यह ब्रह्मा है ? नहीं, वह तो वृद्ध है ।

''अथवा अब पता चला, ये तो सर्वदोषों से रहित और समस्त गुणों से युक्त अंतिम तीर्थंकर हैं ।'' इन्द्रों के द्वारा पूजित, स्वर्ण के सिंहासन पर बैठे हुए जगत्पूज्य श्री वीर प्रभु को देखकर इन्द्रभूति मन में सोचने लगे, ''अहो ! अब मैं अपनी इज्जत कैसे बचा पाऊँगा ? अरे ! एक कीलिका के लिए महल को नष्ट करने की कौन इच्छा करता है ?''

``अथवा इस एक को नहीं जीत लिया होता तो भी मेरी कौन-सी मान-हानि होने वाली थी ? अब मैं अपने जगत्-विजेता के बिरुद का कैसे रक्षण कर पाऊँगा ? अहो ! यह मैंने बिना सोचे-समझे ही कदम उठा दिया । जगदीश के अवतार समान इनको जीतने का मैंने व्यर्थ ही साहस किया है । अब मैं इनके सामने कैसे जाऊँ ? इनके आगे क्या बोलूंगा ? अहो ! मैं तो संकट में घिर गया हूँ, अब तो शिव ही मेरे यश को बचा सकते हैं । अथवा कदाचित् भाग्य-योग से मेरी जीत हो जाए तो मैं त्रिभुवन में **'पंडित-मूर्धन्य'** पद पा सकता हूँ ।''

समाधान

इस प्रकार अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों से इन्द्रभूति विचार कर ही रहे थे, तभी महावीर प्रभु ने इन्द्रभूति को संबोधित करते हुए कहा, **''हे गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति ! तुम कुशलता-पूर्वक आए हो न ?''** (अर्थात् तुम्हें क्षेम-कुशलता है न ?)

इन्द्रभूति के मन में उछल रहे अभिमान को भगवान अपने केवलज्ञान के बल से प्रत्यक्ष देख रहे थे, परन्तु प्रभु तो वीतराग थे । वे न तो भक्ति करने वाले पर खुश होते हैं और न ही तिरस्कार करने वाले पर नाराज ! इस वीतरागता के कारण ही अत्यंत रोषायमान इन्द्रभूति पर भी प्रभु ने गुस्सा नहीं किया, बल्कि करुणानिधि परमात्मा ने उन्हें प्रेम और वात्सल्य से नहला दिया । इन्द्रभूति ने जब प्रभु के मुख से अपना नाम सुना, तब क्षण भर तो वे स्तब्ध हो गए । **'अहो ! ये तो मेरा नाम भी जानते हैं ?'**

दूसरे ही क्षण उनके अन्तर्मन में छिपा हुआ अभिमान पुनः उछलने लगा और वे सोचने लगे, **''मेरा नाम तो तीनों जगत् में प्रसिद्ध है, आबालवृद्ध सभी मेरा नाम जानते हैं, अतः ये मेरा नाम जानें,**

इसमें क्या आश्चर्य है ? हाँ ! मेरे मन में छिपे संदेह को बतला दें तो मैं मानूँ कि ये सर्वज्ञ हैं ।'' इन्द्रभूति अपने मन में इस प्रकार विचार कर रहे थे, तभी महावीर प्रभु ने कहा, ***''हे इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के बारे में संदेह रहा हुआ है और इसका एकमात्र कारण तुम वेद की पंक्तियों का सही अर्थ नहीं कर रहे हो ।''***

प्रभु ने जैसे ही यह बात कही, इन्द्रभूति के अहंकार को जोरदार चोट लगी । जीव है या नहीं ? इस विषय में इन्द्रभूति के मन में गहरी शंका थी । अनेक धर्मशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करने पर भी जीव के अस्तित्व के विषय में उन्हें पूर्ण समाधान नहीं मिल पा रहा था । यद्यपि इन्द्रभूति अपने पंडितों के सामने अपनी शंका प्रस्तुत करते तो उनकी समस्या का समाधान हो भी सकता था, परन्तु इस प्रकार अन्य के सामने जीवविषयक अपनी शंका को प्रस्तुत करने में उन्हें अपनी लघुता का अनुभव हो रहा था । उन्हें सतत यह भय सता रहा था कि यदि मैंने अपनी शंका दूसरे के सामने रख दी तो मेरी सर्वज्ञता की ख्याति खत्म हो जाएगी ।

परन्तु आज तक जिस शंका को इन्द्रभूति ने अपने मन के भीतरी गर्भगृह में छिपाए रखा था, आज वीर प्रभु ने उसे सामने से ही प्रगट कर दिया । इन्द्रभूति ने कहा, ``हाँ प्रभो ! मेरे अन्तर्मन में रही इस शंका का अभी तक समाधान नहीं हो पाया है, आप उस शंका का निराकरण करने का अनुग्रह करें ।''

प्रभु ने कहा, **'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति ।'**

इस वेदपंक्ति का तुम गलत अर्थ कर रहे हो । तुम इस वेदपंक्ति का यह अर्थ कर रहे हो कि ``विज्ञान-घन अर्थात् गमनागमन की चेष्टा करने वाली आत्मा, पाँच महाभूतों के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाती है ।

आत्मा ही जब नष्ट हो जाती है तो आत्मा के परलोक-गमन का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। जिस प्रकार दीपक के प्रज्वलित होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है और दीपक के बुझते ही प्रकाश नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पाँच महाभूतों के संयोग से जीव उत्पन्न होता है और उनके विघटन से जीव नष्ट हो जाता है, अतः पाँच महाभूतों को छोड़कर जीव का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।''

''इसी प्रकार वेद में यह भी कहा गया है कि 'स वै अयं आत्मा ज्ञानमय' इत्यादि। इस प्रकार वेद के इन दो वाक्यों में तुम्हें अपनी अल्पज्ञता के कारण विरोधाभास प्रतीत हो रहा है और इसी कारण तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्व के विषय में गहरी शंका है। परन्तु हे इन्द्रभूति गौतम ! तुम्हारी यह शंका निरर्थक है, क्योंकि पहली वेदपंक्ति का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है-

``विज्ञान का अर्थ है ज्ञान और दर्शन, जीव ज्ञान और दर्शन के उपयोग से अभिन्न है अर्थात् यह जीव ज्ञानमय और दर्शनमय है। अतः विज्ञानघन का अर्थ **'जीव'** ही होता है। उस जीव को घटादि भूतों के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न होता है और वही ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ के चले जाने पर नष्ट हो जाता है **'न प्रेत्य संज्ञा अस्ति'** अर्थात् पूर्व में जो ज्ञान संज्ञा थी, वह अब नहीं रही। घट के दर्शन से जो ज्ञान हुआ, वह घट में रहा, पट में नहीं। जीव का घट के विषय में जो ज्ञान-दर्शन उपयोग होता है, वह घट में था, पट में नहीं।

``हे इन्द्रभूति ! आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा भी जाना जा सकता है।''

इन्द्रभूति ने कहा, ``क्या अमूर्त और परोक्ष आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है ?'' इन्द्रभूति की जिज्ञासा प्रबल हो उठी।

प्रभु ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा, ``जीव है या नहीं ? यह जो संशय है, वह तुम्हारी विज्ञान चेतना का ही एक रूप है। विज्ञान आत्मा का स्वरूप है। संशय रूप विज्ञान का तुम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो और यही आत्मा का अनुभव है अतः कह सकते हैं कि तुम आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो। जिस प्रकार शरीर के सुख-दुःख का हमें संवेदन होता है, उसके लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार विज्ञान रूप आत्मा का संशय के रूप में तुम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो।

``हे आयुष्मान् ! **'मैंने किया, मैं कर रहा हूँ, मैं करूंगा'** इस प्रकार के वचनों में हमें आत्मबोध की ध्वनि सुनाई देती है। `अहं' रूप ज्ञान का अनुभव ही प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है। `मैं हूँ या नहीं ?' युक्तिपूर्वक सोचोगे तो **'अहं प्रत्यय'** से तुम अपनी आत्मा का ही प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो।''

इन्द्रभूति ने पूछा, ``क्या **'अहं प्रत्यय'** की अनुभूति देह में नहीं हो सकती है ?'' प्रभु ने कहा, ``नहीं गौतम ! अहं शब्द से यदि देह का बोध माना जाए तो यह प्रतीति मृत शरीर में भी होनी चाहिए। परन्तु मृत देह में इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। अतः **'अहं'** प्रत्यय का विषय देह नहीं, किन्तु देही-आत्मा ही है।''

इन्द्रभूति ने पूछा, **``प्रभो ! संशय रूप विज्ञान, क्या देह में नहीं हो सकता ?''**

इन्द्रभूति की शंका का समाधान करते हुए प्रभु ने कहा, ``कोई भी गुण, गुणी के बिना नहीं रह सकता है, संशय स्वयं ज्ञान रूप है, ज्ञान आत्मा का गुण है।''

इन्द्रभूति-**``क्या ज्ञान देह का गुण नहीं हो सकता ?''** प्रभु ने कहा, ``नहीं ! गौतम ! देह जड़ है, जबकि ज्ञान अमृत और बोध रूप है। जड़ गुणी में चेतन गुण नहीं रह सकते। यद्यपि शरीर, आत्मा

के साथ जुड़ा होने से उसे भी उपचार से आत्मा कहते हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो शरीर और आत्मा के लक्षण सर्वथा भिन्न हैं। शरीर जड़ है, मूर्त है, इन्द्रियों से ग्राह्य है, जबकि आत्मा, इन्द्रियों से अग्राह्य है। ज्ञान भी अमूर्त है, अतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है, किन्तु आत्म-संवेद्य है। ज्ञान रूप गुण का कोई आधार होना चाहिए और वह आधार आत्मा ही है, अतः आत्मा ज्ञानमय है।''

आत्मा देह से भिन्न है

``कई अज्ञानी लोग देह को ही आत्मा मान लेते हैं, जबकि आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है।

``हम देह के लिए **'मेरा देह'** तथा देह के अंग आदि के लिए **'मेरा हाथ'** इत्यादि शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु **'मैं देह, या मैं हाथ'** इत्यादि शब्द-प्रयोग नहीं करते हैं। **'मेरा'** शब्द सम्बन्धवाचक है। जब किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ स्वामित्व का सम्बन्ध होता है, तब हम उस वस्तु के लिए मेरा/मेरी शब्द का प्रयोग करते हैं, मेरा घर, मेरी घड़ी, मेरा पेन इत्यादि। **'मेरा घर'** जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तब यह बात स्पष्ट होती है कि **'मैं'** और **'घर'** दोनों भिन्न हैं। बस, इसी प्रकार जब हम अपने शरीर के लिए **'मेरा शरीर'** शब्द का प्रयोग करते हैं, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि **'मैं'** और **'शरीर'** भिन्न हैं। शरीर के साथ स्वामित्व का सम्बन्ध होने के कारण ही हम **'मेरा शरीर'** शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे स्पष्ट है कि **'मैं'** शरीर से भिन्न हूँ और वही **'मैं'** आत्मा है।''

(विज्ञान भी इस बात को सिद्ध कर चुका है कि अपना शरीर परिवर्तनशील है। कुछ ही दिनों में अपने शरीर की चमड़ी बदलती रहती है।)

``बाल्यवय को पूर्ण कर जब व्यक्ति युवावस्था को प्राप्त करता है, तब उसका शरीर आमूलचूल बदला हुआ होता है, फिर भी आश्चर्य है कि बालवय के शरीर के साथ बनी घटनाएँ हमें युवावस्था में भी याद रहती हैं, इसका कारण कौन ? इसका कारण आत्मा ही है । एक ही जीवन में अपने शरीर की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, जबकि आत्मा तो वही होती है और इसी कारण बचपन में बनी हुई घटनाएँ हमें यौवनवय में और यौवनवय में बनी हुई घटनाएँ वृद्धावस्था में भी याद रहती हैं और वह याद रखने वाला जो तत्त्व है-वही आत्मा है ।

``जब हम कहते हैं कि **'अमुक व्यक्ति मर गया'** वह न खाता है, न पीता है, न सोता है, न जागता है, न बैठता है, न चलता है । उसके शरीर की समस्त क्रियाएँ बन्द हो गई हैं । इसका अर्थ यही है कि उसके देह में जो **'आत्मा'** नामक तत्त्व था, वह चला गया । जब तक उस देह में आत्मा थी, तभी तक वह देह खाता था, पीता था, चलता था' परन्तु उस देह में से आत्मा निकल जाने के बाद वे सब क्रियाएँ बन्द हो गईं । इसका अर्थ यह है कि आत्मा इस देह से भिन्न है और उस आत्मा की शक्ति के कारण ही यह शरीर और ये इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं ।

``लोकभाषा में हम कहते हैं कि मैं आँख से देखता हूँ, कान से सुनता हूँ, जीभ से बोलता हूँ, नाक से सूंघता हूँ, परन्तु सचमुच तो हम आँख से नहीं, किन्तु आत्मा की शक्ति से ही देख सकते हैं, सुन सकते हैं और सूंघ सकते हैं । इससे स्पष्ट है कि आत्मा, शरीर से भिन्न है ।

``◆ जगत् में जो चीज विद्यमान हो उसी का किसी स्थलविशेष की अपेक्षा से निषेध किया जाता है । **'मृत देह में आत्मा नहीं है'** इस प्रकार के वाक्य से ही सिद्ध होता है कि अन्यत्र आत्मा है ।

जंगल आदि में सर्प होने पर ही **'घर में साँप नहीं हैं'** इस प्रकार का निषेध कर सकते हैं । यदि जगत् में सर्प का अस्तित्व ही नहीं होता तो घर आदि में उसका निषेध नहीं किया जाता । गधे के सींग का अभाव सर्वत्र होने से कोई यह नहीं कहता है कि **'मेरे गधे के सींग नहीं हैं ।'**

``◆ अब कोई प्रश्न कर सकता है कि **'आत्मा'** नाम की कोई वस्तु हो तो वह दिखाई क्यों नहीं देती है ?

``इसका जवाब यही है कि आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ होने से उसे किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जाना या देखा नहीं जा सकता है ।

``हर व्यक्ति बुद्धि का अनुभव करता है, फिर भी बुद्धि बाहर से बतायी नहीं जा सकती । बस, इसी प्रकार इस देह में आत्मा का अस्तित्व होने पर भी उसे बाहर से बताया नहीं जा सकता ।

``दुनिया में ऐसी बहुत सी चीजें हैं, बहुत से ऐसे संवेदन हैं, जिन्हें हम अनुभव करते हुए भी वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते हैं ।

◆ मूक व्यक्ति गुलाब-जामुन के स्वाद का मजा ले सकता है परन्तु उसे वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता । किसी स्वजन की मृत्यु की पीड़ा से होने वाले आघात का अनुभव करते हुए भी उस पीड़ा की अभिव्यक्ति, वाणी के द्वारा नहीं कर सकते हैं ।

◆ रोडपति / भिखारी को अचानक करोड़ रूपये मिल जाएँ, तो उसे जिस आनंद का अनुभव होता है, उसे वह शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर पाता है ।

काष्ठ में अग्नि, घास में दूध, दूध में घी के अस्तित्व का हम निषेध नहीं कर सकते हैं ।

◆ तार wire में विद्युत् प्रवाह Electricity बहते हुए भी हम उसे अपनी आँखों से देख नहीं सकते, परन्तु इतने मात्र से हम उसके अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकते ।

◆ वृक्ष का मूल और बहता हुआ पवन हमें दिखाई नहीं देता, फिर भी हम उसके अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकते ।

◆ दूर से तेजी से आ रही गाड़ी Motor-Car आदि में ड्राइवर Driver दिखाई नहीं देता, परन्तु इतने मात्र से ड्राइवर का निषेध नहीं किया जाता है ।

◆ अत्यन्त दूर रही वस्तु को, आँख के अत्यंत समीप रही वस्तु को तथा अत्यंत सूक्ष्म वस्तु को हम अपनी आँख के द्वारा नहीं देख पाते हैं, इतने मात्र से उन वस्तुओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते ।

◆ अपना मन विक्षिप्त हो अथवा अन्यत्र हो तो पास में पड़ी रही वस्तु भी हमें दिखाई नहीं देती है, परन्तु इतने मात्र से उस वस्तु का निषेध नहीं कर सकते ।

आत्मा अरूपी पदार्थ होने से उसे किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते ।

- ***आँख रूप को देख सकती है । – आत्मा का कोई रूप नहीं है ।***
- ***कान शब्द को पकड़ सकता है । – आत्मा का कोई शब्द नहीं है ।***
- ***नाक गंध को ग्रहण कर सकता है । – आत्मा में कोई गंध नहीं है ।***
- ***जीभ स्वाद को पहचान सकती है । – आत्मा में कोई रस नहीं है ।***
- ***त्वचा स्पर्श को पहचान सकती है । – आत्मा में कोई स्पर्श नहीं है ।***

आत्मा में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का सर्वथा अभाव होने से उसे किसी भी इन्द्रिय के द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। जैसे शरीर में होने वाली सिरदर्द आदि पीड़ा को न तो आँख से देख सकते हैं, न कान से सुन सकते हैं, न नाक से सूंघ सकते हैं, न जीभ से चख सकते हैं और न ही हाथ से स्पर्श कर सकते हैं, फिर भी हम उस पीड़ा को स्वीकार करते ही हैं, उसी प्रकार शरीर में रही आत्मा का किसी भी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होने पर भी उसे अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है।

आत्मा का स्वरूप और लक्षण

किसी भी वस्तु की पहिचान जिससे होती है, उसे उसका लक्षण कहते हैं।

`तत्त्वार्थ सूत्र' में आत्मा का लक्षण बताते हुए कहा है-**`उपयोगो लक्षणम्'** अर्थात् उपयोग यह आत्मा का लक्षण है। यह उपयोग दो प्रकार का होता है (1) सामान्य उपयोग (2) विशेष उपयोग।

सामान्य उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। विशेष उपयोग को ज्ञानोपयोग कहते हैं।

◆ वस्तु का सामान्य-बोध दर्शन कहलाता है। ◆ वस्तु का विशेष-बोध ज्ञान कहलाता है।

आत्मा में ही ज्ञानशक्ति रही हुई है। जड़ पदार्थ को कभी भी ज्ञान नहीं होता है। प्रेम, स्नेह, राग-द्वेष आदि आत्मा ही कर सकती है। सुख-दुःख का संवेदन आत्मा में ही होता है-जड़-पदार्थों में नहीं। हर आत्मा में कुछ-न-कुछ ज्ञान/संवेदन शक्ति रही हुई है। यदि आत्मा में ज्ञान/संवेदन का सर्वथा अभाव हो जाए तो आत्मा और जड़ पदार्थ में कोई अंतर नहीं रहेगा।

जिस प्रकार टोर्च Torch का प्रकाश एक ही दिशा में केन्द्रित होता है, उसके आसपास के क्षेत्र में अंधेरा होता है, उसी प्रकार हमारे चित्त का उपयोग जिस पदार्थ विषयक होता है, उसी का हमें बोध होता है, उसके

सिवाय के अन्य पदार्थ का हमें ज्ञान नहीं हो पाता है । ज्ञान आदि आत्मा का स्वरूप है । जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है । जहाँ आत्मा है, वहाँ कुछ-न-कुछ ज्ञान होगा ही । प्रत्येक प्राणी चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी या सूक्ष्म कीट-पतंग या वनस्पति, उन सब में कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य रहा हुआ होता है । मनुष्य पशु-पक्षी आदि में तो ज्ञान के संवेदनादि का हमें प्रत्यक्ष-अनुभव है । वनस्पति आदि में भी सुख-दुःख, स्नेह, द्वेष, वासना आदि के संस्कार होते हैं ।

आत्मा परिणामी नित्य है

परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील/बदलने वाला । नित्य अर्थात् जो हमेशा रहता हो । आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से है और अनंत काल तक रहने वाला है । आत्मा का अनादि-अनंत अस्तित्व होते हुए भी उसके पर्याय बदलते रहते हैं ।

जिस प्रकार सोने के मुकुट को तोड़कर उसका हार बनाने पर मुकुट का नाश होता है और हार की उत्पत्ति होती है परंतु दोनों अवस्थाओं में स्वर्णद्रव्य तो वैसे-का-वैसा ही बना रहता है । मुकुट को तोड़ने पर मुकुट का नाश होता है, स्वर्ण का नहीं । बस, इसी प्रकार जब आत्मा एक देह का त्याग कर (जिसे हम अपनी भाषा में मृत्यु कहते हैं) अन्य देह को धारण करती है, तब देह का विनाश होता है, आत्मा का नहीं । कर्म की पराधीनता के कारण आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है और मृत्यु की वेदना सहन करनी पड़ती है, आत्मा यदि कर्म के बंधन से मुक्त हो जाए तो उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा सहन करनी नहीं पड़ती है । अतः कर्म के बंधन को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

जब तक आत्मा कर्म से सर्वथा-मुक्त नहीं बनती है, तब तक उसे एक गति से दूसरी गति में, एक देह से दूसरे देह में जन्म धारण करना पड़ता है ।

(आज देश-विदेश में जातिस्मरण ज्ञान की अनेक घटनाएँ हमें जानने / पढ़ने को मिलती हैं, जो आत्मा की नित्यता को प्रत्यक्ष सिद्ध करती हैं ।)

अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

जिस प्रकार पर्वत पर रहे धुएँ को देखकर हम वहाँ अग्नि के अस्तित्व का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, सुख-दु:ख की अनुभूति आत्मा को ही होती है, किन्तु जड़ पदार्थ को न तो ज्ञान होता है और न ही सुख-दु:ख का संवेदन । हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि के भाव आत्मा में ही होते हैं । पत्थर के टुकड़े पर कोई फूल की माला रख दे तो उस पत्थर को कोई हर्ष नहीं होगा और न ही उसे कोई गाली दे तो उसे किसी प्रकार का दु:ख होगा ।

ज्ञान का संवेदन भी आत्मा को ही होता है । अत: जिस प्रकार धर्म को देखकर धर्मी या गुण को देखकर गुणी का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार सुख-दु:ख आदि ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं ।

आगम प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

'विज्ञानघन एव एतेभ्य: समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न च प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इस वेदवाक्य से भी आत्मा की ही सिद्धि होती है । विज्ञानघन का अर्थ आत्मा ही है । ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है, जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ अनंतानंत ज्ञानपर्याय रहे होने से आत्मा को विज्ञानघन कहा जाता है । **'भूतेभ्य:**

समुत्थाय' का अर्थ है-घट-पट आदि पदार्थ भूत हैं, वे ज्ञेय हैं। जैसे घट देखने से घटविज्ञान और पट देखने से पटविज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञेय से ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

घट आदि भूतों से घट विज्ञान उत्पन्न हुआ, जो जीव का एक विशेष पर्याय है, अतः यह कह सकते हैं कि यह घटविज्ञान रूप जीव, घट से उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार अन्य-अन्य पदार्थों के ज्ञान के साथ जीव तदनुरूप पर्याय धारण करता है, अतः वह उस पदार्थ के रूप में उत्पन्न हुआ, ऐसा कह सकते हैं। **'तान्येवानुविनश्यति'** का अर्थ है-जो ज्ञान जिस ज्ञेय पदार्थ के आलंबन से उत्पन्न हुआ हो, उसके नष्ट होने पर वह ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

घट रूप ज्ञेय के नष्ट होने पर घट रूप विज्ञान भी नष्ट हो गया और घटविज्ञान रूप आत्म-पर्याय भी नष्ट हो गया। वह पर्याय विज्ञानघन रूप आत्मा से अभिन्न होने के कारण यह कह सकते हैं कि अमुक भूत के नाश होने पर विज्ञानघन का भी नाश हो गया। इसके साथ ही यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि आत्मा में घट रूप ज्ञानपर्याय के नष्ट होने पर अन्य पटादि रूप ज्ञेयानुसार अन्य ज्ञानपर्याय उत्पन्न हो जाता है। एक ज्ञानपर्याय का नाश और दूसरे ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति, इन दोनों ज्ञान-पर्यायों की आधारभूत आत्मा, विद्यमान होने से आत्मा की नित्यानित्यता भी सिद्ध हो जाती है। आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्याय की उत्पत्ति से उनके उत्पाद स्वभाव व दोनों स्थितियों में आत्मा के अस्तित्व से आत्मा के 'ध्रुव' स्वभाव का भी बोध हो जाता है।

'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' का तात्पर्यार्थ है कि आत्मा जब पूर्वपर्याय का त्याग कर अपरपर्याय को ग्रहण करती है, तब पूर्वपर्याय का अंश उसमें नहीं रहता है। आत्मा जब घटज्ञान का त्याग कर पटज्ञान में प्रवृत्त होती है, तब आत्मा घटोपयोग से निवृत्त होकर पटोपयोग में प्रवृत्त होती है, तब यह कह सकते हैं कि उसमें

'प्रेत्य संज्ञा' अर्थात् पूर्व-पर्याय की संज्ञा नहीं है। यहां **प्रेत्य** शब्द का अर्थ पूर्वपर्याय समझना चाहिए, न कि पर भव।

वेद के अन्य पदों द्वारा भी परलोक की सिद्धि हो जाती है। वेद में अन्यत्र कहा गया है-**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।'** इत्यादि वाक्य द्वारा यज्ञ का फल स्वर्ग-प्राप्ति बतलाया गया है, अतः परलोक में जाने वाली नित्य आत्मा सिद्ध हो तभी यज्ञ का फल उसे मिल सकेगा। भगवान महावीर के मुखारविंद से आत्मा के अस्तित्व आदि के सम्बन्ध में विस्तृत प्रामाणिक जानकारी मिलने के साथ ही इन्द्रभूति के मन में रहा 'जीव का अस्तित्व' विषयक संदेह दूर हो गया।

'प्रभो ! आपकी अमृत-सी मधुर वाणी ने मेरे अन्तर्मन में छिपे संशयों को निर्मूल कर दिया है। मेरे मन के सभी संशय दूर हो चुके हैं। मुझे आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता पर पूर्ण श्रद्धा है। अब मैं आपके ही मार्ग पर गमन करने के लिए समुत्सुक बना हूँ। प्रभो ! भागवती दीक्षा प्रदान कर मुझे कृतार्थ करें।'

इन्द्रभूति की इस प्रार्थना को सुनकर भगवान महावीर प्रभु ने उन्हें भागवती दीक्षा प्रदान की। यद्यपि इन्द्रभूति वैदिक परम्परा के प्रकांड विद्वान थे, परन्तु सम्प्रदाय का व्यामोह उनके सत्यमार्ग को स्वीकार करने में बाधक नहीं बन सका। सत्य मार्ग के बोध के साथ ही वे उस मार्ग पर चलने के लिए कटिबद्ध हो गए। प्रभु के चरणों में इन्द्रभूति का समर्पण कोई अद्भुत कोटि का था। वे जितने अभिमान के शिखर पर पहुँचे हुए थे, अब उतने ही विनम्र बन गए।

इन्द्रभूति गौतमस्वामी के नाम से प्रख्यात हुए। भगवान महावीर के 14000 शिष्यों में गौतमस्वामी

सर्वप्रथम शिष्य बने । 11 गणधरों में आद्य-गणधर बने ।

प्रभु ने जैसे ही युक्तियों के द्वारा इन्द्रभूति के मन में रही शंकाओं को दूर किया, त्योंही इन्द्रभूति को विश्वास हो गया कि महावीर प्रभु सर्वज्ञ हैं । बस, प्रभु की सर्वज्ञता का निर्णय होने के साथ ही वे प्रभु के चरणों में एक बालक की भाँति समर्पित हो गए । इन्द्रभूति को अपने ज्ञान का अभिमान जरूर था, परंतु वे हृदय से एकदम सरल थे अतः ज्योंही उनका अभिमान गल गया, त्योंही वे प्रभु के चरणों में पूर्ण समर्पित बनने के लिए तैयार हो गए ।

अपने मन की शंकाओं के समाधान को प्राप्त करने के बाद वे रवाना नहीं हुए...बल्कि प्रभु की सर्वज्ञता जानकर प्रभु की ही उपासना करने के लिए तैयार हो गए । अभिमान के शिखर पर पहुँचे हुए गौतमस्वामी अब परम विनय के शिखर पर पहुँच गए । इस विनय गुण के प्रभाव से ही उनकी आत्मा में अनेक प्रकार की लब्धियाँ व शक्तियाँ पैदा हुई थीं । वे जिसको भी दीक्षा देते उसे केवलज्ञान हो जाता ।

उनके शिष्य भी उनके प्रति उतने ही आज्ञांकित और उतने ही समर्पित थे...इसी के फलस्वरूप वे भी गौतम स्वामी के पास दीक्षित बन गए और वे गौतमस्वामी के शिष्य बने । दीक्षित बनने के बाद एक बालक की भाँति गौतमस्वामी ने महावीर प्रभु को पूछा, **'भयवं किं तत्तं ?'**

प्रभु ने जवाब दिया, **'उप्पन्नेइ वा ।'** जो उत्पन्न होता है, वह तत्त्व है । गौतम स्वामी ने पुनः पूछा, **''भयवं किं तत्तं ?''**

प्रभु ने कहा, **''विगमेइ वा' अर्थात् जो नष्ट होता है, वह तत्त्व है ।''**

पुनः गौतमस्वामी ने पूछा, **''भयवं किं तत्तं ?''** प्रभु ने कहा, **'धुवेइ वा'** जो ध्रुव होता है, वह तत्त्व है ।

जिस प्रकार एक छोटीसी चाबी से ताले को खोलकर महल में प्रवेश किया जा सकता है, अथवा एक छोटी सी चाबी द्वारा ताला खोलकर अमूल्य खजाने को प्राप्त किया जा सकता है, बस इस त्रिपदी के श्रवण द्वारा गौतमस्वामी की अंतरात्मा में श्रुत-ज्ञानावरणीय का एक ऐसा अद्‌भुत क्षयोपशम पैदा हुआ, जिसके स्वरूप वे द्वादशांगी की रचना करने में समर्थ बन गए। जिस प्रकार वट वृक्ष के एक छोटे से बीज में विराट्काय वट-वृक्ष छुपा हुआ है, उसी प्रकार इस त्रिपदी के बीज में ज्ञान का विराट् खजाना छुपा हुआ है। ये गणधर भगवंत बीज-बुद्धि के निधान कहलाते हैं।

इस त्रिपदी में समग्र द्वादशांगी का रहस्य रहा हुआ है। जगत् के सभी पदार्थ, उत्तर पर्याय के रूप में उत्पन्न होते हैं...पूर्व पर्याय के रूप में नष्ट होते हैं, फिर भी मूल द्रव्य के रूप में सदैव स्थिर रहते हैं।

नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का नाश, फिर भी मूल द्रव्य की स्थिरता, यह जगत् के समस्त पदार्थों का स्वभाव है। एक अन्तर्मुहूर्त में गौतम स्वामी समग्र चौदह पूर्व सहित द्वादशांगी के ज्ञाता बन गए।

◆ अग्निभूति इन्द्रभूति के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। परंतु लोगों के मुख से जब उन्होंने सुना कि इन्द्रभूति ने तो महावीर प्रभु के पास दीक्षा ले ली है तो इस बात पर अग्निभूति को विश्वास नहीं हुआ।

अग्निभूति सोचने लगे, `पर्वत कभी पिघलता नहीं है, परंतु कदाचित् पर्वत जैसा पर्वत भी पिघलने लग जाय, बर्फ सुलग जाय, अग्नि की ज्वालाएँ शांत हो जायें, वायु स्थिर हो जाय, फिर भी मेरा भाई कभी हार माननेवाला नहीं है।'

अग्निभूति को अपने भाई की विद्वत्ता पर पूर्ण विश्वास था। परंतु अनेक लोगों के मुख से इन्द्रभूति के दीक्षित होने की बात सुनी तो अग्निभूति ने सोचा, `सच ही वह महाधूर्त लगता है, जिसने माया-कपट के द्वारा

मेरे भाई को भी ठग लिया है । मैं अभी जाता हूँ और अपने भाई को उस मायाजाल से मुक्त कराकर वापस ले आता हूँ ।' इस प्रकार विचार कर अग्निभूति भी अपने 500 शिष्य परिवार के साथ समवसरण की ओर बढ़े ।

जैसे ही प्रभु महावीर ने अग्निभूति को देखा, प्रभु ने अत्यंत ही प्रेम से संबोधित करते हुए कहा, **''हे गौतम गोत्रीय अग्निभूति ! तुम सुखपूर्वक आए हो ?''** उसके बाद संपूर्ण विश्व के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को एक साथ में जाननेवाले महावीर प्रभु ने कहा, `हे अग्निभूति ! तुम्हारे अंत:करण में कर्म के अस्तित्व के बारे में संदेह है । वेद में रही पंक्तियों का गलत अर्थ करने के कारण तुम्हारे मन में कर्म के विषय में शंका रही हुई है, परंतु वह शंका बराबर नहीं है ।

'पुरुष एवेदं ग्निं यद् भूतं यच्च भाव्यं' इस वेद-पंक्ति का तुम इस प्रकार गलत अर्थ कर रहे हो । **'ग्निं'** पद वाक्य के अलंकार रूप है । जो अतीत काल में हो चुका है, भविष्य काल में होनेवाला है, वह सब कुछ **'पुरुष एव'** अर्थात् आत्मा ही है । इसका अर्थ हुआ `आत्मा को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है ।' पुरुष के साथ **'एव'** का प्रयोग किया है, जो कर्म, ईश्वर आदि सभी वस्तुओं का निषेध करनेवाला है । इस वचन से सिद्ध होता है कि जो मनुष्य, देव, तिर्यंच तथा पृथ्वी आदि वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वे सब आत्माएँ ही हैं, आत्मा को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है...इस कारण जगत् में कर्म का भी अस्तित्व नहीं है ।

कर्म के अस्तित्व के अस्वीकार में तुम यह भी तर्क देते हो कि जिस प्रकार अरूपी ऐसे आकाश का चंदन आदि द्वारा मंडन अर्थात् शणगार तथा तलवार आदि द्वारा खंडन नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा तो अरूपी है, जबकि कर्म रूपी हैं, अरूपी ऐसी आत्मा पर पापकर्म से उपघात और पुण्य कर्म से अनुग्रह कैसे संभव है ?

वेद की दूसरी श्रुति तुम्हें कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है । इस प्रकार

तुम्हारा मन कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने में डोलायमान बना हुआ है । हे अग्निभूति ! वेद की इस पंक्ति का सही अर्थ सुनो `शास्त्र में तीन प्रकार के वाक्य आते हैं ।'

(1) विधि वाक्य (2) अनुवाददर्शक और (3) स्तुतिरूप ।

(1) `जिसे स्वर्ग की इच्छा हो, उसे अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए ।' विधि-विधान, कर्त्तव्य पालन, अकर्त्तव्य-त्याग आदि को बतानेवाले वाक्य, विधि-वाक्य कहलाते हैं ।

(2) `बारह मास का एक वर्ष होता है ।' इस प्रकार के वाक्यों को अनुवाददर्शक कहा जाता है ।

(एक मास कहो या तीस दिन कहो, एक सप्ताह कहो या सात दिन कहो, एक रुपया कहो या 100 पैसे कहो, एक घंटा कहो या 60 मिनिट कहो, ये दोनों एक ही कहलाते हैं । ये सब वाक्य अनुवाद दर्शक कहलाते हैं ।)

(3) जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके । सर्वभूतमयो विष्णुस्तस्माद् विष्णुमयं जगत् ।।

जल में विष्णु है, स्थल में विष्णु है, पर्वत के शिखर पर विष्णु है अतः समग्र-जगत् विष्णुमय है ।

इस प्रकार के वेदवाक्य स्तुतिरूप कहलाते हैं । विष्णु की महिमा का गान करने के लिए कह दिया कि सारा जगत् विष्णुमय है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं करना चाहिए कि विष्णु को छोड़कर इस जगत् में अन्य कोई वस्तु ही नहीं है ।

(जैसे प्रभु के गुणगान करते समय प्रभु को माता-पिता भी कहा जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभु ने हमें जन्म दिया है, परंतु प्रभु की महिमा बताने के लिए प्रभु को इस प्रकार की उपमाएँ दी जाती हैं ।)

इन स्तुति रूप वाक्यों को पढकर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रभु को छोड़ अन्य कोई पदार्थ इस जगत् में नहीं । `अरूपी पदार्थ पर रूपी पदार्थ का अनुग्रह उपघात नहीं होता है, ऐसा भी नहीं है ।

जैसे ज्ञान अरूपी है, फिर भी उस पर मदिरा आदि पीने से उपघात देखा जाता है तथा ब्राह्मी आदि औषधि के भक्षण से उस पर होने वाला अनुग्रह भी प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

कोई आदमी शराब पीता है और उसके नशे में चकचूर होकर बेभान भी हो जाता है, दिमाग के ऊपर का कंट्रोल हट जाता है, वह जैसे-तैसे बकवास करता है-शराब का यह प्रभाव हम प्रत्यक्ष देखते हैं, शराब मूर्त है, जबकि आत्मा का ज्ञान गुण अमूर्त है । इससे स्पष्ट है कि मूर्त पदार्थ का अमूर्त पदार्थ पर असर होता ही है ।

कर्म की सिद्धि

इस जगत् में रहे हुए जीवों में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं, उनका भी मुख्य कारण कर्म ही है । एक आदमी धनवान दिखाई देता है और दूसरा गरीब । एक सशक्त स्वस्थ दिखाई देता है और दूसरा रोगी । एक राजा है तो दूसरा भिखारी । एक बहुत बड़ा बुद्धिशाली है तो दूसरा महा-मूर्ख । एक 100 वर्ष तक जीता है तो दूसरा 5 वर्ष में ही मर जाता है ।

एक को सर्वत्र मान-सम्मान और यश मिलता है तो दूसरे को सर्वत्र अपमान और तिरस्कार ही । इस प्रकार जगत् में जो विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं, उन सबका मुख्य कारण कर्म ही है ।

जगत् में **'कार्य-कारण भाव'** का नियम है अर्थात् जगत् में कोई भी कार्य होता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है । बिना कारण कोई भी कार्य नहीं होता है ।

एक ही पिता के दो पुत्र-एक धनवान और दूसरा गरीब होता है । इसका कारण उनके पूर्वभव के कर्म ही हैं ।

दोनों एक ही माँ से पैदा होने पर भी...दोनों समान शिक्षण पाये होने पर भी जो भेद पड़ता है, उसका कारण कर्म ही है। पुण्य कर्म के उदय से जीव को सुख की प्राप्ति होती है।

पापकर्म के उदय से जीव को दुःख की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : वर्तमान में एक जीव पापकर्म चोरी आदि करता दिखाई देता है, फिर भी वह सुखी दिखाई देता है और एक आदमी खूब धर्म करता दिखाई देता है, फिर भी वह दुःखी होता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर : आत्मा अपने जीवन में जिस सुख-दुःख का अनुभव करती है, वह मात्र इसी जन्म के पुण्य-पाप कर्म का फल नहीं है। गतजन्म के पुण्यकर्म का उदय हो तो उसके फलस्वरूप इस जीवन में पाप करने पर भी सुख की प्राप्ति हो सकती है और गतजन्म के पापकर्म का उदय हो तो इस जन्म में पुण्य करने पर भी दुःख का अनुभव हो सकता है। जैसे पहले दिन खाने में गल्ती की हो तो दूसरे दिन भी उसकी पीड़ा हो सकती है, बस, इसी प्रकार गत भव के पुण्य-पाप की सजा इस जीवन में हो सकती है।

प्रश्न : क्या ईश्वर सुख-दुःख देनेवाले नहीं हैं ?

उत्तर : यदि संसारी जीवों के सुख-दुःख के कर्ता के रूप में ईश्वर को मान लिया जाय तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि ईश्वर तो दयालु है, वह संसार में किसी जीव को दुःखी क्यों बनाएगा ?

ईश्वर ही सुख-दुःख देता हो तो वह सबको सुखी क्यों नहीं करता ? यदि ईश्वर भी जीवों के अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख देता हो तो आखिर तो यही सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही कर्म के अनुसार सुख-दुःख मिलते हैं। तो फिर सुख-दुःख देने में ईश्वर को बीच में लाने की जरूरत ही क्या ? यदि

जीवात्मा को अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख देता हो तो वह सर्व शक्तिमान ईश्वर जीवों को दुष्कर्म करने से ही क्यों नहीं रोकता है ? पहले जीवों को दुष्कर्म करने दे और फिर उन्हें सजा करे, इससे तो बेहतर है कि उन्हें दुष्कर्म करने से ही रोक ले । इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा को सुख-दुःख की प्राप्ति अपने ही किये हुए कर्मों के अनुसार होती है ।

प्रश्न : आत्मा पर लगे कर्म दिखते नहीं हैं फिर उन्हें कैसे माना जाय ?

उत्तर : अपने चर्मचक्षुओं द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्मों को हम देख नहीं पाते हैं, परंतु केवलज्ञानी परमात्मा तो आत्मा पर लगे कर्मपरमाणुओं को प्रत्यक्ष देख पाते हैं । अतः चर्मचक्षु से कर्म को देखना संभव नहीं है, परंतु वीतराग परमात्मा तो प्रत्यक्ष देख सकते हैं । आँख में देखने की शक्ति मर्यादित है ।

(1) अति-निकट रही वस्तु को भी आँख नहीं देख पाती है । काजल आँख में ही लगता है, परंतु आँख नहीं देख पाती है ।

(2) अति दूर रही वस्तु भी दिखाई नहीं देती है । 1-2 कि.मी. दूर खड़ा व्यक्ति हमें कहाँ दिखता है ?

(3) बहुत छोटी वस्तु भी दिखाई नहीं देती है ।

(4) मन कहीं अन्यत्र भटक रहा हो तो भी ख्याल नहीं रहता है । मंदिर में दर्शन करके आए व्यक्ति को पूछा कि `प्रभुजी को मुकुट था या नहीं ?' वह जवाब देता है...``यह तो मुझे पता नहीं ।'' इसका अर्थ है, प्रभु के दर्शन किये परंतु मन वहाँ नहीं था ।

(5) थोड़ी सी दूरी पर रहे कान भी हमें दिखाई नहीं देते हैं । आँख और कान के बीच थोड़ा सा अंतर है, फिर भी आँख को कान दिखते नहीं हैं ।

(6) आँख कमजोर हो तो भी नहीं दिखता है । कई लोग चश्मा लगाए बिना कुछ भी नहीं पढ़ पाते हैं ।
(7) ढकी हुई वस्तु (जैसे टोकरी में रहे आम) भी दिखाई नहीं देती है ।
(8) सूर्य के तेज में, आकाश में रहे तारे दिखाई नहीं देते हैं ।
(9) मूंग के ढेर में गेहूँ के 2-4 दाने हों तो दिखाई नहीं देते हैं ।
(10) प्रक्रिया किए बिना दिखाई नहीं देता है, जैसे दूध में रहा घी ।
(11) दूध में पानी मिला हुआ हो तो भी पानी अलग से दिखाई नहीं देता है ।

इसी प्रकार कर्म का अस्तित्व होने पर भी वे कर्मपरमाणु आँख से दिखाई नहीं देते हैं । कई बार कार्य को देखकर भी उसके कारण का अनुमान किया जाता है । जैसे नदी में आई बाढ़ को देखकर अनुमान करते हैं कि पर्वत पर ज्यादा वर्षा हुई है ।

बस, इसी प्रकार वर्तमान जीवन में आनेवाले सुख-दुःख के आधार पर अनुमान करते हैं कि पूर्व भव में पुण्यकर्म या पापकर्म किया होगा ।

राग-द्वेष के अध्यवसायों द्वारा आत्मा शुभ-अशुभ कर्म का बंध करती है और उस कर्म के उदय से आत्मा सुख-दुःख प्राप्त करती है । अतः सुख-दुःख की प्राप्ति में आत्मा के अध्यवसाय अर्थात् भावकर्म, उपादान-कारण हैं और उन अध्यवसायों से जिन कर्मपरमाणुओं का बंध होता है, **वे द्रव्य कर्म हैं ।** कर्म का बंध, शरीर को नहीं, बल्कि आत्मा को ही होता है, इसी कारण एक गति से दूसरी गति में जाने के बाद भी वे कर्म आत्मा के साथ चलते हैं ।

प्रभु के मुख से कर्म के वास्तविक रहस्य को जानने के साथ ही अग्निभूति के मन में कर्म के विषय में रहा संदेह दूर हो गया । उन्होंने प्रभु के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया और वे प्रभु के शिष्य बन गए । अग्निभूति के 500 शिष्यों ने भी भागवती दीक्षा अंगीकार की और वे अग्निभूति के शिष्य हुए ।

वायुभूति

``इन्द्रभूति और अग्निभूति ने दीक्षा ले ली है'- इस बात को जानकर वायुभूति ने सोचा, `मेरे ज्येष्ठ बंधु इन्द्रभूति और अग्निभूति ने जिसके पास दीक्षा ली है, वे मेरे लिए पूज्य ही हैं, अतः मैं भी उन परम तारक के चरणों में जाकर अपने संशय को दूर करूँ'' इस प्रकार विचार कर वायुभूति भी प्रभु महावीर के समवसरण की ओर बढ़ा । **`जीव शरीर से अलग है अथवा दोनों एक ही है ?'** वायुभूति के मन में यह संदेह रहा हुआ था । प्रभु ने वायुभूति को समझाते हुए कहा, ``हे वायुभूति ! तुम वेद की पंक्तियों का सही अर्थ नहीं कर रहे हो ।''

**`विज्ञानघन एवैतेभ्य भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति ।'** इस वेद पंक्ति का तुम इस प्रकार गलत अर्थ कर रहे हो कि-शरीर से भिन्न कोई आत्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, परंतु शरीर ही आत्मा है । `पृथ्वी आदि पाँच भूतों में से ही विज्ञान के समुदाय रूप आत्मा उत्पन्न होती है और वापस उन पाँच भूतों में ही विलीन हो जाती है, अतः विज्ञान का आधार पाँच भूत ही हैं । आत्मा नाम का पदार्थ शरीर से अलग नहीं है । जिस प्रकार मदिरा के अंगों में से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर रूप में परिणत पाँच भूतों में से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है और जब पाँच भूतों का विनाश होता है तब विज्ञान का समुदाय भी जल में उत्पन्न हुए परपोटे की तरह नष्ट हो जाता है ।

भूतों के समुदाय रूप शरीर में से चैतन्य उत्पन्न होने के कारण चैतन्य का आधार शरीर है, उसी को आत्मा शब्द से बोला जाता है, अतः आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है। वेद की उपर्युक्त पंक्ति देह से अभिन्न आत्मा को सिद्ध करती है। जबकि वेद में ही अन्यत्र कहा है–

'सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शूद्रोऽयं पश्यन्ति धीराः यतयः संयतात्मनः।

अर्थात् 'इस ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा को संयमी और धीर साधु देख सकते हैं। अज्ञानी आत्मा को शुद्ध बनाना हो तो सत्य, तप और ब्रह्मचर्य के आसेवन द्वारा बनाया जा सकता है।'

वेद की इन भिन्न-भिन्न श्रुतियों के कारण वायुभूति के मन में यह शंका घर कर गई थी कि यह आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न ?

परंतु प्रभु ने इन्द्रभूति की तरह वायुभूति को भी **'विज्ञानघन'** पद का वास्तविक अर्थ बतलाकर देह से भिन्न आत्मा का स्वरूप समझा दिया। किसी वस्तु के सामान्य बोध को दर्शन कहा जाता है तथा विशेष बोध को ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान-दर्शन यह आत्मा का ही स्वभाव है अर्थात् आत्मा कभी ज्ञानोपयोग में रहती है तो कभी दर्शनोपयोग में। आत्मा उपयोग स्वरूप होने से आत्मा को **'विज्ञानघन'** कहा गया है।

ज्ञान उपयोग के रूप में आत्मा पाँच भूतों में से उत्पन्न होती है अर्थात् जगत् में दिखाई देनेवाले पदार्थों का ज्ञान, जीव को सतत होता रहता है। ये सभी पदार्थ पृथ्वी, पानी आदि पाँच भूतमय हैं। जिस समय जो ज्ञान होता है, उस समय उस ज्ञान के रूप में आत्मा उत्पन्न हुआ कहा जाता है। वह ज्ञान पाँच भूत विषयक होने से ज्ञानमय आत्मा पाँच भूतों में से उत्पन्न हुआ कहलाता है। इसी प्रकार जब ज्ञान नष्ट होता है, तब

पाँच भूतविषयक ज्ञान नष्ट हुआ, अतः पाँच भूत में विलय हुआ ऐसा गिना जाता है । घड़े के ज्ञान के बाद जब हम वस्त्र का ज्ञान करते हैं, वस्त्र के ज्ञान के समय में घड़े का ज्ञान नहीं होने से `प्रेत्यसंज्ञा नहीं है' ऐसा कहा जाता है । देह आत्मा नहीं है क्योंकि देह और आत्मा के पर्यायवाची शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं । शंका का समाधान होते ही वायुभूति ने भी प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर ली ।

व्यक्त

इन्द्रभूति आदि को दीक्षित जानकर व्यक्त ने सोचा, `इन्द्रभूति के लिए जो पूज्य है, वह मेरे लिए पूज्य ही है ।' इस प्रकार विचारकर वह भी समवसरण की ओर आगे बढ़ा ।

प्रभु ने कहा, ``हे व्यक्त ! तेरे मन में पांच भूतों के अस्तित्व के विषय में संदेह है ?''

`येन स्वप्नोपमं वै सकलं, इत्येष ब्रह्मविधि रञ्जसा विज्ञेयः ।'** इस वेद-पंक्ति का तुम इस प्रकार अर्थ कर रहे हो, **`निश्चितरूप से यह दृश्यमान पृथ्वी आदि सर्व जगत् स्वप्नतुल्य है ।' इस वेदवचन से तुम्हारे मन में भूतों का अभाव स्थिर हो गया है । तथा **`पृथ्वी देवता आपो देवता'** इत्यादि वेद-वचनों से पृथ्वी आदि भूतों का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है । वास्तव में, वेद में इस दिखाई देनेवाले जगत् को स्वप्नतुल्य कहा है, इसका मुख्य हेतु कंचन-कामिनी आदि के संयोग की अनित्यता बतलाना है । आत्म-भाव में स्थिरता लाने के लिए...अपने वैराग्य भाव को दृढ़ करने के लिए जगत् को स्वप्न-तुल्य कहा है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् में अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है । प्रभु के वचनों को सुनकर संदेहमुक्त बने व्यक्त ने अपने 500 शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली ।

सुधर्मा

वेद की भिन्न-भिन्न पंक्तियों के कारण सुधर्मा के मन में संदेह था कि इस जन्म में जीव जिस रूप में होता है, वह मरकर अगले जन्म में भी उसी रूप में पैदा होता है अर्थात् मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य के रूप में और पशु मरकर पुनः पशु के रूप में पैदा होता है ।

वेद की वह पंक्ति है-**'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वं'** वेद में ही दूसरी पंक्ति है-**'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते ।'** अर्थात् अशुचि के साथ जिस पुरुष को जलाया जाता है, वह मरकर सियार बनता है । इस वेदपंक्ति से सिद्ध होता है कि मनुष्य भी मरकर अगले जन्म में पशु बन सकता है ।

इन भिन्न-भिन्न वेदपंक्तियों को देखकर तुम्हारे मन में संदेह पैदा हुआ है कि मनुष्य मरकर अगले जन्म में मनुष्य ही बनता है या पशु भी बन सकता है ? प्रभु ने पहली वेदपंक्ति का वास्तविक रहस्य समझाते हुए कहा, **'जो मनुष्य सरलता, कोमलता, नम्रता आदि गुणों से युक्त होता है, वह मनुष्य, मनुष्य आयुष्य का बंध कर पुनः अगले जन्म में मनुष्य बन सकता है, परंतु जिस मनुष्य में क्रोध आदि कषायों की तीव्रता हो तो वह मरकर नरक आदि गति में भी जा सकता है ।**

जिस प्रकार गेहूँ से गेहूँ रूप सदृश वस्तु पैदा होती है, उसी प्रकार गोबर में से बिच्छू रूप विसदृश वस्तु भी पैदा होती है । मनुष्य होकर भी जिसके जीवन में पशुता होती है, वह मरकर मनुष्य कैसे बनेगा ? अर्थात् जीवन में पशुता होगी तो वह व्यक्ति मरकर पशु ही बनेगा । प्रभु के मुख से योग्य समाधान प्राप्तकर सुधर्म पंडित ने तत्काल अपने शिष्यों के साथ प्रभु के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

मंडित

मंडित के मन में **'कर्म का बंध और मोक्ष होता है या नहीं ?'** इस विषय में संदेह था ।

'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा मुच्यते मोचयति वा ।' वेद की इस पंक्ति का तुम इस प्रकार गलत अर्थ कर रहे हो कि-

'सत्त्व आदि गुणों से रहित और सर्वत्र व्याप्त यह जीव न तो कर्म से बाँधा जाता है...न ही संसार में भटकता है और न ही कर्म से मुक्त होता है तथा अकर्ता होने से किसी को मुक्त भी नहीं करता है ।'

प्रभु ने कहा, ``वेद की इस पंक्ति का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है । विगुण का अर्थ है मति, श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक अथवा सत्त्व, रजस् तथा तमस् आदि औदयिक, इस प्रकार दोनों प्रकार के छाद्मस्थिक गुण जिसके नष्ट हो गए हैं ।

विभु अर्थात् ज्ञान-दर्शन के उपयोग रूप में समग्र जगत् में व्यापक ! 'घाती कर्मों के क्षय के कारण क्षायोपशमिक और औदयिक गुणों से रहित बनी आत्मा, केवलज्ञान-केवलदर्शन द्वारा समग्र जगत् की ज्ञाता-द्रष्टा होने से उस आत्मा को नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है तथा बंध का अभाव होने से उसे छूटने का भी नहीं है ।'

मुक्तात्माओं को कर्मबंध में कारणभूत मिथ्यात्व आदि का अभाव है । कर्म के बंधन से रहित होने के कारण वे आत्माएँ संसार में परिभ्रमण नहीं करती हैं । कर्म से बँधी हुई आत्मा ही संसार में भटकती है । मुक्तात्माओं को अब किसी से मुक्त होने का नहीं है क्योंकि जो बँधा हुआ होता है, उसी को मुक्त होने का प्रयत्न करना पड़ता है । मुक्तात्माओं को शरीर का अभाव होने से वे किसी को उपदेश भी नहीं देती हैं, अतः

उनको दूसरों को मुक्त करने का श्रम भी नहीं होता है । वेद में ही कहा है—

नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोः अपहतिः अस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।

वेद का यह वाक्य कर्म के बंध और मोक्ष को स्पष्ट करता है । इस पंक्ति का अर्थ है, **'शरीर सहित अर्थात् संसारी आत्मा को सुख-दुःख का अभाव नहीं है, अर्थात् संसारी जीव को सुख-दुःख का अनुभव करना ही पड़ता है, क्योंकि संसारी जीवों के सुख-दुःख के कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म होते हैं ।'**

शरीर रहित अर्थात् मुक्त बनी...लोक के अग्रभाग में रही आत्मा को सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता है, क्योंकि उन्हें उस सुख-दुःख के कारणभूत कर्म नहीं हैं ।

हे मंडित ! **मुक्तात्मा का स्वरूप बतानेवाले पदों के अर्थ को तुमने संसारी आत्मा के साथ जोड़ दिया है, इस कारण तुम्हें कर्म के बंध-मोक्ष में संदेह पैदा हुआ है ।**

वास्तव में सत्त्व, रजस् और तमस् गुण आत्मा के नहीं हैं, परंतु कर्मजन्य होने से औदयिक हैं । उनके क्षय से मुक्ति होती है । मुक्तात्मा को एकांततः अकर्ता भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह आत्मा केवलज्ञान, दर्शन गुणों से समग्र-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की संपूर्ण ज्ञाता द्रष्टा होने से देखने व जानने की क्रिया से युक्त है ।

औदयिक भाव के अधीन होने पर संसारी आत्मा कर्मबंध करती है और उस भाव के अधीन नहीं बनने पर कर्म का क्षय होने से कर्म से मुक्त बनती है । यदि आत्मा को कर्म का बंध और मोक्ष नहीं होता हो तो मुक्ति के प्ररूपक सभी शास्त्र और उसमें कही गई सभी क्रियाएँ निष्फल मानी जाएंगी ।' इस प्रकार आत्मा के कर्मबंध

और मोक्ष के विषय में समझाने पर मंडित संदेहमुक्त हो गए और उन्होंने अपने 350 शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर ली ।

मौर्यपुत्र

मौर्यपुत्र पंडित के मन में देवों के अस्तित्व के विषय में संदेह था । इस संदेह का कारण वेद में आई भिन्न भिन्न श्रुतियाँ थीं । **'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीन् ।'**

इन्द्रजाल समान मायारूप इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि देवताओं को कौन जानता है अर्थात् किसने देखा है ? वेद के इस पद से देवों के अस्तित्व का अभाव मालूम पड़ता है ।

'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽअसा स्वर्गलोकं गच्छति ।' यज्ञ रूपी हथियार वाला याज्ञिक तुरंत देवलोक में जाता है । इस पद से देव का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

प्रभु ने कहा, ``हे मौर्यपुत्र ! देव के अस्तित्व के विषय में तुम्हारा यह संदेह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ समवसरण में आए हुए करोड़ों देवताओं को मैं और तुम प्रत्यक्ष देख रहे हैं । चंद्र-सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के विमान तो सभी लोगों को प्रत्यक्ष हैं ।''

वेदवाक्य में देवताओं को **'मायासदृश'** कहा है-इसका अर्थ है-देवलोक में रहे देवताओं का जीवन भी अनित्य है । देव भी सदाकाल के लिए देवजीवन जीनेवाले नहीं हैं । आयुष्य पूरा होने पर उन्हें भी मरना पड़ता है । देवजीवन की अनित्यता बतलाने के लिए ही उन्हें माया सदृश कहा है । जिस प्रकार जीवन में किए भयंकर पापों की सजा भुगतने का स्थान नरक है, उसी प्रकार उत्कृष्ट पुण्य के फल को भुगतने का स्थान स्वर्ग है ।

प्रश्न : **देवलोक में रहे देवता यहाँ क्यों नहीं आते हैं ?**

उत्तर : 1) मनुष्यलोक की भयंकर दुर्गंध के कारण देव यहाँ नहीं आते हैं ।

2. दिव्य सुखों में लीन होने के कारण यहाँ नहीं आते हैं ।

निम्न लिखित कारणों से देवता मनुष्यलोक में आते हैं :

1. जिनेश्वर परमात्मा के जन्म आदि कल्याणक प्रसंग पर ।
2. वैर का बदला लेने के लिए ।
3. किसी साधु आदि की परीक्षा करने के लिए ।
4. किसी महात्मा के तप-जप से आकर्षित होकर ।
5. किसी व्यक्ति पर तीव्र राग के कारण ।

प्रभु के द्वारा समझाने पर मौर्यपुत्र का देव विषयक संदेह दूर हो गया...और उसने उसी समय अपने 350 शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ले ली ।

अकंपित

अकंपित के हृदय में नारक के अस्तित्व के विषय में संदेह था । **'न हि वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति'** परलोक में नरक में नारक नहीं हैं । इस पद से नारकों के अभाव की प्रतीति होती है तथा **'नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति'** जो शूद्र अन्न खाता है, वह निश्चित रूप से नारक के रूप में पैदा होता है । इस वेद पंक्ति से नारक का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

वेद की इन भिन्न-भिन्न श्रुतियों के कारण अकंपित के हृदय में नारक के अस्तित्व के विषय में संदेह था । महावीर प्रभु ने समाधान देते हुए कहा, `हे अकंपित ! **न हि वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति'** इस पद

का तुम जो अर्थ कर रहे हो, वह गलत अर्थ है। इसका सच्चा अर्थ इस प्रकार है-`परलोक में अर्थात् नरक में भी कोई नारक का जीव ऐसा नहीं है, जो वहाँ सदा काल के लिए रहनेवाला हो। मनुष्य या तिर्यंच के भव में जो आत्मा पापाचरण करती है वह मरकर नरक में पैदा होती है अथवा नरक के जीव मरकर तुरंत ही दूसरे भव में नारकी के रूप में पैदा नहीं होते हैं।

जिस प्रकार उत्कृष्ट पुण्य के उपभोग के लिए देवगति है, उसी प्रकार तीव्र पाप के फल को भोगने के लिए नरक गति है।

प्रश्न : **नारक के जीव यहाँ क्यों नहीं आते हैं ?**

उत्तर : परमाधामी आदि की पराधीनता के कारण वे यहाँ नहीं आ सकते हैं।

अरिहंत परमात्मा के समवसरण में देव, मनुष्य और तिर्यंच गति के जीव आ सकते हैं, परंतु नरक गति के जीव कभी नहीं आते हैं। प्रभु के समझाने पर अकंपित का `नारक का अस्तित्व' विषयक संदेह दूर हो गया और उसने अपने 300 शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर ली।

अचलभ्राता

पंडित अचलभ्राता के मन में पुण्य के अस्तित्व के बारे में संदेह था।

वेद की एक पंक्ति है **'पुरुष एव ग्निं स यदभूतं यच्च भाव्यम्'** इस वाक्य को देखकर अचलभ्राता के मन में यह शंका दृढ़ बनी थी कि इस जगत् में जो कुछ है, वह पुरुष अर्थात् आत्मा ही है। आत्मा को छोड़कर इस जगत् में अन्य कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर वेद में ही कहा है **'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा।'** अर्थात् पुण्य कर्म से आत्मा पुण्यशाली और पाप कर्म से आत्मा पापी बनती है। इस वेद

पंक्ति से पुण्य का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

अचलभ्राता के मन में रही शंका का निवारण करते हुए प्रभु ने कहा, **'वेद में, 'पुरुष एव ग्निं'** ...जो कहा है वह तो आत्मा की स्तुतिदर्शक वाक्य है । इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इस जगत् में पुण्य-पाप नहीं हैं ।

इस जगत् में कोई जीव सुखी, कोई दु:खी, कोई राजा, कोई रंक दिखाई देता है, वह सब कर्म का ही फल है । पुण्य कर्म के उदय से जीव सुखी होता है और पाप कर्म के उदय से जीव दु:खी होता है ।

प्रभु के समझाने पर अचलभ्राता के मन का समाधान हो गया और उसने अपने 300 शिष्यों के साथ महावीर प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर ली ।

मेतार्य

मेतार्य पंडित के मन में परलोक के अस्तित्व के बारे में शंका थी । **'विज्ञानघन एव...।'** इस पद के गलत अर्थ के कारण मेतार्य के मन में शंका थी कि परलोक नहीं है ।

दूसरी ओर वेद में कहा है कि **'जिसे स्वर्ग की इच्छा हो उसे अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए ।'**

प्रभु ने इन्द्रभूति को **'विज्ञानघन...'** पद का जो सही अर्थ समझाया । उन्हीं युक्तियों द्वारा मेतार्य को इस प्रकार समझाया कि मेतार्य की शंका दूर हो गई और उसने अपने 300 शिष्यों के साथ महावीर प्रभु के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

प्रभास

इन्द्रभूति आदि 10 को प्रभु के पास दीक्षित हुए जानकर प्रभास भी प्रभु के पास आया । महावीर प्रभु ने

उसे कहा, हे प्रभास ! वेद की पंक्तियों का गलत अर्थ करने के कारण तुम्हारे मन में मोक्ष के अस्तित्व के विषय में संदेह रहा हुआ है । **'जरामर्यं वा यदग्निहोत्रं'** अग्निहोत्र होम वह जरामर्यं अर्थात् जीवन पर्यंत करना चाहिए । अग्निहोत्र की क्रिया में कई पशुओं का वध रहा हुआ है और कुछ मनुष्यों के लाभ का कारण है । अग्निहोत्र की क्रिया दोषमिश्रित होने से कर्मबंध का कारण है । अग्निहोत्र करने से स्वर्ग मिलता है, किंतु मोक्ष नहीं । जब स्वर्गफल देनेवाली क्रिया ही जिन्दगी पर्यंत करने का विधान हो तो मोक्ष के हेतुभूत क्रिया करने का काल ही नहीं बचता है । इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष नहीं है । जब कि वेद में ही दूसरी जगह कहा गया है । **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपरं च । तत्र परं सत्यज्ञानं** दो ब्रह्म जानने योग्य हैं । उसमें एक पर और दूसरा अपर । सत्यज्ञान वह पर ब्रह्म है और दूसरा अपर ब्रह्म है । इस पद से मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

प्रभु ने समझाते हुए कहा, **'जरामर्यं वा यदग्निहोत्रं'** कहा गया है वहाँ 'वा' का अर्थ 'भी' करना चाहिए ।

इसका अर्थ हुआ **'जो स्वर्ग का अर्थी हो उसे जीवन-पर्यंत अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए तथा जो मोक्ष का अर्थी हो उसे मोक्षसाधक क्रिया भी करनी चाहिए ।** इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी को अग्निहोत्र यज्ञ ही करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि जिसे सिर्फ स्वर्ग की इच्छा हो उसे जीवन पर्यंत अग्निहोत्र यज्ञ तथा जिसे मोक्ष की इच्छा हो उसे मोक्ष साधक क्रिया करनी चाहिए ।

वेद पद का यह सही अर्थ है अतः वेद में मोक्ष-साधक क्रिया का काल भी कहा है, अतः मोक्ष है । संपूर्ण

कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है । मोक्ष में भी ज्ञान और सुख का अभाव नहीं है किंतु मोक्ष में अनंतज्ञान और अक्षयसुख रहा हुआ है ।

जीव और कर्म के संयोग से आत्मा का संसार बना है । आत्मा और कर्म का संयोग जो अनादि कहा गया है, वह प्रवाह की अपेक्षा से है । बाकी हर कर्म के संयोग की आदि भी है और अंत भी है । कोई भी कर्म मर्यादित समय तक ही आत्मा के साथ लगा रहता है । प्रयत्न व पुरुषार्थ द्वारा जब यह कर्मसंयोग सर्वथा दूर हो जाता है, तब आत्मा का मोक्ष होता है । मोक्ष में जाने के बाद आत्मा सदा काल के लिए वहीं रहती है । उस आत्मा का पुनः संसार में आगमन नहीं होता है ।

मोक्षविषयक शंका का समाधान होते ही प्रभास ने अपने 300 शिष्यों के साथ प्रभु के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

वैशाख शुक्ला एकादशी के शुभदिन इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों ने अपने 4400 ब्राह्मण शिष्यों के साथ प्रभु के पास भागवती-दीक्षा अंगीकार की । प्रभु ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह मुख्य पंडितों को गणधर के पद पर स्थापित किया । प्रभु ने उन सब को त्रिपदी **(उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा)** प्रदान की, इसके फलस्वरूप उन गणधर भगवंतों ने **द्वादशांगी** (आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक) की रचना की । उसके बाद महावीर प्रभु अपने सिंहासन से खड़े हुए । इन्द्र महाराजा भी वज्रमय थाल में दिव्य चूर्ण लेकर उपस्थित हुए । देवताओं ने वाद्ययंत्र बंद किए तभी प्रभु ने इन्द्रभूति के मस्तक पर दिव्य चूर्ण डालकर **'इन्द्रभूति गौतम को द्रव्य-गुण और पर्याय से तीर्थ की अनुज्ञा देता हूँ ।'** कहकर आशीर्वाद प्रदान किया । उसके बाद देवताओं ने भी चूर्ण आदि की वृष्टि की । **गणधर-पद की स्थापना कर प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की ।**

भगवान महावीर के चातुर्मास

महावीर प्रभु ने दीक्षा अंगीकार करने के बाद पहला चातुर्मास अस्थिक ग्राम में किया। प्रभु के कुल 42 चातुर्मासों में चंपा व पृष्ट चंपा में तीन-तीन चातुर्मास हुए। प्रभु ने वैशालीनगर के वाणिज्य ग्राम में बारह, राजगृह के बाहर नालंदा पाड़ा में चौदह, मिथिला में छह, भद्रिका में दो, आलंभिका, श्रावस्ती और वज्रभूमि के अनार्य देश में एक-एक चातुर्मास किया। प्रभु अपने चातुर्मास हेतु अपापापुरी नगरी के हस्तिपाल राजा की जीर्णशाला में पधारे।

वहाँ चातुर्मास के चौथे मास, सातवें पक्ष, कार्तिक वदी अमावस्या की रात्रि में श्रमण भगवान महावीर प्रभु का निर्वाण हुआ। प्रभु जन्म, जरा और मृत्यु के बंधन से सदा काल के लिए मुक्त हो गए। उस समय **चंद्र** नाम का संवत्सर, **प्रीतिवर्धन** नाम का महीना, **नंदिवर्धन** नाम का पक्ष, **अग्निवेश्य** नाम का दिन, **देवानंदा** नाम की रात्रि, **अर्च** नाम का लव, **मुहूर्त** नाम का प्राण, **सिद्धनाम** का स्तोक व **नाग नाम** का करण तथा **सर्वार्थसिद्ध** नाम का मुहूर्त था। स्वातिनक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर प्रभु का मोक्ष हुआ।

प्रभु के निर्वाण को जानकर असंख्य देवी-देवता देवलोक से पृथ्वीलोक पर आए। देवताओं के आगमन से वह रात्रि भी प्रकाशवाली हो गई। प्रभु के निर्वाण के दूसरे दिन प्रातः इन्द्रभूति-गौतम स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, वह घटना इस प्रकार बनी थी। महावीर प्रभु ने अपने निर्वाण काल को निकट देखकर भरत क्षेत्र के जीवों के उपकार के लिए निरंतर 16 प्रहर तक धर्मदेशना दी। उस समय मल्लकी जाति के काशी देश के नौ राजा तथा लिच्छवी जाति के कोशल देश के नौ राजा भी आहार त्याग रूप पौषध करते हुए प्रभु की देशना सुनने के लिए आए थे।

अपने निर्वाण समय को नजदीक देखकर, स्नेह के बंधन को तोड़ने के लिए महावीर प्रभु ने अपने प्रथम शिष्य गौतम स्वामी को, देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध करने के लिए भेज दिया था ।

महावीर प्रभु ने निर्वाण के पूर्व छट्ठ तप किया था । कार्तिक वदी अमावस्या की रात्रि की सिर्फ दो घड़ी बाकी थी, उस समय सर्वार्थसिद्ध नाम का मुहूर्त चालू हो चुका था, प्रभु ने अपने मन, वचन और काया के सूक्ष्म योगों का भी निरोध कर दिया था । मेरु की तरह अपने आत्मप्रदेशों को निश्चलकर शैलेशी अवस्था में रहकर प्रभु ने समस्त अघाति कर्मों का क्षय कर दिया और उसी समय प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया । प्रभु अनादि संसार के बंधन से मुक्त होकर एक ही समय में सिद्धशिला पर चौदह राजलोक के अग्र भाग पर पहुँच गए और सदा के लिए जन्म, जरा और मरण के बंधन से मुक्त हो गए । शारीरिक व मानसिक सभी संताप से मुक्त होकर उन्होंने परम शांति पद प्राप्त किया ।

देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध करके जैसे ही गौतम स्वामी भगवंत लौट रहे थे, तभी उन्होंने चारों ओर वातावरण में उदासीनता देखी । वृक्ष पर रहे पत्ते भी पतझड़ की ऋतु का अनुभव करने लगे थे । पक्षी भी मौन थे, पवन भी शांत हो गया था । देवों का आगमन हो रहा था, परंतु कहीं भी उत्साह नजर नहीं आ रहा थाऊ। चारों ओर के उदासीन वातावरण को देख, गौतम स्वामी का मन भी उदास हो रहा था । अचानक ही उन्हें मालूम पड़ा, **'वीर प्रभु का निर्वाण हो गया है ।'** प्रभु के निर्वाण को जानकर उन्हें वज्राघात सा अनुभव हुआ, वे करुण विलाप करते हुए बोले,

'प्रसरति मिथ्यात्व तमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य । दुर्भिक्षडमरवैरादि-राक्षसाः प्रसरमेष्यन्ति ।।'

हे प्रभो ! जिस प्रकार सूर्य अस्त हो जाने से चारों ओर अंधकार फैल जाता है, उसी प्रकार आपके

निर्वाण से अब भरतक्षेत्र में मिथ्यात्व रूप अंधकार फैल जाएगा । जिस प्रकार अंधेरे में उल्लुओं का जोर बढ़ जाता है, इसी प्रकार अब अन्यदर्शनी मिथ्या गर्जना करेंगे और दुष्काल, भय, वैर-विरोध आदि निरंकुश होकर लोगों को पीड़ा देंगे ।

`हे प्रभो ! राहुग्रसित चंद्रवाले आकाश तथा दीपकरहित भवन की तरह यह भरतक्षेत्र शोभारहित हो गया है । हे प्रभो ! पादपीठ को प्रणाम कर अब मैं किससे प्रश्न करूंगा ? मैं **'भगवंत'** कहकर किसे बुलाऊंगा और मुझे **'गौतम'** कहकर कौन बुलाएगा ?

``हे वीर ! आपने यह क्या कर दिया ? इस अवसर पर आपने मुझे दूर क्यों कर दिया ? क्या मैं बालक की तरह आपका अंचल पकड़ लेता ? क्या आपके केवलज्ञान में से भाग ले लेता ? क्या मुझे मुक्ति में ले जाने से मोक्ष में जगह की कमी हो जाती ? इस अवसर पर आपने मुझे अकेला ही छोड़ दिया ?'' इस प्रकार **'वीर ! वीर !'** कहते हुए वीर प्रभु का वीतराग **भाव** याद आ गया । अहो ! प्रभु तो वीतराग थे । राग कर मैं ही दु:खी हुआ हूँ ! कौन वीर और कौन गौतम ? इस प्रकार अन्यत्व भावना में चढ़ते हुए गौतम स्वामी को वहीं पर केवलज्ञान हो गया ।

इस प्रकार गौतम स्वामी का अहंकार भी प्रभु की प्राप्ति और प्रतिबोध के लिए हुआ । प्रभु प्रति का राग भी गुरुभक्ति के लिए हुआ और प्रभु वीर के वियोग का विषाद भी केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए हुआ ।

मोक्ष-मार्ग के मुसाफिर के लिए स्नेह, यह वज्र की शृंखला के समान, बंधनरूप है । इसी कारण महावीर प्रभु की जीवित अवस्था में गौतम स्वामी को केवलज्ञान नहीं हो पाया था । कार्तिक सुदी एकम् के शुभ

दिन देवताओं ने मिलकर गौतमस्वामीजी के केवलज्ञान का महोत्सव किया । गौतम स्वामीजी भगवंत केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद 12 वर्ष तक पृथ्वीतल पर विचरे-तत्पश्चात् सुधर्मास्वामीजी को अपना गण सौंपकर मोक्ष गए । गौतम स्वामी के निर्वाण के बाद 8 वर्ष तक केवली के रूप में विचरण कर सुधर्मास्वामी अपने 100 वर्ष के आयुष्य को पूर्णकर मोक्ष गए । सुधर्मास्वामी ने अपना गण जंबुस्वामी को सौंपा था ।

वीर प्रभु का जब निर्वाण हुआ तब कुंथु जाति के जीवों की खूब उत्पत्ति हो गई, वे जीव स्थिर हों तो दिखते भी नहीं थे और हलन-चलन करें तो ही दिखते थे तथा उनका रक्षण करना भी कठिन था । इससे **'भविष्य में निरतिचार संयम का पालन दुर्लभ होगा'** मानकर कई सत्त्वशाली साधु-साध्वीजी भगवंतों ने आहार-पानी का त्यागकर अनशन व्रत स्वीकार कर लिया ।

जिस रात्रि में वीर प्रभु का निर्वाण हुआ, उस रात्रि में 88 ग्रहों में से तीसवाँ भस्म राशि नाम का क्रूर ग्रह, प्रभु के जन्म नक्षत्र उत्तरा फाल्गुणी के साथ संक्रांत हुआ । एक नक्षत्र में दो हजार वर्ष तक रहने के कारण, इस क्रूर ग्रह के प्रभाव से प्रभु के शासन में साधु-साध्वी का उत्तरोत्तर वर्धमान भाव से वंदन-पूजन सत्कार नहीं होगा ।

भविष्य की इस स्थिति को जानकर प्रभु के निर्वाण के पूर्व इन्द्र महाराजा ने प्रभु को विनंति करते हुए कहा, `हे प्रभो ! आप क्षणभर के लिए अपना आयुष्य बढ़ा दो अन्यथा आपके जन्म नक्षत्र के साथ संक्रांत इस क्रूर ग्रह के कारण आपके शासन को 2000 साल तक भयंकर नुकसान होगा ।'

इन्द्र की विनंति सुनकर प्रभु ने कहा, **'हे शक्रेन्द्र ! क्षीण हुए आयुष्य को तीर्थंकर भी कदापि बढ़ा नहीं सकते हैं,** अतः भवितव्यता के योग से होनेवाली शासन की पीड़ा को बचाने का अन्य कोई उपाय नहीं

है । भस्मग्रह के प्रभाव से 2000 वर्ष तक साधु-साध्वी का पूजा-सत्कार घटेगा, उसके बाद 86 वर्ष के आयुष्य वाले कल्की राजा का पराभव कर तू उसके पुत्र धर्मदत्त को राज्य पर स्थापित करेगा । उसके बाद पुनः उत्तरोत्तर साधु-साध्वी के पूजा सत्कार में वृद्धि होगी ।

महावीर प्रभु का शासन 21000 वर्ष तक चलेगा । देवलोक से आए असंख्य देवी-देवताओं ने प्रभु के निर्वाण कल्याणक का महोत्सव मनाया । देवताओं ने शोकपूर्ण हृदय से प्रभु के देह का अग्नि-संस्कार किया । उसके बाद नंदीश्वर द्वीप पर जाकर उन देवताओं ने अष्टाह्निक-महोत्सव किया । फिर वे देवता देवलोक में चले गए ।

प्रभु का परिवार

महावीर प्रभु के गौतमस्वामी आदि 14000 साधु थे तथा आर्या चंदनबाला आदि 36000 साध्वी थीं । शंख-शतक आदि 1,59,000 श्रावक तथा सुलसा-रेवती आदि 3,18,000 श्राविकाओं की उत्कृष्ट संपदा थी । प्रभु महावीर के सर्व अक्षरश्रुत के ज्ञाता व केवलीतुल्य देशना दक्ष ऐसे 300 चौदह पूर्वधर, आमर्ष औषधि आदि लब्धिवाले 1300, अवधिज्ञानी 700, केवलज्ञानी 700, वैक्रिय लब्धिधारी 500, विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के धारक व 400 वादी-मुनियों की उत्कृष्ट संपदा थी । महावीर प्रभु के 700 साधु व 1400 साध्वियाँ मोक्ष में गये । 800 शिष्य अनुत्तर देवलोक में गए, जो दूसरे भव में मोक्ष जाएंगे । महावीर प्रभु की दो प्रकार की अंतकृत भूमि हुई **1) युगांतकृत् भूमि**-महावीर प्रभु की तीसरी पाट परंपरा तक मोक्षगमन हुआ ।

2. पर्यायांतकृद् भूमि-प्रभु के केवलज्ञान के चार वर्ष बाद किसी आत्मा का मोक्ष हुआ ।

भगवान महावीर 30 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में, साधिक बारह वर्ष तक छद्मस्थ काल में, कुछ न्यून 30 वर्ष केवलीपर्याय में रहे। इस प्रकार 42 वर्ष के श्रमणपर्याय व 72 वर्ष के आयुष्य को पूर्ण कर वेदनीय, आयुष्य, नाम व गोत्र इन चार अघातिकर्मों का क्षयकर इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे की समाप्ति में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी थे, तब पावापुरी में हस्तीपाल राजा की जीर्ण लेखनशाला में चोविहार छट्ठ पूर्वक सोलह प्रहर की धर्मदेशना में 55 अध्ययन पुण्य फल को बताने वाले, 55 अध्ययन पापफल को बतानेवाले और 36 अध्ययन, नहीं पूछे हुए प्रश्नों के जवाब कहकर पद्मासन में बैठे स्वाति नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर प्रभु अकेले ही मुक्त हुए।

ऋषभदेव के साथ 10,000 साधु-मोक्ष गए। अन्य तीर्थंकरों के साथ भी अनेक श्रमण मोक्ष गए जब कि प्रभु वीर के साथ मोक्ष कोई नहीं गया। यह सूचित करता है कि पाँचवें आरे में शिष्य गुरु से निरपेक्ष होंगे। वीर प्रभु के निर्वाण के 980 वर्ष बाद मतांतर से 993 वर्ष बाद यह कल्पसूत्र पुस्तकारूढ़ हुआ।

छठा व्याख्यान पूर्ण हुआ।

कल्पसूत्र हिंदी प्रवचन

व्याख्यान 7

आदेय नाम कर्म के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ ऐसे पुरुषादानीय पार्श्वनाथ प्रभु के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष रूप पाँचों कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए अर्थात् विशाखा नक्षत्र में चंद्रमा का योग होने पर ये पाँचों कल्याणक हुए हैं। ग्रीष्मऋतु के पहले मास, पहले पक्ष अर्थात् चैत्र वदी चौथ की मध्यरात्रि में विशाखा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग हुआ, तब प्राणत देवलोक में 20 सागरोपम के अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्णकर इस भरतक्षेत्र की वाराणसी नगरी में अश्वसेन महाराजा की महारानी वामादेवी की कुक्षि में पार्श्वनाथ प्रभु का गर्भ के रूप में अवतरण हुआ।

गर्भकाल में भी प्रभु तीन ज्ञान से युक्त थे। प्रभु महावीर के च्यवन समय हुए स्वप्नदर्शन, स्वप्न-फल कथन आदि यहाँ भी समझ लेने चाहिए। हेमंत ऋतु के दूसरे मास तीसरे पक्ष में अर्थात् पौष वदी 10 की मध्यरात्रि में, गर्भकाल के नौ मास व साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर, विशाखा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर नीरोग शरीरवाली वामादेवी ने रोगरहित-आरोग्य वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया।

प्रभु के जन्म के साथ ही छप्पन दिक्कुमारिकाओं द्वारा सूतिकर्म करना, इंद्र का आसन कंपित होना, प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जाना और वहाँ इन्द्र द्वारा प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाना, इत्यादि बातें प्रभु महावीर के जीवन की तरह समझ लेनी चाहिए।

पार्श्वनाथ प्रभु जब गर्भ में थे, तब वामादेवी ने रात्रि में पास में से प्रसार होते हुए काले सर्प को देखा था, इस कारण प्रभु का नामकरण **'पार्श्वकुमार'** किया गया।

इन्द्र के द्वारा नियुक्त पाँच धाव माताओं के द्वारा अच्छी तरह से लालन-पालन कराते हुए नौ हाथ की कायावाले पार्श्वकुमार यौवन-वय को प्राप्त हुए । अपने भोगावली कर्मों को खपाने के लिए पार्श्वकुमार ने कुशस्थल के राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती के साथ लग्नजीवन स्वीकार किया ।

साँप बना धरणेन्द्र

एक बार पार्श्वकुमार अपने महल के गवाक्ष में बैठकर नगर का दृश्य निहार रहे थे, तभी उन्होंने अनेक लोगों को पुष्प आदि पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए देखा । प्रभु ने किसी को पूछा, ``ये लोग कहाँ जा रहे हैं ।''

उसने कहा, ``नगर के बाहर किसी गाँव में एक दरिद्र रहता था, जिसके माता-पिता मर चुके थे । अन्य ब्राह्मणों की सहायता से वह अपनी आजीविका चलाता था । रत्न-आभूषणों से अलंकृत नगरवासियों को देखकर उसने सोचा, `इन लोगों ने गत भव में कोई तप किया है, उसी का यह फल लगता है तो क्यों न मैं भी तप करूँ ?' इस प्रकार विचार कर उसने तापस वेष स्वीकार कर लिया और अब वह पंचाग्नि-तप कर रहा है । वही तापस नगर-बाहर आया है और लोग उसके दर्शनार्थ जा रहे हैं । यह सुनकर पार्श्वकुमार भी घोड़े पर सवार होकर वहाँ आए ।

अपने ज्ञानबल से काष्ठ में जलते हुए साँप को देखकर प्रभु ने उससे कहा, ``ओ तपस्वी ! दयाहीन यह तप क्यों कर रहे हो ? दया रूपी नदी के तट पर ही सभी धर्म रूप अंकुर उत्पन्न होते हैं । दया रूपी नदी ही सूख जाएगी तो दूसरे धर्म कैसे टिक पाएंगे ? धर्म में दया ही मुख्य है ।'' यह सुनकर वह तापस कुपित हो गया और बोला, ``हे राजकुमार ! हाथी-घोड़े दौड़ाना तुम जानते होंगे, परंतु धर्म तो हम ही जानते हैं ।''

उसी समय प्रभु ने उस अग्नि-कुंड में से जलती हुई लकड़ी बाहर निकलवाई और उसे अपने सेवक द्वारा कटवाई । उसमें से आधा जला हुआ साँप बाहर निकला, जो मृत्यु के करीब था, प्रभु ने सेवक के मुख से उसे नवकार मंत्र सुनाया । उस नवकार के प्रभाव से वह साँप मरकर धरणेन्द्र बना । यह दृश्य देख वहाँ खड़े लोगों को खूब आश्चर्य हुआ । वे सब प्रभु के ज्ञान की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे । वह कमठ विविध तप करके मरकर मेघकुमार देव बना ।

दीक्षा स्वीकार

अपने गृहस्थजीवन में पार्श्वनाथ प्रभु दक्ष थे, दृढ़ प्रतिज्ञावाले थे । विनय-भद्रिकता आदि गुणों से युक्त थे । प्रभु तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे, तत्पश्चात् उन्होंने दीक्षा ली । दीक्षा के एक वर्ष पूर्व लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु को धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के लिए विनंति की । उसके बाद प्रभु ने एक वर्ष तक सांवत्सरिक दान दिया । तत्पश्चात् शरद् ऋतु के दूसरे मास, तीसरे पक्ष अर्थात् पौष वदी एकादशी के दिन विशाला नाम की शिविका में बैठकर, वाराणसी नगरी के राजमार्गों पर से प्रसार होकर आश्रमपद उद्यान में आए...वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे वस्त्र, अलंकार आदि का त्याग कर पंचमुष्टि लोच किया । चौविहार अट्ठम के तपपूर्वक विशाखा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर इन्द्र द्वारा प्रदत्त एक देवदूष्य को ग्रहणकर संसार का त्यागकर 300 व्यक्तियों के साथ प्रभु ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । दीक्षा के साथ ही प्रभु को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

पार्श्वनाथ प्रभु ने तिरासी दिन तक शरीर की ममता का त्यागकर उग्र साधना की...उस साधना-काल में आनेवाले उपसर्गों को समतापूर्वक सहन किया । छद्मस्थ अवस्था में प्रभु पर मेघमाली कृत उपसर्ग हुआ था, जो इस प्रकार है :-

मेघमाली का उपसर्ग

एक बार विहार करते हुए पार्श्वनाथ प्रभु एक तापस के आश्रम में एक कुए के पास वटवृक्ष के नीचे रात्रि में कायोत्सर्ग प्रतिमा में रहे हुए थे । उस समय अपने पूर्वभव के अपमान को यादकर मेघमाली देव वहाँ आया और अत्यंत गुस्से में आकर वह अपनी दिव्य शक्ति से शेर, बिच्छू आदि के रूप कर प्रभु को डराने लगा । प्रभु को निर्भय देखकर उसने अंधकार के समान गाढ़ बादल बनाकर, कल्पांतकाल के मेघ समान मूसलाधार वृष्टि प्रारंभ की । चारों दिशाओं में भयंकर बिजलियाँ चमकने लगीं । ब्रह्माण्ड का विस्फोट हो, ऐसी भयंकर गर्जनाएँ होने लगीं । चारों ओर पानी-पानी हो गया । भगवान की नासिका तक वह पानी आ गया ।

उसी समय धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ । अपने ज्ञान के बल से प्रभु पर हुए इस उपसर्ग को जानकर वह अपनी पटरानी के साथ वहाँ आया । प्रभु के पाँव के नीचे कमल बनाकर प्रभु को ऊँचा कर दिया और मस्तक पर अपनी फणाओं से छत्र बनाकर प्रभु पर से उपसर्ग को दूर किया । उसके बाद धरणेन्द्र ने मेघमाली को धमकाया । मेघमाली प्रभु की शरण में आ गया । प्रभु को वंदन-नमस्कार कर क्षमायाचना कर अपने स्थान को चला गया । नाट्य आदि द्वारा धरणेन्द्र ने प्रभु की भक्ति की और अंत में वह भी अपने स्थान पर चला गया । प्रभु ने यह उपसर्ग समतापूर्वक सहन किया ।

केवलज्ञान प्राप्ति

ईर्यासमिति आदि के पालन द्वारा अपनी आत्मा को भावित करते हुए प्रभु ने 83 दिन व्यतीत किये । फिर 84वें दिन, ग्रीष्म ऋतु के पहले महीने के प्रथम पक्ष में अर्थात् चैत्र वदी 4 के दिन पूर्वाह्नकाल में धातकी वृक्ष

के नीचे चोविहार छट्ठ पूर्वक तप कर रहे थे, तब विशाखा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

परिवार

पार्श्वनाथ प्रभु के आठ गण और आठ गणधर थे । एक वाचनावाले साधुसमुदाय को गण कहा जाता है और उस गण के नायक को गणधर कहते हैं ।

आठ गणधरों के नाम शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीरभद्र और यशस्वी थे ।

पार्श्वनाथ प्रभु के आर्यदिन्न आदि 16000 साधुओं की संपदा थी । पुष्पचूला आदि 38000 साध्वियों की उत्कृष्ट संपदा थी । सुव्रत आदि 1,64,000 श्रावक-संपदा, सुनंदा आदि 3,27,000 श्राविका संपदा थी । 350 चौदहपूर्वी, 1400 अवधिज्ञानी, 1000 केवलज्ञानी 1100 वैक्रिय लब्धिधारी मुनि तथा 600 मनः पर्यव ज्ञानी थे । पार्श्वनाथ प्रभु के 1000 साधु और 2000 साध्वियाँ मोक्ष गये । प्रभु के 800 विपुलमति-मनःपर्यवज्ञानी मुनि थे । 600 वादी और 1200 अनुत्तर विमान में पैदा होने वाले मुनि थे ।

पार्श्वनाथ प्रभु की युगान्तकृत् भूमि चार पाट परंपरा तक चली और पर्यायान्तकृत भूमि में प्रभु को केवलज्ञान होने के तीन वर्ष बाद प्रथम जीव मोक्ष में गया । पार्श्वनाथ प्रभु 30 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में, 83 दिन तक छद्मस्थ अवस्था में, कुछ न्यून 70 वर्ष तक केवली अवस्था में रहे । इस प्रकार कुल 70 वर्ष के श्रमण पर्याय तथा 100 वर्ष का आयुष्य पूर्णकर वेदनीय, आयुष्य, नाम व गोत्र कर्म का क्षय होने पर इस अवसर्पिणी काल का चौथा दुषम-सुषम आरा बहुत सा बीत जाने पर, वर्षाकाल के पहले महीने-दूसरे पक्ष अर्थात् श्रावण सुदी अष्टमी के दिन सम्मेतशिखर पर्वत पर 33 साधुओं के साथ चौविहार मासक्षमण के तप के साथ प्रथम

प्रहर में कायोत्सर्ग-मुद्रा में मोक्ष गए और प्रभु सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए ।

पार्श्वनाथ प्रभु के निर्वाण के 250 वर्ष व्यतीत होने पर महावीर प्रभु का मोक्ष हुआ और उसके 980 वर्ष बाद पुस्तक वाचना हुई ।

नेमिनाथ चरित्र

श्री नेमिनाथ प्रभु के पाँचों कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए अर्थात् चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक हुए । वर्षाऋतु के चौथे मास और सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक वदी 12 के दिन मध्यरात्रि में अपराजित नाम के महाविमान में 32 सागरोपम के अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्णकर इस जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र के शौर्यपुर नगर में समुद्रविजय महाराजा की महारानी शिवादेवी की कुक्षि में चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर नेमिनाथ प्रभु का अवतरण हुआ, जो च्यवन कल्याणक कहलाया ।

शिवादेवी माता ने भी चौदह स्वप्नों के दर्शन किये, इत्यादि बातें महावीर प्रभु की तरह समझ लेनी चाहिए । वर्षाऋतु के पहले महीने, दूसरे पखवाड़े में अर्थात् श्रावण सुदी पंचमी के दिन मध्यरात्रि में चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर नीरोग शरीरवाली शिवादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया । 56 दिक्कुमारिकाओं का आगमन, इन्द्र द्वारा मेरुपर्वत पर महोत्सव, प्रातः काल होने पर समुद्रविजय द्वारा पुत्र जन्म महोत्सव इत्यादि पूर्ववत् समझ लेना चाहिए । सिर्फ नामकरण **'अरिष्ट नेमि'** समझना चाहिए ।

नेमिनाथ प्रभु जब माँ के गर्भ में थे, तब माता ने स्वप्न में रिष्ट रत्नमय चक्र की धारा देखी थी । रिष्ट शब्द अमंगलवाची होने से उस अमंगल को दूर करने के लिए प्रभु का **'अरिष्ट नेमि'** इस प्रकार नाम रखा गया ।

नेमिनाथ प्रभु ने अपने जीवन में लग्न नहीं किया था । वह घटना इस प्रकार बनी थी-

यौवन के प्रांगण में प्रविष्ट नेमिकुमार को एक दिन शिवादेवी ने कहा, ``बेटा ! विवाह के लिए अपनी सहमति प्रदान कर । तू मेरे मनोरथ को पूर्ण कर ।''

नेमिकुमार ने कहा, ``माताजी ! मेरे योग्य कन्या मिलेगी, तब मैं अपनी सहमति दूंगा ।'' एक बार अपने मित्रों के साथ खेलते हुए नेमिकुमार श्रीकृष्ण वासुदेव की आयुधशाला में चले गए । कुतूहल- प्रिय मित्रों के आनंद-प्रमोद के लिए वासुदेव के सुदर्शन-चक्र को सहजता से उठा लिया और कुम्हार के चाक की तरह उसे अपनी अंगुली पर घुमा दिया...उसके बाद शारङ्ग धनुष को भी कमल के नाल की तरह मोड़ दिया । तत्पश्चात् कौमोदिकी गदा भी लकड़ी की तरह उठा दी और अंत में पाँचजन्य शंख को भी मुँह में लगाकर जोर से फूँका...उस फूँक से इतनी जोरदार आवाज हुई कि उस भयंकर आवाज को सुनकर हाथी भी अपने बंधन-स्तंभों को तोड़कर तूफान मचाते हुए इधर-उधर भागने लगे...वासुदेव के घोड़े भी बंधन तोड़कर अश्वशाला में से बाहर आ गए और भागने लगे । सारे शहर में कोलाहल मच गया ।

वासुदेव के प्रत्येक रत्न हजार-हजार देवताओं से अधिष्ठित होते हैं । सामान्य व्यक्ति, उन्हें उठाना तो दूर रहा, उनके समीप भी नहीं जा सकता है...परंतु तीर्थंकर परमात्मा तो अतुल-बली व विशिष्ट पुण्यशाली होते हैं, इस कारण उनके लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं है । नेमिकुमार भी भावी तीर्थंकर होने से उनके लिए भी कुछ भी कठिन नहीं था ।

पाँचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा, ``वह कौन है जिसने यह शंख बजाया है ? उस शंख को बजाने की ताकत किसी में नहीं है । क्या मेरा कोई दुश्मन पैदा हो गया है ?'' इस प्रकार व्याकुल चित्तवाले श्रीकृष्ण तत्काल आयुधशाला में आ गए और वहाँ नेमिकुमार को देखकर मनोमन अनेक संकल्प-

विकल्प करने लगे । ``क्या नेमिकुमार मुझसे भी अधिक बलवान हैं ?'' यह जानने के लिए श्रीकृष्ण ने कहा, ``हम अपने बल की परीक्षा करें ।'' इतना कहकर श्रीकृष्ण, नेमिकुमार को अखाड़े में ले गए । नेमिकुमार ने कहा, ``बल की परीक्षा के लिए धूल में आलोटने की क्या जरूरत है ? एक-दूसरे की भुजा को मोड़कर भी हम अपने बल की परीक्षा कर सकते हैं ?''

श्रीकृष्ण ने अपनी सहमति दे दी । सबसे पहले श्रीकृष्ण ने अपना हाथ लंबा किया...नेमिकुमार ने उस हाथ को एक झटके में तुरंत ही मोड़ दिया । उसके बाद नेमिकुमार ने अपना हाथ लंबा किया । उस हाथ को मोड़ने के लिए श्रीकृष्ण ने खूब मेहनत की, परंतु श्रीकृष्ण उस हाथ को नहीं मोड़ सके । वे उस हाथ पर लटकने लगे...फिर भी उस हाथ को मोड़ न पाए । श्रीकृष्ण चिंतातुर हो गए । वे सोचने लगे, ``यह नेमिकुमार मेरा राज्य ले लेगा । सचमुच दुनिया में स्थूल बुद्धिवाले श्रम करते हैं और उसका फल तो बुद्धिशाली उठा लेते हैं । समुद्र का मंथन तो शंकर ने किया, परंतु उस मंथन से प्राप्त रत्न तो देवता ले गए । भोजन को चबाने की मेहनत तो दाँत करते हैं, जबकि भोजन का स्वाद तो जीभ ही लेती है ।''

श्रीकृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ विचार-विमर्श करने लगे । ``श्री नेमिकुमार तो मुझसे भी अधिक बलवान है, वे मुझे हराकर मेरा राज्य प्राप्त कर लेंगे ।'' उसी समय आकाश में देववाणी हुई, ``हे कृष्ण ! पूर्व में नमिनाथ प्रभु ने कहा है कि बाईसवें नेमिनाथ प्रभु, कुमार अवस्था में ही दीक्षा लेनेवाले हैं ।'' इस आकाश-वाणी को सुनकर श्रीकृष्ण निश्चिंत हो गए...फिर भी सत्य के निश्चय के लिए श्रीकृष्ण, नेमिकुमार को अपनी गोपियों के साथ जल-क्रीड़ा हेतु सरोवर में ले गए ।

श्री नेमिकुमार तालाब में स्नान कर बाहर आए, तब श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियाँ सुवर्ण की पिचकारी से

केसरमिश्रित पानी नेमिकुमार के ऊपर फेंकने लगीं । कुछ गोपियाँ फूलों की गेंद बनाकर प्रभु की छाती पर फेंकने लगीं । कुछ स्त्रियाँ अपने कटाक्ष-बाणों से नेमिकुमार के मन को बींधने का प्रयास करने लगीं । काम-कला में कुशल ऐसी कुछ स्त्रियाँ हँसी-मजाक के शब्द बोलने लगीं ।

उसी समय आकाश-वाणी हुई, ``हे मुग्धाओ ! जन्म समय इन्द्रों ने एक योजन लंबे नलीवाले बड़े-बड़े कलशों से जिनको मेरु पर्वत पर स्नान कराया था, फिर भी वे लेश भी व्याकुल नहीं हुए थे तो क्या तुम्हारी इन पिचकारियों के जल से वे व्याकुल हो जाएंगे ?'' श्री नेमिकुमार भी उन सब के आनंद-प्रमोद के लिए उन पर पिचकारी फेंकने लगे । इस प्रकार जल-क्रीड़ा के बाद तालाब के तट पर सिंहासन पर बैठे नेमिकुमार को उन गोपियों ने घेर लिया ।

रुक्मिणी बोली, ``हे नेमिकुमार ! लग्न करे तो पत्नी का भी जीवन-निर्वाह करना पड़े । बस, इसी भय से आप विवाह करने से घबराते हो, जरा देखो, आपके भाई तो 32,000 स्त्रियों का निर्वाह कर रहे हैं । आप इतने कायर क्यों बनते हो ?''

सत्यभामा ने कहा, ``ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने भी विवाह किया था । विषय-सुख और राज्य-सुख भोगा था । उनके भी अनेक पुत्र हुए । फिर भी वे अंत में संसार से मुक्त हुए । आप तो कोई नये ही मोक्षमार्गी बने हो । हे देवर ! आप खूब विचार करो । गृहस्थपने को स्वीकार कर अपने बंधुजनों को शांत करो ।''

जांबवती बोली, ``हे कुमार ! आपके पहले हरिवंश कुल में भूषण समान श्री मुनिसुव्रत स्वामी पैदा हुए हैं, उन्होंने भी गृहस्थजीवन को स्वीकार कर पुत्रोत्पत्ति के बाद दीक्षा अंगीकार की थी और अंत में वे भी मोक्ष गए थे ।''

पद्मावती ने कहा, ``हे कुमार ! इस संसार में पत्नी बिना मनुष्य की शोभा भी नहीं है । अकेले पुरुष का कोई विश्वास भी नहीं करता है । पत्नीरहित अकेला पुरुष तो विट कहलाता है ।''

तभी **गांधारी** बोली, ``घर पर आए मेहमानों की भक्ति पत्नी ही करती है । संघ निकालना, उत्सव करना, विवाह का महोत्सव करना आदि अच्छे कार्य पत्नी के बिना नहीं शोभते हैं ।''

गोरी ने कहा, ``अज्ञानी ऐसे पक्षी भी दिन में जहाँ-तहाँ भटक कर रात्रि में अपनी पत्नी के साथ घाँसले में रहते हैं, क्या देवरजी ! आप में उन पक्षियों जितनी भी समझ नहीं है ?''

लक्ष्मणा बोली, ``स्नान आदि सर्व अंग की शोभा में विचक्षण, प्रीतिरस में सुंदर, विश्वास-पात्र और दु:ख में सहायता करनेवाली पत्नी के बिना कौन है ?''

अंत में **सुसीमा** ने कहा, ``स्त्री के बिना घर आए मेहमानों की तथा मुनियों की सेवा-भक्ति कौन करेगा ? अकेला पुरुष शोभा भी नहीं देता है ।''

गोपियों के द्वारा इस प्रकार युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा समझाने पर भी नेमिकुमार तो मौन ही रहे । वे थोड़े से मुस्कुराये । उनकी मुस्कराहट को **'न निषिद्धं अनुमतं'** जिसका निषेध न हो उसका स्वीकार ही माना जाता है । इस प्रकार निषेध न होने पर उसे स्वीकृति समझकर गोपियों ने घोषणा कर दी कि नेमिकुमार लग्न के लिए तैयार हो गए हैं । अपने मनोरथ को सफल होते हुए देख श्रीकृष्ण ने तत्काल ही **उग्रसेन** राजा के पास जाकर, उग्रसेन राजा की पुत्री **राजीमती** के लिए माँग की । श्रीकृष्ण की बात सुनकर उग्रसेन राजा भी तत्क्षण श्री नेमिकुमार के साथ अपनी पुत्री का पाणिग्रहण करने के लिए तैयार हो गए । श्रीकृष्ण ने निमित्तज्ञ से पूछा, ``नेमिकुमार व राजीमती के लग्न के लिए कौनसा दिन श्रेष्ठ है ?''

उसने कहा, ``वर्षाऋतु में अन्य कोई शुभकार्य नहीं किये जाते हैं तो फिर गृहस्थ-जीवन का मुख्य कार्य विवाह तो कैसे किया जाय ?'' समुद्रविजय ने उसको कहा, ``बड़ी मुश्किल से तो नेमिकुमार विवाह के लिए तैयार हो पाए हैं, अतः इस कार्य में थोड़ा भी विलंब करना ठीक नहीं है ।'' समुद्रविजय और श्रीकृष्ण के अति आग्रह को देख निमित्तज्ञ ने कहा, ``श्रावण सुदी 6 का दिन श्रेष्ठ है ।''

बस, लग्नदिन का निर्णय होते ही समुद्रविजय और उग्रसेन राजा अपने पुत्र-पुत्री के विवाह के लिए जोरशोर से तैयारी करने लगे । मूल्यवान वस्त्रों व आभूषणों से अलंकृत होकर नेमिकुमार ने अपने पिता समुद्रविजय आदि दश दशार्ह, केशव, बलदेव आदि विशाल परिवार के साथ अपने महल से प्रस्थान किया । उस समय शिवादेवी आदि विवाह के मंगल गीत गा रही थीं । नेमिकुमार का रथ तेजी से आगे बढ़ रहा था । थोड़ी ही दूरी पर राजीमती का महल था ।

नेमिकुमार ने सारथी को पूछा, ``पताकाओं से सुशोभित यह महल किसका है ?''

सारथी ने कहा, ``यह आपके श्वसुर उग्रसेन राजा का महल है ।'' इधर राजीमती अपनी सखियों के साथ वार्ता-विनोद कर रही थी । नेमिकुमार के रथ के आगमन को जानकर तत्क्षण वे सखियाँ झरोखे में से दूर से आ रहे नेमिकुमार को देखने लगीं । दूर से नेमिकुमार को देखते ही मृगलोचना अपनी सखी चंद्रानना को बोली, ``सखी ! स्त्रियों में राजीमती ही प्रशंसनीय है, जिसे नेमिकुमार जैसे वर की प्राप्ति हुई है ।''

चंद्रानना बोली, ``अद्‌भुत रूपवती राजीमती का सर्जन कर यदि विधाता उसके अनुरूप योग्य वर का संयोग न कराए तो यह विधाता की ही बहुत बड़ी भूल होगी ।'' वाद्य यंत्रों की आवाज सुनकर राजीमती भी उन सखियों के बीच आ गई और दूर से आ रहे अपने भावी वर को देखने लगी । नेमिकुमार को दूर से देख

राजीमती बोली, ``अहो ! यह कौन है ? यह साक्षात् पातालकुमार है या कामदेव ? या इन्द्र ? सचमुच मेरे पुण्य का समूह ही मूर्तिमंत होकर आ गया है ।''

राजीमती के मनोगत भावों को जानकर प्रीतिपूर्वक हँसी-मजाक करती हुई मृगलोचना बोली, ``हे चंद्रानना ! यद्यपि यह वर सर्वगुण संपन्न दिखता है, परंतु इसमें एक दूषण है । किंतु यह दूषण मैं राजीमती के सामने नहीं कहूंगी ।''

चंद्रानना ने कहा, ``हे मृगलोचना ! वह दूषण तो मुझे भी ख्याल में है, परंतु इस समय तो मौन रहना ही बेहतर है ।'' उसी समय लज्जा से मध्यस्थता बतलाती हुई राजीमती बोली, ``किसी भी भाग्यशाली कन्या का यह वर हो, परंतु ऐसे गुणसंपन्न वर में भी दोष निकालना यह तो तुम्हारी बालिश चेष्टा ही है ।''

उसी समय दोनों सखियाँ बोलीं, ``राजीमती ! सबसे पहले तो वर गौर वर्णवाला होना जरूरी है । दूसरे गुण तो परिचय होने के बाद पता चलते हैं । परंतु तुम्हारा यह वर तो एकदम श्याम है ।'' यह बात सुनकर ईर्ष्या से राजीमती बोली, ``ओहो ! आज मेरा यह भ्रम दूर हो गया है कि तुम चतुर हो । श्याम वर्ण तो अनेक गुणों का कारण है, वह भूषण रूप होने पर भी तुम उसे दूषण रूप कह रही हो ।''

पृथ्वी, चित्रावेलि, अगर, कस्तूरी, मेघ, आँख की कनीनिका, मस्तक के बाल, कसौटी, स्याही तथा रात्रि आदि ये सब वस्तुएँ श्याम होने पर भी महाफलवाली हैं । भोजन में काली मिर्च, चित्र में चारों ओर काली रेखा आदि वस्तुएँ श्याम रंगवाली होने पर भी सफेद वस्तुओं की शोभा बढ़ानेवाली हैं ।

दुनिया में कई वस्तुएँ सफेद होने पर भी खराब हैं । नमक खारा होता है, बर्फ खेती को जला देता है, अति सफेद शरीरवाला कोढ़ी-रोगी कहलाता है । चूना भी जलाता है ।''

इधर सखियों का वार्तालाप चल रहा था । इसी बीच पशुओं की करुण-पुकार सुनकर नेमिकुमार ने अपने सारथी से पूछा, ``हे सारथी ! पशुओं का क्रंदन क्यों सुनाई दे रहा है ?'' सारथी ने कहा, ``आपके विवाह के समय मांस की मिजबानी उड़ाने के लिए इन पशुओं को बाड़े में बंद किया गया है ।''

सारथी की यह बात सुनते ही नेमिकुमार बोले, ``अहो ! इस विवाह को धिक्कार हो, जिसमें इन मूक पशुओं के प्राण लिये जाते हों ।''

इधर राजीमती का दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा । उसने अपनी सखियों से बात की । सखियों ने थू-थूकर कहा, ``तेरा यह अमंगल दूर हो ।''

उसी समय नेमिकुमार ने सारथी से कहा, ``तुम अपना यह रथ मोड़लो, मुझे विवाह नहीं करना है ।''

कवि यहाँ पशुओं के वार्तालाप की कल्पना करते हुए कहते हैं, प्रभु को देखकर मानों हिरण प्रभु से कहता है, ``हे प्रभो ! मेरे हृदय का हरण करनेवाली इस हिरणी को मत मारो । मैं अपनी प्रियतमा के विरह के दु:ख को सहन नहीं कर पाऊंगा ।'' प्रभु को देख हिरणी, हिरण को बोली, ``ये तीन लोक के नाथ अकारण बंधु हैं । तुम इनसे प्रार्थना करो ।''

पत्नी से प्रेरित हिरण ने प्रभु को कहा, ``प्रभो ! हम झरनों का पानी पीते हैं । जंगल में घास खाते हैं और जंगल में रहते हैं । निरपराध ऐसे हमारा आप रक्षण करो ।'' मानों उन पशुओं की पुकार सुनकर प्रभु ने तत्क्षण कहा, ``हे पशुरक्षको ! तुम इन पशुओं को छोड़ दो । मुझे विवाह नहीं करना है ।'' प्रभु की आज्ञा मानकर बाड़ों में बंद किए गए उन सभी पशुओं को छोड़ दिया गया । सारथी ने जब अपना रथ वापस मोड़ दिया, तब समुद्रविजय और शिवादेवी घबराकर तुरंत वहाँ आ गए । आँखों में आँसू लाते हुए शिवादेवी बोली,

``हे वत्स ! तू एक बार विवाह कर मुझे पुत्र-वधू का मुख दिखा दे ।''

माता की यह बात सुनकर नेमिकुमार ने कहा, ``माताजी ! आप यह आग्रह छोड़ दो । मेरा मन तो मुक्ति रूपी कन्या को पाने के लिए उत्कंठित बना है । मुझे मानुषी-स्त्री पसंद नहीं है । जो विरक्त पर राग करे ऐसी मुक्ति रूपी स्त्री ही मुझे पसंद है ।''

उसी समय राजीमती-**'हाय ! यह क्या हो गया !'** कहकर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी ।

शीतोपचार के बाद जब वह होश में आई, तब बोली, ``हे यादवकुल के सूर्य ! महाज्ञानी ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ?'' पुनः अपने आपको कहने लगी, 'हे निष्ठुर हृदय ! जब तेरा स्वामी दूसरे पर रागवाला हुआ है, तब तू किसके लिए जीवन धारण करता है ?' अपने स्वामी को ठपका देती हुई बोली, ``हे धूर्त ! यदि तुझे अनेक सिद्धों द्वारा भुक्त, मुक्ति रूपी स्त्री में ही राग था तो विवाह के बहाने तूने मेरी विडंबना क्यों की ?''

उसी समय राजीमती को सांत्वना देती हुई सखियों ने कहा, ``लोक में कहावत है-श्याम रंग का आदमी कभी सरल स्वभाववाला नहीं होता है और कोई हो जाय तो उसे विधाता की भूल ही समझना चाहिए ।''

``हे सखी ! वह तुमसे प्रेम करना नहीं चाहता है तो तू उससे प्रेम क्यों करती है ? तेरे लिए दूसरा वर ढूंढ़ लेंगी ।'' यह बात सुनते ही राजीमती ने अपने दोनों कान बंद कर लिये और बोली, **``सखियो ! यह बात मुझे मत कहो, पूर्व में उगनेवाला सूर्य पश्चिम में उग जाय या मेरुपर्वत चलायमान हो जाय, तो भी मैं इस जीवन में नेमिकुमार को छोड़कर अन्य किसी को पति नहीं बनाऊंगी ।''**

फिर बोली, ``हे जगत् के स्वामी ! आप अपने घर आए याचकों को उनकी इच्छा से भी अधिक दान

देंगे, परंतु मेरी इच्छा होने पर भी आपने मेरे हाथ पर अपना हाथ नहीं रखा ।''

विरक्त बनी राजीमती बोली, ``यद्यपि इस विवाह प्रसंग पर आपने अपना हाथ मेरे हाथ पर नहीं रखा, परंतु दीक्षा के समय तो आपका हाथ मेरे सिर पर अवश्य रहेगा ।''

समुद्रविजय ने कहा, ``ऋषभदेव आदि भी विवाह करके मोक्ष गए हैं तो क्या तुम्हारा-ब्रह्मचारी का पद उनसे भी ऊँचा होगा ?'' नेमिकुमार ने कहा, ``पिताजी ! मेरे भोगावली कर्म क्षीण हो चुके हैं । एक स्त्री के संग्रह में अनंत जीवों का संहार है, जो विवाह आत्मा को दुःखमय बनाता हो, ऐसे विवाह के लिए आपका इतना आग्रह क्यों ?''

दीक्षा-केवलज्ञान

नेमिनाथ प्रभु 300 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे । उसके बाद लौकांतिक देवों ने आकर उनसे प्रार्थना की, ``हे प्रभो ! जगत् के जीवों के उद्धार के लिए आप धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो ।''

प्रभु ने सांवत्सरिक दान दिया । तत्पश्चात् वर्षाऋतु के पहले महीने, दूसरा पक्ष अर्थात् श्रावण सुदी 6 के दिन पहले प्रहर में, देव, मनुष्य और असुरों के समूह के साथ उत्तराकुरा नाम की पालकी में बैठे हुए द्वारिकानगरी के मध्य भाग से निकल कर नेमिकुमार रैवत उद्यान में आए । वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे पालकी में से बाहर आए । उसके बाद अपने ही हाथों से वस्त्र-अलंकार उतारकर पंचमुष्टि लोचकर चौविहार छट्ठ के तप पूर्वक चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर इन्द्र द्वारा दिये गये देवदूष्य को ग्रहण कर एक हजार पुरुषों के साथ गृहस्थजीवन का त्यागकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद तप-त्याग और तितिक्षा की साधना पूर्वक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मों

को खपाने लगे । इस प्रकार 54 दिन व्यतीत होने के बाद 55 वें दिन, वर्षाकाल के तीसरे मास, पाँचवें पक्ष, अर्थात् आसो वदी अमावस्या के दिन के पिछले प्रहर में गिरनार पर्वत के शिखर पर **वेतस** नाम के वृक्ष के नीचे चोविहार अट्ठम के तपपूर्वक चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों का संपूर्ण क्षय हो जाने पर प्रभु को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

रैवताचल पर्वत पर सहसाम्रवन में जब प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उद्यानपालक ने जाकर श्रीकृष्ण को समाचार दिये । समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी खुश हो गए । बड़े आडंबर के साथ प्रभु के दर्शन-वंदन के लिए आए । उस समय राजीमती भी साथ में आई थी ।

प्रभु की धर्मदेशना सुनकर वरदत्त आदि दो हजार राजाओं ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की ।

श्रीकृष्ण ने पूछा, ``राजीमती के दिल में आपके प्रति इतना स्नेह क्यों है ?''

प्रभु ने कहा, ``इसके साथ मेरा नौ भवों का संबंध था ।''

1) पहले भव में मैं धनकुमार राजपुत्र था, तब यह धनवती नाम की मेरी पत्नी थी ।

2) दूसरे भव में हम दोनों पहले देवलोक में देव-देवी के रूप में पैदा हुए ।

3) तीसरे भव में मैं चित्रगति नाम का विद्याधर था और यह मेरी रत्नवती नाम की पत्नी थी ।

4) चौथे भव में हम दोनों चौथे देवलोक में देव हुए ।

5) पाँचवें भव में मैं अपराजित राजा था और यह मेरी प्रियतमा नाम की रानी थी ।

6) छठे भव में हम दोनों ग्यारहवें देवलोक में देव हुए ।

7) सातवें भव में मैं शंख राजा था और यह मेरी यशोमती रानी थी ।

8) आठवें भव में हम दोनों अपराजित देवलोक में देव बने ।

9) नौवें भव में मैं नेमिकुमार बना और यह राजीमती हुई ।

इन नौ भवों से निरंतर जुड़े संबंध के कारण उसके दिल में मेरे प्रति राग रहा है ।

प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया ।

एक बार पुनः नेमिनाथ प्रभु रैवताचल पर्वत पर आए । प्रभु की धर्मदेशना सुनकर अनेक राजकन्याओं के साथ राजीमती ने तथा प्रभु के भाई रथनेमि ने भी प्रभु के पास दीक्षा ले ली ।

रथनेमि-प्रतिबोध

◆ एक बार राजीमती साध्वी नेमिनाथ प्रभु को वंदन करने के लिए जा रही थी । मार्ग में वर्षा हो जाने से उसके सारे कपड़े भीग गए । उसने एक गुफा में प्रवेश किया । उस गुफा में पहले से ही रथनेमि कायोत्सर्ग साधना कर रहे थे, परंतु राजीमती को ख्याल नहीं आया । वह अपने शरीर पर से वस्त्र उतारने लगी ।

राजीमती के अद्‌भुत रूप और लावण्य को देखकर रथनेमि उस पर एकदम मोहित हो गए और कुल-मर्यादा लज्जा को छोड़कर राजीमती से भोग के लिए प्रार्थना करने लगे ।

रथनेमि के इन वचनों को सुनकर राजीमती एकदम सावधान हो गई । अपने शील के संरक्षण के लिए अत्यंत ही जागरूक बनकर वह बोली, ``हे महानुभाव ! तुम नरक के मार्ग की इच्छा क्यों करते हो ? सर्व

सावद्य कर्मों का त्याग कर पुनः उनके सेवन की इच्छा करते हुए आपको शर्म नहीं आती है ? अगंधन कुल में पैदा हुए सर्प मरना पसंद करते हैं, परंतु वमन किये गये विष को पुनः चाटते नहीं हैं। नेमिनाथ प्रभु ने मेरा त्याग किया था तो फिर वमन को चाटने के लिए आप क्यों तैयार हुए हो ?''

इस प्रकार राजीमती के समझाने पर रथनेमि को अपनी भूल का ख्याल आ गया। वे पुनः नेमिनाथ प्रभु के पास गए। अपने पापों की आलोचना कर कठोर तप कर मोक्ष गए। निर्मल चारित्र की आराधना कर अंत में राजीमती भी मोक्ष गई, राजीमती 400 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में, एक वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में और 500 वर्ष केवली पर्याय में रहकर मोक्ष गई।

प्रभु का परिवार

नेमिनाथ प्रभु के 18 गण व 18 गणधर थे। वरदत्त आदि 18000 साधुओं की संपदा थी, आर्य यक्षिणी आदि 40,000 साध्वी संपदा, नंद आदि 1,69,000 श्रावक तथा महासुव्रता आदि 3,36,000 उत्कृष्ट श्राविका संपदा थी। 400 चौदहपूर्वी, 1500 अवधिज्ञानी, 1500 केवली, 1500 वैक्रियलब्धिधारी, 1000 विपुलमतिवाले, 800 वादी, 1600 अनुत्तर विमान में पैदा होनेवाले मुनियों की संपदा थी। नेमिनाथ प्रभु के 1500 साधु व 3000 साध्वियाँ मोक्ष गये।

नेमिनाथ प्रभु की युगांतकृत् भूमि में आठ पाट परंपरा तक मुक्त हुए। नेमिनाथ प्रभु को केवलज्ञान प्राप्ति के दो वर्ष बाद एक आत्मा मोक्ष गई। अर्थात् प्रभु की पर्यायांतकृत्भूमि 2 वर्ष की है।

नेमिनाथ प्रभु 300 वर्ष कुमार अवस्था में रहे। 54 दिन छद्मस्थ पर्याय में और कुछ न्यून 700 वर्ष केवली पर्याय में रहे। कुल 700 वर्ष का संयम पर्याय व 1000 वर्ष का आयुष्य पूर्णकर नेमिनाथ प्रभु वेदनीय आदि

अघातिकर्मों का क्षय कर, इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे का अधिकांश काल बीत जाने पर ग्रीष्मऋतु के चौथे मास आठवें पक्ष अर्थात् आषाढ़ सुदी अष्टमी के दिन ऊर्ज्जयंत पर्वत के शिखर पर 536 साधु भगवंतों के साथ एक मास का चौविहार अनशन कर मध्य रात्रि में पद्मासन से मोक्ष गए ।

नेमिनाथ प्रभु के निर्वाण के 84000 वर्ष बाद महावीर प्रभु का निर्वाण हुआ, उसके 980 वर्ष बाद कल्पसूत्र ग्रंथारूढ़ हुआ ।

तीर्थंकरों का अंतरकाल

◆ नमिनाथ प्रभु के निर्वाण के 5 लाख वर्ष बाद नेमिनाथ का निर्वाण हुआ था । अर्थात् नमिनाथ व महावीर प्रभु के बीच 5 लाख 84000 वर्ष का अंतर है ।

◆ मुनिसुव्रत स्वामी के निर्वाण के छह लाख वर्ष बाद नमिनाथ प्रभु का मोक्ष हुआ । अतः मुनिसुव्रत स्वामी के निर्वाण व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच कुल 11,84,000 वर्ष का अंतर है ।

◆ मल्लिनाथ के निर्वाण के 54 लाख वर्ष बाद मुनिसुव्रत स्वामी का निर्वाण हुआ । अतः मल्लिनाथ के निर्वाण व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 65 लाख 84000 वर्ष का अंतर है ।

◆ अरनाथ के निर्वाण के 1000 करोड़ वर्ष बाद मल्लिनाथ का निर्वाण हुआ । अतः अरनाथ के निर्वाण व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 1000 करोड़ 65 लाख 84000 वर्ष का अंतर है ।

◆ कुंथुनाथ के निर्वाण के 1000 करोड़ वर्ष न्यून पल्योपम के चौथे भाग बाद अरनाथ का निर्वाण हुआ । अतः कुंथुनाथ के निर्वाण व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच पल्योपम का चौथा भाग 65 लाख 84000 वर्ष है ।

◆ शांतिनाथ के निर्वाण के ½ पल्योपम बाद कुंथुनाथ का निर्वाण हुआ, अतः शांतिनाथ व

महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच ¾ पल्योपम व 65,84,000 वर्ष का अंतर है ।

◆ धर्मनाथ के निर्वाण के ¾ पल्योपम न्यून 3 सागरोपम बाद शांतिनाथ का निर्वाण हुआ । अतः धर्मनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 3 सागरोपम 65 लाख 84000 वर्ष का अंतर है ।

◆ अनंतनाथ के निर्वाण के चार सागरोपम बाद धर्मनाथ का निर्वाण हुआ, अतः अनंतनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 7 सागरोपम 65,84,000 वर्ष का अंतर है ।

◆ विमलनाथ के निर्वाण के 9 सागरोपम बाद अनंतनाथ का निर्वाण हुआ । अतः विमलनाथ और महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 16 सागरोपम 65,84,000 वर्ष का अंतर है ।

◆ वासुपूज्य स्वामी के निर्वाण के 30 सागरोपम बाद विमलनाथ का निर्वाण हुआ । अतः वासुपूज्य स्वामी के निर्वाण व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 46 सागरोपम 65,84,000 वर्ष का अन्तर है ।

◆ श्रेयांसनाथ के निर्वाण के 54 सागरोपम बाद वासुपूज्य का निर्वाण हुआ । अतः श्रेयांसनाथ व महावीर स्वामी के निर्वाण का अंतर 100 सागरोपम 65,84,000 वर्ष है ।

◆ शीतलनाथ के निर्वाण के 66 लाख 26000 वर्ष अधिक 1 सागरोपम न्यून 1 करोड़ सागरोपम बाद श्रेयांसनाथ का निर्वाण हुआ । अतः शीतलनाथ के निर्वाण व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 1 करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ सुविधिनाथ के निर्वाण के 9 करोड़ सागरोपम बाद शीतलनाथ का मोक्ष हुआ, अतः सुविधिनाथ व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 10 करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ चंद्रप्रभ के निर्वाण के 90 करोड़ सागरोपम बाद सुविधिनाथ का निर्वाण हुआ, अतः चंद्रप्रभ व महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 100 करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ सुपार्श्वनाथ के निर्वाण के 900 करोड़ सागरोपम बाद चंद्रप्रभ का निर्वाण हुआ । अतः सुपार्श्वनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 3½ मास न्यून 1 करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ पद्मप्रभ के निर्वाण के 9000 करोड़ सागरोपम बाद सुपार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ, अतः पद्मप्रभ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 10 करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ सुमतिनाथ के निर्वाण के 90,000 करोड सागरोपम बाद पद्मप्रभ का निर्वाण हुआ अतः सुमतिनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 1 लाख करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ अभिनंदनस्वामी के निर्वाण के 9 लाख करोड़ सागरोपम बाद सुमतिनाथ का निर्वाण हुआ, अतः अभिनंदनस्वामी व महावीर स्वामी के निर्वाण का अंतर 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 10 लाख करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ संभवनाथ के निर्वाण के 10 लाख करोड़ सागरोपम बाद अभिनंदन स्वामी का निर्वाण हुआ, अतः संभवनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 20 लाख करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ अजितनाथ के निर्वाण के 30 लाख करोड़ सागरोपम बाद संभवनाथ का निर्वाण हुआ अतः अजितनाथ व महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून 50 लाख करोड़ सागरोपम का अंतर है ।

◆ ऋषभदेव प्रभु के निर्वाण के बाद 50 लाख करोड़ सागरोपम बाद अजितनाथ प्रभु का निर्वाण हुआ, अतः ऋषभदेव और महावीर प्रभु के निर्वाण के बीच 42003 वर्ष 8½ मास न्यून एक कोटाकोटी सागरोपम का अंतर है । उसके 980 वर्ष बाद कल्पसूत्र पुस्तकारूढ़ हुआ ।

ऋषभदेव प्रभु का चरित्र

गत उत्सर्पिणी काल के 24वें तीर्थंकर के शासन की समाप्ति और इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अंतिम भाग में ऋषभदेव प्रभु ने शासन की स्थापना की, इस बीच 18 करोड़ कोड़ी सागरोपम जितना धर्मशासन के विरह का काल था, अर्थात् 18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम के बाद ऋषभदेव प्रभु ने धर्मशासन की स्थापना की थी । ऋषभदेव प्रभु इस अवसर्पिणी काल में पहले तीर्थंकर हुए । ऋषभदेव प्रभु के च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में तथा मोक्ष अभिजित् नक्षत्र में हुआ ।

च्यवन और जन्म कल्याणक

सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर गीष्मऋतु के चौथे मास, सातवें पक्ष, असाढ़ वदी चौथ के दिन ऋषभदेव प्रभु का देवलोक से च्यवन हुआ और इस जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र में इक्ष्वाकु भूमि के नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवा की कुक्षि में दिव्य आहार आदि का त्याग कर गर्भ के रूप में उत्पन्न हुए ।

उस समय मरुदेवा माता ने चौदह महास्वप्न देखे । सामान्य से तीर्थंकर की माताएँ पहले स्वप्न में हाथी देखती हैं, जबकि वीर प्रभु की माता ने पहले स्वप्न में सिंह और मरुदेवा माता ने पहले स्वप्न में वृषभ को देखा था । उस समय स्वप्नपाठक नहीं थे, अतः स्वप्नों का फलादेश इन्द्र ने बतलाया ।

9 मास 4 दिन का गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र वदी अष्टमी के दिन मरुदेवा माता ने पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

सब इन्द्रों ने मेरुपर्वत पर परमात्मा का जन्म महोत्सव किया । राजा ने भी 10 दिन का जन्म महोत्सव किया । उस समय जेल में कैदी न होने से कैदियों को मुक्त करना, इत्यादि क्रियाएँ नहीं हुईं । बाकी महोत्सव महावीर प्रभु के जन्म महोत्सव समान समझ लेना चाहिए वृषभ के स्वप्नानुसार पुत्र का नाम `ऋषभ' रखा गया ।

वंश स्थापना

ऋषभदेव प्रभु जब एक वर्ष के हुए, तब **`प्रभु के वंश की स्थापना करना यह मेरा आचार है ।'** इस प्रकार इन्द्र ने सोचा । `प्रभु के पास खाली हाथ कैसे जाऊँ ?' सोचकर इन्द्र इक्षु के बड़े टुकड़े लेकर नाभि कुलकर की गोद में रहे प्रभु के पास आया । इन्द्र के हाथ में रहे गन्ने को देखकर प्रभु ने उस गन्ने को लेने की इच्छा से अपना हाथ लंबा किया ।

`क्या आप गन्ना खाएंगे ?' कहकर इन्द्र ने वह टुकड़ा प्रभु के हाथ में दिया । इक्षु की अभिलाषा के कारण प्रभु के वंश का नाम **`इक्ष्वाकु'** और काश्यप गोत्र रखकर इन्द्र ने वंश की स्थापना की ।

कोई भी तीर्थंकर स्तन-पान नहीं करते हैं, भूख लगने पर देवता द्वारा अँगूठे में सींचे गए अमृत का पान करते हैं । बड़े होने पर अग्नि पर पकाया आहार भी लेते हैं, परंतु ऋषभदेव प्रभु ने तो दीक्षा ली तब तक देवताओं द्वारा देवकुरु और उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों से लाये गये फलों का ही आहार ग्रहण किया था ।

विवाह और राज्याभिषेक

किसी माता ने अपने पुत्र-पुत्री के युगल को तालवृक्ष के नीचे रखा था, अचानक ताल का फल गिरने

से बालक की अकाल मृत्यु हो गई । अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वह कन्या अकेली हो गई । वह अकेली ही जंगल में घूमने लगी । आखिर वे युगलिक उस कन्या को लेकर नाभि कुलकर के पास आए ।

नाभि कुलकर ने कहा, ``यह ऋषभ की पत्नी हो'' कहकर अपने पास रख ली । अपने आचार को समझकर ऋषभदेव प्रभु के विवाहकृत्य को करने के लिए इन्द्र स्वयं आए । इन्द्र ने वर संबंधी और इन्द्राणियों ने कन्या संबंधी कार्य किया । तत्पश्चात् शुभ लग्न में ऋषभदेव का सुनंदा व सुमंगला के साथ पाणिग्रहण हुआ । दोनों स्त्रियों के साथ सांसारिक सुख भोगते हुए छह लाख पूर्व वर्ष बीत गए । तब सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी रूप युगल को जन्म दिया और सुनंदा ने बाहुबली और सुंदरी रूप युगल को जन्म दिया । उसके बाद सुमंगला ने क्रमशः 49 पुत्र युगलों को अर्थात् 98 पुत्रों को जन्म दिया ।

ऋषभदेव के पाँच नाम थे...ऋषभ, प्रथम राजा, प्रथम साधु, प्रथम जिन और प्रथम तीर्थंकर ।

प्रथम राजा इस प्रकार बने । तीसरे आरे के अंतिम चरण में युगलिकों का पुण्य प्रभाव घटने लगा । कल्पवृक्ष समय पर इच्छित फल नहीं देने लगे । धीरे-धीरे कषायों का प्रादुर्भाव हुआ-लोगों में अपराधवृत्ति पैदा हुई । इस कारण सर्व प्रथम विमलवाहन और चक्षुष्मत् कुलकर के समय में प्रथम बार दंडनीति का प्रारंभ हुआ ।

पहले `हक्कार' नीति चालू हुई । किसी के अपराध करने पर **`हे ! तूने यह क्या किया ?'** बस, इतना ही कहा जाता और सामने वाला सुधर जाता था । धीरे-धीरे अपराधवृत्ति बढ़ने लगी । यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के काल में मक्कार नीति **`मत करो'** नीति चालू हुई ।

अहंभाव व ईर्ष्या की भावना बढ़ने लगी । प्रसेनजित, मरुदेवा और नाभि कुलकर के काल में हक्कार,

मक्कार के साथ बड़ा अपराध करने पर धिक्कार की नीति प्रारंभ हुई । अपराध करने पर **'तुझे धिक्कार हो ।'** कहा जाने लगा । धीरे-धीरे इन नीतियों का भी उल्लंघन होने लगा और लोग अधिक-अधिक अपराध करने लगे । ऋषभदेव प्रभु को विशिष्ट ज्ञानी जानकर लोगों ने पूछा, ``अपराध दूर करने के लिए क्या किया जाय ?''

प्रभु ने कहा, ``अपराधी को राजा ही दंड दे सकता है, वह मंत्री आदि से युक्त होता है और अभिषेक कराया होता है । '' ऋषभदेव के कहने से वे युगलिक नाभिकुलकर के पास जाकर राजा की माँग करने लगे । नाभिकुलकर ने कहा, ``यह ऋषभ ही तुम्हारा राजा हो ।''

वे युगलिक अभिषेक का पानी लेने के लिए तालाब पर गए । अपना सिंहासन कंपित होने पर इन्द्र भी अपना आचार समझ कर प्रभु के राज्याभिषेक के लिए वहाँ उपस्थित हो गए । इन्द्र ने मुकुट, कुंडल-आभरण आदि से सुशोभित कर प्रभु का राज्याभिषेक किया । उस समय पानी लेकर आए युगलिकों ने प्रभु को अलंकृत देखा । मस्तक पर अभिषेक करने के बजाय उन्होंने प्रभु के चरण-अंगुष्ठ पर अभिषेक कर संतोष भाव धारण किया । युगलिकों के इस विनय से संतुष्ट हुए इन्द्र ने 12 योजन लंबी व 9 योजन चौड़ी विनीतानगरी की स्थापना की । इन्द्र की आज्ञा से वैश्रमण ने रत्न व सुवर्ण के भवन बनाए । प्रभु ने राज्य के लिए हाथी-घोड़े आदि का संग्रह किया ।

उसके बाद प्रभु ने उग्र दंड देने वाले कोतवाल तुल्य क्षत्रियों के उग्रकुल, भोगयोग्य क्षत्रियों के लिए भोगकुल, समान वयवाले मित्रों के लिए राजन्य कुल व अन्य क्षत्रियों के लिए क्षत्रियकुल की स्थापना की । काल के प्रभाव से कल्पवृक्षों से फल प्राप्त नहीं होने लगे । कच्चा धान्य खाने से अजीर्ण होने लगा । प्रभु के कहने

से लोग दो हाथों में घिसकर पत्ते के संपुट में पानी में भिगोकर तथा बगल में दबाकर अनाज खाने लगे...फिर भी अजीर्ण होने लगा ।

एक बार वृक्षों की डालियों के टकराने से अग्नि पैदा हुई । उसे रत्न समझकर पकड़ने लगे तो लोग जल गए । वे प्रभु के पास जाकर शिकायत करने लगे । अग्नि की उत्पत्ति हुई जानकर प्रभु ने लोगों को कहा, ``अग्नि में पकाकर भोजन करो ।'' अज्ञानता के कारण लोगों ने अग्नि में ही अनाज डाल दिया और फिर आग के पास अनाज माँगने लगे । अग्नि ने तो वह सब भस्मीभूत कर दिया था । वे प्रभु के पास जाकर शिकायत करने लगे । प्रभु ने कहा, ``किसी बर्तन में रखकर अग्नि पर अनाज पकाना चाहिए ।''

उस समय सर्वप्रथम प्रभु ने हाथी के गंडस्थल पर गीली मिट्टी लगाकर उसमें से बर्तन तैयार किया, इस प्रकार प्रभु ने सर्वप्रथम कुंभकार का शिल्प प्रगट किया । प्रभु ने बर्तन बनाने की कला सिखाई । उसके बाद प्रभु ने अनाज को अग्नि में पकाने की कला सिखाई । फिर आजीविका के लिए लुहार, चित्रकार, बुनकर तथा हज्जाम का शिल्प सिखाया । इन मूल पांच कलाओं के प्रत्येक के 20-20 भेद होने पर शिल्प के कुल 100 भेद होते हैं ।

ऋषभदेव प्रभु 20 लाख पूर्व वर्ष तक कुमार अवस्था में रहे । 63 लाख पूर्व राज्यावस्था में रहकर उन्होंने पुरुषों की लेखन आदि 72 कलाएँ बतलाई । वे कलाएँ इस प्रकार हैं ।

1) लेख 2) गणित 3) गीत 4) नृत्य 5) वाद्य 6) पठन 7) शिक्षा 8) ज्योतिष 9) छंद 10) अलंकार 11) व्याकरण 12) निरुक्ति 13) काव्य 14) कात्यायन 15) निघंटु 16) गजारोहण 17) अश्वारोहण 18) गज-शिक्षा-अश्वशिक्षा 19) शास्त्राभ्यास 20) रस 21) मंत्र 22) यंत्र 23) विष 24) खन्य 25) गंधवाद 26) संस्कृत

27) प्राकृत 28) पैशाचिकी 29) अपभ्रंश 30) स्मृति 31) पुराण 32) पुराण विधि 33) सिद्धांत 34) तर्क 35) वैदक 36) वेद 37) आगम 38) संहिता 39) इतिहास 40) सामुद्रिक 41) विज्ञान 42) आचार्यक विद्या 43) रसायन 44) कपट 45) विद्यानुवाद के दर्शन 46) संस्कार 47) धूर्तसंबलक 48) मणिकर्म 49) तरु चिकित्सा 50) खेचरी कला 51) अमरीकला 52) इन्द्रजाल 53) पातालसिद्धि 54) यंत्रक 55) रसवती 56) सर्वकरणी 57) प्रासाद लक्षण 58) पण 59) चित्रोपल 60) लेप 61) चर्मकर्म 62) पत्रछेद 63) नखछेद 64) पत्रपरीक्षा 65) वशीकरण 66) काष्ठघटन 67) देशभाषा 68) गारुड़ 69) योगांग 70) धातुकर्म 71) केवलि निधि 72) शकुनरुत ।

प्रभु ने अपने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियाँ सिखाईं तथा सुंदरी को बाएँ हाथ से गणित विद्या सिखाई । भरत को काष्ठकर्म और बाहुबली को पुरुष आदि के लक्षण बतलाए ।

स्त्रियों की 64 कलाएँ

1) नृत्य 2) औचित्य 3) चित्र 4) वादित्र 5) मंत्र 6) तंत्र 7) धनवृष्टि 8) फलाकृष्टि 9) संस्कृतवाणी 10) क्रियाफल 11) ज्ञान 12) विज्ञान 13) दंभ 14) अंबुस्तंभ 15) गीतमान 16) तालमान 17) आकारगोपन 18) आरामरोपण 19) काव्यशक्ति 20) वक्रोक्ति 21) नरलक्षण 22) गजपरीक्षा 23) अश्वपरीक्षा 24) वास्तुशुद्धि 25) लघुवृद्धि 26) शकुनविचार 27) धर्माचार 28) अंजनयोग 29) चूर्णयोग 30) गृहिकर्म 31) सुप्रसादन कर्म 32) कनकसिद्धि 33) वर्णिकावृद्धि 34) वाक्पाटव 35) कर-लाघव 36) ललितचरण 37) तैल सुरभिता करण 38) भृत्य उपचार 39) गेहाचार 40) व्याकरण 41) पर-निराकरण 42) वीणावादन 43) वितंडावाद 44) अंक-स्थिति 45) जनाचार 46) कुंभचक्र 47) सारिश्रम 48) रत्नमणिभेद 49) लिपि परिच्छेद 50) वैद्यक्रिया 51) कामाविष्करण 52) रंधन 53) रसोई 54) चिकुरबंध 55) मुख मंडन 56) कथाकथन 57) कुसुमग्रंथन

58) सर्व-भाषा-विशेष 59) भोज्य 60) आभरणधारण 61) अंत्याक्षरिका 62) प्रश्न-पहेलिका 63) शालिखंडन और 64) वाणिज्य ।

प्रभु ने गृहस्थ जीवन में ये सारी कलाएँ सिखाईं । जो बातें गुरु द्वारा सीखी जाती हैं, उसे शिल्प कहते हैं और जो बातें स्वतः ही अभ्यास से आ जाती हैं उसे कर्म कहते हैं । दीक्षा के पूर्व प्रभु ने अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्य प्रदान कर दिया । भरत को विनीता और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंप दिया ।

दीक्षा कल्याणक

दीक्षा के एक वर्ष पूर्व लौकांतिक देवों ने आकर ऋषभदेव प्रभु को धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की । प्रभु ने उस दिन से एक वर्ष पर्यंत सांवत्सरिक दान दिया । तत्पश्चात् चैत्र वदी अष्टमी के दिन, दिन के पिछले प्रहर में **सुदर्शना** नाम की शिविका में आरूढ़ होकर देव, मनुष्य और असुरों के विशाल समुदाय के साथ विनीतानगरी के मध्य भाग से निकलकर ऋषभदेव प्रभु **सिद्धार्थ-वन** में आए । अशोक–वृक्ष के नीचे शिविका स्थापित कर प्रभु शिविका में से बाहर आए ।

वस्त्र-अलंकारों के त्याग के बाद जब प्रभु ने पंचमुष्टि लोच प्रारंभ किया, तब चार मुष्टि लोच हो जाने के बाद, जब एक मुष्टि केश बाकी रहे, तब इन्द्र ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा, ``प्रभो ! ये बाल ऐसे ही रहने दीजिए । ये बाल बहुत ही सुंदर लगते हैं ।'' प्रभु ने इन्द्र की विनती स्वीकार कर ली, वे केश वैसे ही रहने दिये । ऋषभदेव प्रभु के उस दिन चौविहार छट्ठ था । उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर राजन्य और क्षत्रियकुल के कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार पुरुषों के साथ इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य को ग्रहणकर प्रभु ने भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

ऋषभदेव प्रभु का छद्मस्थकाल एक हजार वर्ष था । उस काल दरम्यान अपने शरीर से भी ममत्व का त्यागकर प्रभु ग्रामानुग्राम विचरते थे । साधु को भिक्षा में क्या कल्पता है, क्या नहीं कल्पता है, यह किसी को भी मालूम नहीं था । प्रभु रोज भिक्षा के लिए जाते थे, परंतु कल्प्य भिक्षा नहीं मिलने के कारण, लौटकर उपवास कर लेते थे । प्रभु मौन ही रहते थे । प्रभु के साथ जिन्होंने दीक्षा ली थी, वे भूख को सहन नहीं कर पाए, भिक्षा-विधि का भी उन्हें कुछ पता नहीं था, अतः वे सब जंगल में चले गए और फल-फूल खाकर अपना जीवन निर्वाह करने लगे । वे सब जटाधारी संन्यासी हो गए ।

कच्छ और महाकच्छ के नमि और विनमि नाम के दो पुत्र थे । प्रभु ने उन्हें पुत्रवत् रखा था । प्रभु की दीक्षासमय वे अन्यत्र गए हुए थे । जब वे वापस लौटे, तब भरत उन्हें राज्य देने लगा, परंतु उन्होंने वह राज्य नहीं लिया । वे प्रभु के पास आए और प्रतिमा में खड़े प्रभु की पूजा-भक्ति करने लगे । वे कमलपत्रों में पानी लाकर प्रभु के आसपास की भूमि का सिंचन करते हुए प्रभु के आगे फूल चढ़ाते और प्रभु के पास राज्य की प्रार्थना करते ।

उनकी इस भक्ति को देख प्रभु को वंदन के लिए आए धरणेन्द्र ने उन्हें कहा, ``प्रभु ने तो सब कुछ त्याग कर दिया है, उनसे मत माँगो ! तुम्हें मैं दूंगा ।'' यों कहकर उन्हें रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि 48000 विद्याएँ प्रदान कीं और वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी में साठ और दक्षिण श्रेणी में 50 नगर बसाकर वहाँ रहने के लिए कहा । तब से विद्याधर वंश का प्रारंभ हुआ ।

प्रभु का पारणा

ऋषभदेव प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते थे । परंतु अज्ञानवश अन्नदान को तुच्छ माननेवाले वे लोग प्रभु को कन्या, वस्त्र, आभूषण देने लगते । योग्य भिक्षा न मिलने पर अदीन-मन वाले प्रभु लौट आते और

उपवास कर लेते । इस प्रकार प्रभु के कुल चार सौ उपवास हो गए । प्रभु विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे ।

वहाँ बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ के पुत्र युवराज श्रेयांसकुमार ने रात्रि में स्वप्न देखा...`काले पड़े हुए मेरुपर्वत का मैंने अमृत से सिंचन किया, जिससे मेरु पर्वत खूब सुशोभित हुआ ।'

सुबुद्धि नाम के नगरसेठ ने स्वप्न देखा, `सूर्य से अलग पड़े हुए सूर्य किरणों को श्रेयांसकुमार ने वापस सूर्य के साथ जोड़ दिया, जिससे सूर्य की शोभा और अधिक बढ़ गई ।

सोमप्रभ राजा ने स्वप्न देखा, `दुश्मन की सेना के साथ लड़ते समय श्रेयांसकुमार की मदद से विजय प्राप्त की ।'

प्रातःकाल होने पर वे तीनों राज-सभा में एकत्र हुए । तीनों ने अपने अपने स्वप्न की बात कही, तब राजा ने कहा, ``हे श्रेयांस ! आज तुझे कोई विशेष लाभ होगा ।'' उसके बाद वे तीनों अपने-अपने स्थान पर चले गए ।

श्रेयांसकुमार अपने महल के गवाक्ष में खड़ा था । **`प्रभु कुछ लेते नहीं हैं ।'** इस प्रकार लोगों के वार्तालाप को सुनकर श्रेयांसकुमार ने जैसे ही प्रभु को देखा, उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उसने देखा, `अहो ! मैं पूर्व भव में प्रभु का सारथी था और प्रभु के साथ ही मैंने दीक्षा ली थी । उस समय वज्रसेन तीर्थंकर ने कहा था, **`यह वज्रनाभ भविष्य में भरत क्षेत्र में पहला तीर्थंकर होगा ।'** ये वे ही ऋषभदेव प्रभु हैं ।

उसी समय एक मनुष्य ने श्रेयांसकुमार को इक्षु रस के घड़े भेंट किये थे । श्रेयांस ने सोचा, `यह इक्षुरस अचित्त और निर्दोष है, प्रभु को खप सकेगा ।' इस प्रकार सोचकर उसने प्रभु को आहार के लिए विनती की । प्रभु ने अपने दोनों हाथ इकट्ठे किए । श्रेयांस ने प्रभु की हथेली में सारा रस उँडेला । एक बूंद भी नीचे नहीं

गिरी, बल्कि ऊपर शिखा हो गई ।

(जिसके हाथ में रहे पानी की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरती हो, वे ही कर-पात्री बन सकते हैं । तीर्थंकर आदि के पास वो लब्धि होती है, इसलिए वे करपात्री होते हैं, परंतु जिसके पास वो लब्धि न हो, उसे तो काष्ठ-पात्र आदि में ही आहार करना चाहिए ।)

कवि यहाँ कल्पना करते हैं : प्रभु को एक वर्ष तक भिक्षा नहीं मिली, इसका कारण यह था कि प्रभु का एक भी हाथ माँगने के लिए आगे आने के लिए तैयार नहीं था । दाहिने हाथ का तर्क था, `मैंने आज तक दिया ही है, अतः मैं कैसे लूँ ? पूजा-भोजन आदि कार्य मैं करता हूँ तो अब माँगने का काम कैसे करूँ ?'

बाएँ हाथ का तर्क था, `युद्ध, गणित आदि के कार्यों को करनेवाला मैं माँगने का काम कैसे करूँ ? दाहिना हाथ तो जुए में पासे डालने से अपवित्र बना है ।'

इस प्रकार दोनों हाथ भिक्षा के लिए तैयार न होने से, उन दोनों को समझाने में एक वर्ष बीत गया, तब दोनों हाथ भिक्षा के लिए तैयार हुए । इक्षुरस बहोराते समय श्रेयांस की आँखों से हर्ष के आँसुओं की धारा बह रही थी, उसके मुख से अहोभाव की अभिव्यक्ति हो रही थी । उस इक्षुरस से प्रभु ने एक वर्ष के तप का पारणा किया । उस समय पाँच दिव्य प्रगट हुए । धन, वस्त्र, सुगंधितजल व पुष्प की वृष्टि हुई । आकाश में देवदुंदुभि का नाद हुआ और **`अहो दानं ! अहो दानं'** की घोषणा हुई ।

श्रेयांसकुमार ने लोगों को सुपात्रदान देने की विधि और उस दान का लाभ समझाया ।

लोगों ने पूछा, ``तुम्हें इस बात का कैसे पता चला ?'' श्रेयांस ने कहा, ``प्रभु के साथ मेरा अनेक भवों से संबंध जुड़ा हुआ है ।'' जब प्रभु दूसरे देवलोक में ललितांग नाम के देव थे, तब मैं उनकी प्रियतमा

स्वयंप्रभा नाम की देवी था । जब प्रभु पूर्वविदेह के पुष्कलावती विजय में **लोहार्गल नगर** में **वज्रजंघ** नाम के राजा थे, तब मैं उनकी **श्रीमती** नाम की पत्नी था । उसके बाद हम दोनों उत्तर कुरु में युगलिक के रूप में पैदा हुए थे...उसके बाद हम दोनों पहले देवलोक में मित्रदेव बने । उसके बाद प्रभु पश्चिम विदेह में वैद्य-पुत्र बने, तब मैं जीर्णश्रेष्ठी के पुत्र **केशव** के नाम से उनका मित्र बना था, उसके बाद हम बारहवें देवलोक में मित्रदेव बने...फिर प्रभु पुंडरीकिणी नगरी में **वज्रनाभ** नाम के चक्रवर्ती हुए, तब मैं उनका सारथी था । उसके बाद हम दोनों सर्वार्थ- सिद्ध विमान में देव के रूप में पैदा हुए...अब वे ऋषभदेव बने और मैं उनका प्रपौत्र श्रेयांसकुमार बना । इस बात को सुनकर लोग श्रेयांसकुमार की प्रशंसा करते हुए कहने लगे **'ऋषभदेव प्रभु जैसा पात्र, इक्षुरस समान दान की वस्तु और श्रेयांस के जैसा भाव, पुण्य से ही प्राप्त होता है ।'**

केवलज्ञान कल्याणक

ऋषभदेव प्रभु ने 1000 वर्ष की साधना की, उसमें उनका प्रमादकाल मात्र **एक अहोरात्र** का था । 1000 वर्ष बीतने पर शरद् ऋतु का चौथा महीना, सातवाँ पक्ष, **फागुण वदी एकादशी** के दिन प्रातः समय में **विनीता**नगरी के **पुरिमताल** नाम की शाखा-नगरी के बाहर **शकटमुख** उद्यान में वटवृक्ष के नीचे चौविहार अट्ठम के तप पूर्वक उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर ऋषभदेव प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । भरत महाराजा को एक साथ दो समाचार मिले । उद्यानपाल ने आकर प्रभु के केवलज्ञान के समाचार दिये और आयुधशाला के चौकीदार ने आकर **'चक्ररत्न'** की उत्पत्ति के समाचार दिये ।

क्षणभर के लिए भरत सोच में पड़ गया, `मैं पहले किधर जाऊँ ? प्रभु के पास जाऊँ या

आयुधशाला में जाऊँ ?' फिर सोचा, **'प्रभु की पूजा उभयलोक में हितकारी है,** जबकि चक्र की पूजा से तो मात्र इहलौकिक ही लाभ है।' इस प्रकार विचार कर भरत, प्रभु के केवलज्ञान के महोत्सव के लिए तैयार हो गया। ऋषभदेव प्रभु ने जब दीक्षा ली थी, तब से मरुदेवा माता का रुदन चालू था, निरन्तर आँखों से आँसू बहाने के कारण उनकी आँखों पर भी पड़ल आ गए थे। उनकी आँखें निस्तेज हो गई थीं।

भरत अपनी दादी माँ-मरुदेवा माता को हाथी की अंबाड़ी पर बिठाकर आगे बढ़ा। समवसरण के निकट आते ही भरत ने कहा, `माताजी ! अपने पुत्र की ऋद्धि तो देखो।' आकाश में देवदुंदभि आदि का नाद सुनकर हर्ष से रोमांचित बनी, मरुदेवा की आँखों में हर्ष के आँसू आ गए। उन आँसुओं से उसके नेत्र पटल दूर हो गए। मरुदेवा ने सोचा, `अहो ! जिस ऋषभ के लिए मैं वर्षों से रो रही थी, वह ऋषभ तो इतनी समृद्धि के बीच बैठा है। वह तो मुझे बुलाता भी नहीं है। ऐसे स्नेह को धिक्कार हो।' इस प्रकार सोचते-सोचते मरुदेवा माता एकत्व भावना में चढ़ गई। वहीं पर उसे केवलज्ञान हो गया। उसी समय आयुष्य समाप्त हो जाने से मरुदेवा माता तत्क्षण मोक्ष में चली गई।

कवि यहाँ कल्पना करता है, **'इस दुनिया में ऋषभ के समान कोई पुत्र नहीं है, क्योंकि एक हजार वर्ष की साधना के बाद प्राप्त हुआ केवलज्ञान रूपी रत्न उन्होंने सर्वप्रथम अपनी माता को ही भेंट किया।'**

इस दुनिया में मरुदेवा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ माता नहीं है, जो अपने पुत्र के लिए मुक्ति रूपी कन्या को देखने के लिए सबसे पहले मोक्ष में चली गई। प्रभु ने समवसरण में बैठकर धर्मदेशना दी। उस

देशना को सुनकर भरत के ऋषभसेन आदि 500 पुत्रों तथा 700 पौत्रों ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । प्रभु ने ऋषभसेन आदि 84 को गणधर पद प्रदान किया ।

ब्राह्मी ने भी दीक्षा ली और वह मुख्य साध्वी बनी । भरत मुख्य श्रावक बना । सुंदरी को स्त्रीरत्न बनाने की भावना से भरत ने उसे दीक्षा के लिए अनुमति नहीं दी । अतः सुंदरी श्राविका बनी, इस प्रकार प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना की । जो प्रभु के साथ में दीक्षित बने थे और बाद में तापस बन गए थे, उनमें से कच्छ और महाकच्छ को छोड़ शेष सभी तापस प्रभु के पास आ गए । चक्ररत्न की पूजा कर छह खंड को जीतने के लिए भरत ने प्रयाण किया । 60000 वर्ष में भरत क्षेत्र के छह खंडों को जीतकर भरत विनीता नगरी में आया, परंतु चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया ।

उधर भरत के मोह को उतारने के लिए सुंदरी ने 60,000 वर्ष तक आयंबिल किये । उसकी देहलता कृश हो गई-आखिर भरत ने उसे दीक्षा के लिए अनुमति दी । छह खंड जीतने पर भी छोटे भाई आज्ञा में न आने से चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया । यह जानकर भरत ने अट्ठाणु भाइयों पर दूत भेजकर कहलवाया, `या तो मेरी आज्ञा स्वीकार करो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।' पिता की सलाह लेने के लिए वे सब भाई प्रभु के पास पहुँच गए । प्रभु ने उन्हें वैतालीय अध्ययन द्वारा प्रतिबोध दिया । उन सब भाइयों ने दीक्षा ले ली । भरत ने बाहुबली के पास भी दूत भेजा । बाहुबली भरत की आज्ञा मानने के लिए तैयार नहीं हुए । आखिर उन दोनों के बीच 12 वर्ष तक युद्ध चला, परंतु किसी की भी हार-जीत नहीं हुई ।

आखिर इन्द्र की सलाह से अन्य युद्ध छोड़कर दोनों ने परस्पर 1) दृष्टि युद्ध 2) वाग्युद्ध 3) मुष्टि

युद्ध और 4) दंड युद्ध करने का निश्चय किया । इन चारों युद्धों में भरत की हार हो गई । इससे रोषायमान हुए भरत ने बाहुबली को खत्म करने के लिए उस पर चक्ररत्न फेंक दिया । समान गोत्री होने से उस चक्र से बाहुबली का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ । इससे रोषायमान हुए बाहुबली ने भरत को ही खत्म करने के लिए मुट्ठी उठा दी । परंतु तत्क्षण उसके विचार बदल गए । `धिक्कार हो मुझे ! राज्य के लोभ से बड़े भाई को मारने के लिए तैयार हो गया ?' उसी समय ऊपर उठाई मुट्ठी से उन्होंने पंचमुष्टि लोच कर दीक्षा ले ली । भरत बाहुबली के चरणों में गिर पड़ा ।

दीक्षा लेने के बाद बाहुबली को विचार आया, `मैं प्रभु के पास जाऊंगा तो पूर्व में दीक्षित, मेरे छोटे भाइयों को मुझे वंदन करना पड़ेगा तो क्यों न केवलज्ञान होने के बाद ही जाऊँ ?' इस प्रकार विचार कर वे कायोत्सर्ग की साधना में लीन हो गए । एक वर्ष बीतने पर भी उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ । आखिर प्रभु की प्रेरणा से आई ब्राह्मी-सुंदरी ने बाहुबली को प्रतिबोध देते हुए कहा, `भाई ! तुम हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान नहीं होता है ।' शब्द सुनते ही बाहुबली सोच में पड़ गए `मैं कौन से हाथी पर बैठा हूँ ?' तत्क्षण उन्हें अपनी भूल ख्याल में आ गई । अपने छोटे भाइयों को वंदन करने के लिए जैसे ही उन्होंने कदम उठाया त्योंही उन्हें केवलज्ञान हो गया ।

◆ एक बार शीशमहल में अँगूठी रहित अपनी अंगुली को देखते हुए अनित्य भावना में चढ़े हुए भरत राजा को भी केवलज्ञान हो गया । भरत ने इन्द्रप्रदत्त मुनिवेष को धारण किया तब अन्य 10000 राजाओं ने भी दीक्षा अंगीकार की । दीर्घकाल तक पृथ्वीतल पर विचरण कर अंत में भरत मुनि मोक्ष गए ।

परिवार

◆ ऋषभदेव प्रभु के 84 गण व 84 गणधर थे । प्रभुके ऋषभसेन (पुंडरीक स्वामी) आदि 84000 साधु तथा ब्राह्मी-सुंदरी आदि तीन लाख साध्वियाँ थीं । श्रेयांस आदि तीन लाख पाँच हजार श्रावक तथा सुभद्रा आदि 5,54000 श्राविकाएँ थीं । 4700 चौदहपूर्वी 7000 अवधिज्ञानी 20000 केवलज्ञानी 20600 वैक्रिय-लब्धिधारी 12650 विपुलमति मनःपर्यवज्ञान वाले तथा 12,650 वादियों की उत्कृष्ट संपदा थी । प्रभु के 20,000 साधु तथा 40,000 साध्वियाँ मोक्ष गये । अनुत्तर विमान में पैदा होनेवाले एकावतारी 20700 साधु थे ।

ऋषभदेव प्रभु की असंख्य पाट-परंपरा तक के पट्टधर मोक्ष गए, यह युगांतकृत् भूमि हुई । प्रभु के केवलज्ञान के अन्तर्मुहूर्त बाद मरुदेवा माता मोक्ष गई, यह पर्यायांतकृत् भूमि है ।

ऋषभदेव प्रभु 20 लाख पूर्व वर्ष तक कुमार अवस्था में, 83 लाख पूर्व वर्ष तक राज्यावस्था में, 83 लाखपूर्व वर्ष तक गृहस्थ अवस्था में, 1 हजार वर्ष छद्मस्थ अवस्था में, 1 हजार वर्ष न्यून 1 लाख पूर्व वर्ष केवली अवस्था में तथा 1 लाख पूर्व वर्ष का संयम पालन कर कुल 84 लाख पूर्व वर्ष के आयुष्य को पूर्ण कर शेष अघाती कर्मों का क्षयकर इस अवसर्पिणी काल के सुषम-दुषम नाम के तीसरे आरे का अधिकांश भाग बीत जाने पर, सिर्फ 3 वर्ष 8.5 मास शेष रहने पर शरद्ऋतु के तीसरे मास, पाँचवें पक्ष अर्थात् महा वदी त्रयोदशी के दिन अष्टापद पर्वत पर चौविहार छह उपवास के तप पूर्वक 10,000 साधुओं के साथ, अभिजित नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर पल्यंकासन में मोक्ष गए ।

प्रभु के निर्वाण के साथ ही इन्द्र का सिंहासन कंपित हुआ । प्रभु के निर्वाण को जानकर अपनी

अग्रमहिषी तथा लोकपाल आदि परिवार के साथ इन्द्र वहाँ पर आए । अन्य 63 इन्द्र भी आए । इन्द्र की आज्ञा से भवनपति आदि चारों निकाय के देवता नंदनवन आदि से गोशीर्ष चंदन ले आए । उन्होंने उसकी तीन चिताएँ तैयार कीं । एक प्रभु के लिए, दूसरी गणधरों के लिए और तीसरी निर्वाण प्राप्त अन्य साधुओं के लिए ।

उसके बाद क्षीरसमुद्र के जल से प्रभु के शरीर को स्नान कराया गया । फिर गोशीर्ष चंदन का विलेपन किया, हंस लक्षणवाले वस्त्र पहिनाए । प्रभु के देह को अलंकारों से विभूषित किया । फिर अन्य गणधरों व मुनियों को स्नान आदि कराया गया । इन्द्र ने प्रभु की देह को तथा अन्य गणधर मुनियों की देहों को शिविका में स्थापित किया । उसके बाद प्रभु आदि की देह को चिता पर रखा गया । इन्द्र की आज्ञा से अग्निकुमार देवताओं ने अग्नि प्रगट की और वायुकुमार देवताओं ने वायु पैदा की । अन्य देवताओं ने काला-अगरु, चंदन, घी आदि उत्तम पदार्थ चिता में डाले । जब प्रभु आदि के शरीर की अस्थियाँ ही शेष रह गईं, तब मेघकुमार देव ने वर्षा कर उस चिता को शांत किया ।

सौधर्म इन्द्र ने प्रभु के दाहिनी ओर की ऊपर की दाढ़ें तथा ईशानेन्द्र ने बायीं ओर की ऊपर की दाढ़ें, चमरेन्द्र ने दाहिनी ओर की नीचे की दाढ़ें तथा बलीन्द्र ने बायीं ओर की नीचे की दाढ़ें ग्रहण कीं ।

अन्य देवताओं ने भी भक्ति भाव तथा अपना आचार समझ कर अन्य अंगोपांगों की अस्थियाँ ग्रहण कीं । इन्द्र ने प्रभु की चिता, गणधर की चिता तथा अन्य साधुओं की चिता के स्थान पर रत्नमय तीन स्तूप तैयार किये । उसके बाद नंदीश्वर द्वीप पर जाकर इन्द्र आदि देवों ने अष्टाह्निक महोत्सव किया । फिर अपने-अपने

देवलोक के विमानों में जाकर प्रभु की दाढ़ा व अस्थियों को रत्नमय पेटी में रखकर उनकी गंध-माला आदि से पूजा करने लगे ।

ऋषभदेव प्रभु के निर्वाण के बाद 42,000 वर्ष न्यून एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल व्यतीत होने पर महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ । ऋषभदेव प्रभु के निर्वाण के 3 वर्ष 8.5 मास बीतने पर चौथा आरा प्रारंभ हुआ । चौथे आरे के 3 वर्ष 8.5 मास बाकी रहने पर महावीर प्रभु का मोक्ष हुआ । वीर प्रभु के निर्वाण के 980 वर्ष बाद कल्पसूत्र पुस्तकारूढ़ बना ।

सातवाँ व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

कल्पसूत्र के हिंदी प्रवचन

व्याख्यान 8

कल्पसूत्र के आठवें व्याख्यान में प्रभु महावीर के शासन में हुए प्रभावक महापुरुषों के चरित्र अर्थात् स्थविरावली का वर्णन आता है । भगवान महावीर के 9 गण और 11 गणधर थे ।

प्रश्न : गणधर 11 थे तो गण 9 ही क्यों ?

उत्तर : अकंपित तथा अचलभ्राता इन दोनों की संयुक्त एक वाचना थी एवं मेतार्य और प्रभास इन दोनों की संयुक्त एक वाचना थी । इस प्रकार 11 गणधर होते हुए भी नौ वाचनाएँ होने के कारण 9 गण कहे जाते हैं ।

गणधरों का परिचय

क्रम	नाम	गांव	पिता	माता	गोत्र	गृहवास	छद्मस्थ काल	साधु पर्याय	केवली पर्याय	आयुष्य
1.	इन्द्रभूति	गोबर	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	50	30	42	12	92
2.	अग्निभूति	गोबर	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	46	12	28	16	74
3.	वायुभूति	गोबर	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	42	10	28	18	70
4.	व्यक्त	कुल्लाग	धर्ममित्र	वारुणी	भारद्वाज	50	12	30	18	8
5.	सुधर्मा	कुल्लाग	धम्मिल	भद्दिला	अग्निवैश्य	50	42	50	8	100
6.	मंडित	मौर्य	धनदेव	विजयादेवी	वासिष्ट	53	14	30	16	83
7.	मौर्यपुत्र	मौर्य	मौर्य	विजयादेवी	काश्यम	65	14	30	16	95
8.	अकंपित	मिथिला	देव	जयंती	गौतम	45	9	30	21	75

9.	अचलभ्राता	कोशल	वसु	नंदा	हार्य	46	12	26	14	72
10.	मेतार्य	वच्छपुर	दत्त	वरुणदेवी	कौड़िन्य	36	10	26	16	62
11.	प्रभास	राजगृही	बल	अतिभद्रा	कौड़िन्य	16	8	24	16	40

भगवान महावीर के सभी गणधर सर्वलब्धि संपन्न, वज्रऋषभ नाराच संघयण वाले, समचतुरस्त्र संस्थानवाले, चौदह पूर्व तथा समस्त द्वादशांगी के धारक थे। वे श्रुतज्ञान के संपूर्ण ज्ञाता थे। सभी अक्षरों के सभी पर्यायों को जाननेवाले थे। ये सभी गणधर राजगृही नगरी में एक मास के चौविहार उपवास एवं पादपोपगमन अनशन पूर्वक मोक्ष गए। इनमें से 9 गणधर तो महावीर प्रभु के अस्तित्व काल में ही मोक्ष चले गए थे। वर्तमान में जो साधु समुदाय है, वह सब श्री सुधर्मास्वामी की शिष्य परंपरा का है, क्योंकि शेष सभी गणधर अपने निर्वाण समय में अपना गण सुधर्मास्वामी को सौंपकर गए थे।

1. गौतम स्वामी : भगवान महावीर के प्रथम शिष्य, प्रथम गणधर गौतम स्वामी अनंतलब्धियों के स्वामी थे। उनका नाम भी मंत्र स्वरूप है। **'गो'** अर्थात् कामधेनु **'त'** अर्थात् कल्पतरु और **'म'** अर्थात् चिंतामणि से भी जो बढ़कर है। गौतमस्वामी के 50,000 शिष्य थे। स्वयं मनःपर्यवज्ञानी अर्थात् चार ज्ञान के धारक होने पर भी जिसे दीक्षा देते, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती थी।

गौतम स्वामी को इस प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हुईं उसका मुख्य कारण प्रभु महावीर के प्रति रहा हुआ समर्पण भाव ही था।

2. सुधर्मास्वामी : भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर बनने का सौभाग्य पाँचवें गणधर सुधर्मास्वामी को प्राप्त हुआ था। सबसे अधिक आयुष्य भी इन्हीं का था। इन्होंने 50 वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी। तीस वर्ष

तक प्रभु की सेवा की । प्रभु के निर्वाण के बारह वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञान हुआ । आठ वर्ष केवली-पर्याय में रहकर कुल 100 वर्ष के आयुष्य को पूर्णकर मोक्ष गए ।

3. जंबुस्वामी : राजगृही नगरी में ऋषभदेव सेठ की पत्नी धारिणी की कुक्षि से पुत्र के रूप में पैदा हुए । स्वप्न में माता ने जंबुवृक्ष देखा था, अतः नाम रखा गया जंबुकुमार । यौवन वय के प्रांगण में प्रवेश करते ही उनके माता-पिता ने देवांगना जैसी आठ कन्याओं के साथ उनकी सगाई की थी, परंतु सुधर्मास्वामी की एक ही धर्मदेशना सुनने के साथ ही उनका मन वैराग्य रंग से वासित हो गया । माता-पिता की आज्ञा लेने के लिए जब वे नगर की ओर जा रहे थे, तभी नगर के मुख्य द्वार पर लटकती शिला को देखकर...मौत की संभावना जानकर सुधर्मास्वामी के पास लौट आए और प्रभु के पास आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार कर लिया । माता-पिता ने लग्न के लिए अति आग्रह किया तो **'लग्न के दूसरे ही दिन मैं दीक्षा लूंगा'** इस शर्त पर उन्होंने आठ कन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण किया । आठों कन्याओं के पिता ने 11-11 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ भेंट में दीं । जंबुकुमार भी 11 करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के मालिक थे । उस समय प्रभव चोर भी अपने 499 साथियों के साथ जंबुकुमार के वहां चोरी करने के लिए आया था । इधर जंबुकुमार अपनी पत्नियों को संसार की असारता, संसार के क्षणिक सुख की भयंकरता समझा रहे थे । जबकि वे आठों पत्नियाँ उन्हें संसार में फँसाने के लिए प्रयत्नशील थीं ।

युद्ध के मोर्चे में अडिग रहने वाला पुरुष भी, स्त्री के रूप-सौंदर्य के आगे हार खा जाता है । परंतु जंबुकुमार इस मिट्टी के नहीं थे । आठ-आठ कन्याएँ भी उन्हें हरा न सकीं-आखिर जंबुकुमार की जीत हुई, वे आठों कन्याएँ भी जंबुकुमार के मार्ग पर चलने के लिए तैयार हो गईं । प्रातःकाल जब जंबुकुमार व उन आठों

कन्याओं के माता-पिता को पता चला तो वे भी संयम स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए । जंबुकुमार की प्रबल वैराग्य-नि:स्पृहता को देख तथा जंबुकुमार के वैराग्यपोषक उपदेश को सुनकर **प्रभव** चोर का मन भी वैराग्य भाव से रंजित हो गया...उसने भी अपने सभी साथियों के साथ दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया ।

लग्न के दूसरे ही दिन जंबुकुमार ने 527 के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार की । मोह के घर में रहकर मोह को जीतने का प्रबल पुरुषार्थ जंबुकुमार ने किया था । भगवान महावीर के शासन में अंतिम केवली बनने का परम सौभाग्य जंबुकुमार को प्राप्त हुआ था ।

जंबुकुमार 16 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे । बीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे । 44 वर्ष तक केवली पर्याय में रहे । इस प्रकार कुल 80 वर्ष के अपने आयुष्य को पूर्ण कर वे अपने पाट पर प्रभव स्वामी को स्थापित कर मुक्ति को उपलब्ध हुए ।

जंबुस्वामी के निर्वाण के साथ ही इस भरतक्षेत्र से 10 वस्तुओं का उच्छेद हो गया : 1) मन: पर्यव ज्ञान 2) परमावधिज्ञान 3) पुलाक लब्धि (जिस लब्धि से मुनि चक्रवर्ती के सैन्य को भी चूर्ण कर देता है ।) 4) आहारक शरीर लब्धि 5) क्षपकश्रेणी 6) उपशम श्रेणी 7) जिन-कल्प 8) संयमत्रिक (परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात) 9) केवलज्ञान-केवलदर्शन 10) मोक्ष । वीर प्रभु के निर्वाण के 64 वर्ष बाद जंबुस्वामी को मोक्ष हुआ ।

प्रभव स्वामी : `जंबुकुमार के समान अन्य कोतवाल हुआ नहीं और होगा भी नहीं, जिसने चोरी करने के लिए आए चोर को जैनशासन का साधु बना दिया ।'

'प्रभव जैसा चोर हुआ नहीं और होगा नहीं, जिसने अमूल्य ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और

चारित्र रूपी रत्नों की ही चोरी कर ली ।' जंबुस्वामी के पट्टधर बने प्रभव स्वामी गृहस्थ अवस्था में चोर थे । परंतु जंबुस्वामी के उपदेश से उन्होंने जंबुस्वामी के साथ ही दीक्षा ली थी । वे चौदह पूर्वधर महर्षि थे । **'योग्य व्यक्ति को ही योग्य पद मिलना चाहिए ।'** इस भावना से प्रभव स्वामी ने जब देखा कि मेरे शिष्यों में से मेरा पट्टधर बन सके, ऐसा कोई नहीं है तो उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर यज्ञ करा रहे शय्यंभव भट्ट को प्रतिबोध देने का निश्चय किया । उन्होंने अपने दो साधुओं को यज्ञमंडप के पास भेजकर **'अहो कष्टं अहो कष्टं, तत्त्वं तु न ज्ञायते'** यह वाक्य जोर से बोलने को कहा । प्राणांत कष्ट में भी कभी झूठ नहीं बोलनेवाले जैन साधुओं के मुख से जब शय्यंभव भट्ट ने ये शब्द सुने तो उसने यज्ञ क्रिया कर रहे ब्राह्मण को डरा कर कहा, **'मुझे सत्य तत्त्व कहो ।'** तब उस ब्राह्मण ने यज्ञस्तंभ के नीचे रही भगवान शांतिनाथ की प्रतिमा बतलाई ।

शय्यंभव भट्ट तत्त्व की जिज्ञासा से प्रभवस्वामी के पास आया । प्रभव स्वामी ने सच्चा मोक्षमार्ग समझाया । अपनी गर्भवती स्त्री को छोड़कर शय्यंभव भट्ट ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । प्रभव स्वामी ने शय्यंभव सूरिजी को अपने पट्ट पर नियुक्त किया । शय्यंभवसूरिजी भी चौदह पूर्व के ज्ञाता बने ।

शय्यंभवसूरिजी की दीक्षा के बाद उनकी धर्मपत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम मनक रखा गया । 8 वर्ष का यह मनक अपने पिता को घर लाने के लिए उज्जयिनी नगरी में गया । वहाँ उसका अपने पिता मुनि से मिलन हुआ । पिता मुनि ने उसे समझाकर भागवती दीक्षा प्रदान की, फिर अपने ज्ञान बल से उसके सिर्फ छह मास के ही आयुष्य को जानकर पुत्र मुनि के हित के लिए पूर्वों में से उद्धृतकर श्री **'दशवैकालिक'** ग्रंथ की रचना की । मनक मुनि ने उस ग्रंथ को आत्मसात् किया । छह मास के बाद जब

मनकमुनि का कालधर्म हो गया, तब पितृ-स्नेह के कारण शय्यंभवसूरिजी की आँखों में आँसू आ गए । अन्य साधुओं ने जब आँसुओं का कारण पूछा तो आचार्य भगवंत ने कहा, `यह मेरा सांसारिक पुत्र था । उस स्नेह के कारण मेरी आँखों में आँसू आ गए ।'

शिष्यों ने कहा, `भगवंत ! आपने यह बात पहले क्यों नहीं कही ?' आचार्य भगवंत ने कहा, `यह संबंध बतला देते तो तुम लोग उसके पास सेवा नहीं कराते और सेवा के अभाव में उसका कल्याण कैसे होता ?' पूज्य आचार्य भगवंत मनक के लिए रचे **दशवैकालिक ग्रंथ** को विसर्जित करने के लिए तैयार हो गए...परंतु संघ के आग्रह से उन्होंने वह ग्रंथ वैसे ही रहने दिया ।

अन्य आगमों का उच्छेद हो जाने पर भी पाँचवें आरे के अंत तक यह दशवैकालिक ग्रंथ विद्यमान रहेगा ।

आज इस दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन के योगोद्वहन होने के बाद ही साधु-साध्वी की बड़ी दीक्षा होती है । अपने पट्ट पर यशोभद्रसूरिजी म. को स्थापित कर वीर निर्वाण के 98वें वर्ष में शय्यंभवसूरिजी म. कालधर्म को प्राप्तकर स्वर्ग गए ।

संभूतिविजय-भद्रबाहुस्वामी

आर्य यशोभद्रसूरिजी के दो पट्टधर हुए, माढरगोत्रीय स्थविर संभूतिविजय तथा प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु ।

श्री भद्रबाहुस्वामी का विशेष परिचय इस प्रकार है :-

श्री **भद्रबाहु** का जन्म प्रतिष्ठानपुर नगर में ब्राह्मणकुल में हुआ था । अपने बड़े भाई **वराहमिहिर** के

साथ भद्रबाहु ने भी जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की थी । भद्रबाहु की योग्यता देखकर गुरुदेव ने उन्हें आचार्य-पद प्रदान किया । वराहमिहिर को आचार्यपद न मिलने से उसने जैनदीक्षा ही छोड़ दी । **'वराह-संहिता'** नाम के ज्योतिष ग्रंथ की रचना कर लोगों को उनका भूत-भविष्य बतलाकर अपनी आजीविका चलाने लगा ।

वह लोगों में इस बात का प्रचार करने लगा कि एक बार मैंने जंगल में एक शिला पर सिंह लग्न लिखा था, रात्रि में जब मुझे याद आया 'मैंने वह लग्न मिटाया नहीं है', तो मैं रात को ही जंगल में गया । मैंने वहाँ सिंह को बैठे देखा फिर भी निर्भय होकर मैंने उस लग्न को मिटा दिया । इससे खुश होकर सिंहलग्न का अधिपति सूर्य मुझे अपने मंडल में ले गया और वहाँ मुझे सब ग्रह एवं उनकी गति आदि बताई । वराहमिहिर ने एक मंडल बनाकर राजा को कहा, ``इस मंडल के बीच आकाश में बावन पल (वजन) प्रमाण एक मत्स्य गिरेगा ।'' भद्रबाहुस्वामी ने कहा, ``वह मत्स्य 51.5 पल प्रमाण होगा और वह मंडल के बीच में न गिरकर मंडल के किनारे पर गिरेगा ।'' आखिर भद्रबाहुस्वामी की बात सत्य सिद्ध हुई । वराहमिहिर को धक्का लगा, वह मनोमन भद्रबाहु से जलने लगा । एक बार राजा के यहाँ पुत्र पैदा हुआ । वराहमिहिर ने जन्म कुंडली बनाकर कहा, ``यह बालक 100 वर्ष का होगा ।'' उसने राजा के कान फूँके, ``आपको पुत्रजन्म की बधाई देने के लिए सब लोग आए परंतु भद्रबाहु नहीं आए, वे व्यवहार भी नहीं समझते हैं ।''

भद्रबाहुस्वामी ने राजा को कहलवाया, ``यह बालक तो 7 दिन बाद ही बिल्ली से मर जाएगा ।'' बालक को बचाने के लिए राजा ने नगर में से सभी बिल्लियों को बाहर निकलवा दिया । फिर भी सातवें दिन अर्गला गिर जाने से बालक की मृत्यु हो गई । उस अर्गला के एक भाग में बिल्ली की आकृति खुदी हुई थी । भद्रबाहुस्वामी की बात सत्य सिद्ध होने पर चारों ओर उनकी प्रशंसा होने लगी और वराहमिहिर की निंदा ।

क्रोधावेश में वराहमिहिर तापस बन गया । वह मरकर व्यंतर बना । नगर में मारी का उपद्रव चालू किया । रोग से लोग बेमौत मरने लगे । आखिर भद्रबाहु स्वामीजी ने **'उवसग्गहरं स्तोत्र'** की रचनाकर संघ को उपद्रव से मुक्त किया । भद्रबाहुस्वामी ने दश सूत्रों पर **निर्युक्ति** की भी रचना की और पूर्व में से उद्धृतकर इस **कल्पसूत्र** की भी रचना की ।

स्थूलभद्र स्वामी

माढर गोत्रीय आर्य संभूति विजय के शिष्य गौतम गोत्रीय श्री स्थूलभद्रजी हुए । नौवें नंद राजा के शकडाल मंत्री के दो पुत्र थे-स्थूलभद्र और श्रीयक । वररुचि ब्राह्मण ने माया-कपट करके शकडाल मंत्री के प्रति राजा के दिल में द्वेषभाव पैदा करा दिया । राजा का विश्वास जीतने के लिए पिता शकडाल के आग्रह से सेनापति श्रीयक ने राजसभा में ही अपने पिता का मस्तक काट लिया । उसके बाद राजा को वास्तविकता का ख्याल आया, तब राजा को खूब पश्चाताप हुआ । वह श्रीयक को मंत्री पद देने के लिए तैयार हुआ ।

श्रीयक ने कहा, `मेरा बड़ा भाई स्थूलभद्र है, उसे यह पद दीजिए ।' राजा ने कहा, `कहाँ है ?' `कोशा वेश्या के यहाँ !' राजा ने स्थूलभद्र को बुलावा भेजा । 12 वर्षों से जो स्थूलभद्र कोशा वेश्या में आसक्त थे, राजा के आग्रह से राजसभा में उपस्थित हुए । राजा ने स्थूलभद्र को मंत्री-मुद्रा लेने के लिए आग्रह किया । स्थूलभद्र ने कहा, `मैं सोचकर जवाब देता हूँ ।'

विचार करते-करते स्थूलभद्र ने अपने आप ही केशलोच कर लिया और भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

चातुर्मास का समय निकट आया । एक मुनि ने सिंहगुफा के पास, एक मुनि ने साँप के बिल के पास, एक मुनि ने कुए की दीवाल पर खड़े रहकर चातुर्मास करने के लिए आज्ञा माँगी । गुरुदेव ने उन्हें अनुमति दे दी । स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या के यहाँ रहकर चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा माँगी । योग्यता जानकर गुरुदेव ने उन्हें अनुमति दे दी । स्थूलभद्र मुनि कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास हेतु रहे । चारों ओर कामोत्तेजक दृश्य, प्रतिदिन रसप्रद भोजन, कामोत्तेजक नृत्य तथा हाव-भाव आदि अशुभ निमित्तों की प्रबलता होने पर भी स्थूलभद्र महामुनि के रोम में भी विकार भाव उत्पन्न नहीं हुआ । आखिर कोशा वेश्या की हार हुई और उसने श्रावकजीवन के अलंकार स्वरूप बारह व्रतों को स्वीकार किया । कोशा वेश्या ने राजा द्वारा प्रेषित पुरुष के सिवाय अन्य सभी पुरुषों के साथ संबंध का त्याग किया ।

चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब सिंहगुफावासी आदि मुनि आए, तब पूज्य गुरुदेव ने उन्हें **'दुष्करकारक'** कहा, परंतु जब स्थूलभद्र महामुनि आए तब गुरुदेव ने उन्हें **'दुष्कर-दुष्कर-दुष्कर कारक'** कहा । बस, स्थूलभद्र के लिए कहे गए ये मानवाचक शब्द सिंहगुफावासी आदि मुनि सहन नहीं कर पाए । उन्होंने सोचा, `स्थूलभद्र, मंत्री-पुत्र है, इसलिए गुरु ने उन्हें विशेष मान दिया है । हमने जो कष्ट सहन किये हैं उनमें से स्थूलभद्र ने तो कुछ भी कष्ट सहन नहीं किया है ।'

दूसरे चातुर्मास में सिंहगुफावासी मुनि अपनी इच्छा से ही कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास हेतु जाने के लिए तैयार हो गए । गुरुदेव ने उन्हें खूब समझाया, परंतु ईर्ष्यावश वे मानने के लिए तैयार नहीं हुए । आखिर गुरु की अवज्ञा करके भी वे कोशा वेश्या के वहाँ गए । कोशा वेश्या उनके आगमन का कारण समझ गई । चित्रशाला में रहे काम के चित्रित विविध आसन आदि तथा कोशा वेश्या के रूप-रंग और लावण्य को देख

सिंहगुफावासी मन से विचलित हो गए, वे कोशा के पास काम की याचना करने लगे ।

कोशा ने कहा, `बदले में क्या दोगे ?'

मुनि ने कहा, `मेरे पास तो कुछ भी नहीं है ।' वेश्या ने कहा, `नेपाल का राजा साधु-संतों को रत्नकंबल भेंट देता है, आप वहाँ से रत्नकंबल ले आएँ ।'

वेश्या की बात सुनकर सिंहगुफावासी मुनि चातुर्मास में ही संयम जीवन की मर्यादा तोड़कर नेपाल पहुँच गए । नेपाल से रत्नकंबल लाकर कोशा वेश्या को दिया । वेश्या ने अपना शरीर पोंछकर उस रत्नकंबल को गटर में फेंक दिया । कारण पूछने पर वेश्या ने कटाक्ष में कहा, ``आपको इस रत्नकंबल की कीमत है, परंतु गटर तुल्य मेरे देह को पाने के लिए गुरु द्वारा दिये गये तीन अमूल्य रत्नों को फेंकते हुए आप को शर्म नहीं आयी ?'' बस, वेश्या के इन शब्दों को सुनकर सिंहगुफावासी मुनि तत्क्षण जागृत हो गए । उन्हें अपनी भूल समझ में आ गयी । गुरु के पास जाकर उन्होंने अपने पाप की आलोचना ली ।

एक बार राजा ने एक रथिक को कोशा वेश्या के पास भेजा । कोशा को खुश करने के लिए रथिक ने अपनी बाणकला का प्रदर्शन किया । बाणों की श्रेणी फेंककर अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उसने आम्र फल को तोड़ दिया । उसकी इस कला को देख कोशा वेश्या ने भी सरसों के ढेर पर सुई और उस पर फूल रखकर अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन किया । कोशा ने कहा, ``आम्रवृक्ष पर से फल तोड़ना या सरसों पर नाचना दुष्कर नहीं है, परंतु स्त्री-वन के बीच रहने पर भी जो कार्य स्थूलभद्र ने किया है, वह दुर्लभ है ।''

``जंगल में रहकर मोह को जीतनेवाले हजारों हैं परंतु चित्रशाला और वेश्या के सहवास में रहकर मोह को जीतनेवाले तो स्थूलभद्र जैसे एक ही हैं । वेश्या रागवाली थी...अपने अधीन थी, रोज षट्रस भोजन

होता था । मनोहर चित्रशाला, रूपवान शरीर, यौवनवय, वर्षाऋतु आदि काम के प्रबल निमित्त होने पर भी जिन्होंने काम को जीत लिया...युवती कोशा को प्रतिबोध करने में कुशल ऐसे स्थूलभद्र को मैं भावपूर्वक वंदन करता हूँ ।''

◆ एक बार बारह वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा । भिक्षा आदि दुर्लभ होने से सभी साधु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगे । पठन-पाठन का योग न होने से श्रुत विस्मृत होने लगा । श्रमण संघ एकत्र हुआ और अंत में चौदहपूर्वधर महर्षि भद्रबाहु स्वामीजी के पास स्थूलभद्र आदि 500 मुनियों को भेजा गया ।

भद्रबाहुस्वामी रोज सात वाचना देने लगे । अन्य साधु तो उद्विग्न हो चले गये । एक मात्र स्थूलभद्र ही टिके और उन्होंने लगभग 10 पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया ।

◆ एक बार स्थूलभद्र महामुनि उद्यान में बैठकर स्वाध्याय कर रहे थे । स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों बहिनों ने भागवती दीक्षा अंगीकार की थी । वे स्थूलभद्र को वंदन करने के लिए उद्यान में आयीं, उस समय अपनी ज्ञानशक्ति का परिचय बताने के लिए उन्होंने सिंह का रूप कर लिया । स्थूलभद्र के स्थान पर सिंह को देखकर वे साध्वीजी एकदम घबरा गयी, वे भद्रबाहुस्वामीजी के पास आकर बोलीं, ``उद्यान में भाई मुनि तो नहीं है ।''

भद्रबाहुस्वामीजी ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया । वास्तविक परिस्थिति जानकर उन साध्वीजी को वापस उद्यान में भेजा । साध्वीजी उद्यान में आयीं । वहाँ उन्होंने स्थूलभद्र महामुनि को देखा । वंदन किया ।

आगे का पाठ लेने के लिए जब स्थूलभद्र महामुनि अपने गुरु भद्रबाहु स्वामीजी के पास आए, तब भद्रबाहुस्वामीजी ने आगे का पाठ देने से इन्कार कर दिया । संघ ने जब खूब आग्रह किया, तब आगे के शेष

पूर्व, सिर्फ सूत्र से दिये, परंतु अर्थ से नहीं। कंदर्प को जीतनेवाले स्थूलभद्रजी मान कषाय के आगे हार गये।

◆ स्थूलभद्रजी के छोटे भाई श्रीयक ने भी दीक्षा अंगीकार की थी। एक बार यक्षा साध्वीजी की प्रेरणा से संवत्सरी के शुभदिन उपवास तप किया। तप की शक्ति न होने के कारण रात्रि में ही उनका कालधर्म हो गया। यक्षा साध्वीजी को खूब पश्चाताप हुआ। संघ के कायोत्सर्ग से प्रगट हुई शासनदेवी उन्हें महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामीजी के पास ले गयी। सीमंधर स्वामी ने साध्वीजी को निर्दोष कहा। सीमंधर स्वामी ने यक्षा साध्वी को चार चूलिकाएँ प्रदान कीं, उनमें से दो चूलिकाएँ दशवैकालिक व दो आचारांग सूत्र के साथ जुड़ी हुईं आज भी विद्यमान हैं। भगवान महावीर के शासन में जंबुस्वामी अंतिम केवली हुए और प्रभवस्वामी, शय्यंभवसूरि, संभूतिविजय, भद्रबाहुस्वामी और स्थूलभद्र महामुनि ये छह श्रुतकेवली चौदह पूर्वधर हुए।

श्री महागिरि-श्रीसुहस्ति सूरि

गौतम गोत्रीय श्री स्थूलभद्रजी के दो पट्टधर हुए। (1) एलापत्य गोत्रीय श्री आर्य महागिरि और (2) वासिट्ठगोत्रीय श्री आर्य सुहस्ति सूरिजी।

श्री जिनकल्प का विच्छेद हुआ होने पर भी आर्य महागिरि ने कर्म की निर्जरा के लिए श्री जिनकल्प का अभ्यास किया था।

◆ एक सेठ के घर पर आर्य सुहस्तिसूरि ने श्री आर्य महागिरि की प्रशंसा की। एक बार बारह वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा। आर्य सुहस्तिसूरिजी म. विहार करते हुए कौशांबी पधारे। वहाँ तीन दिन से भूखा एक भिखारी घर-घर घूमकर भीख माँग रहा था, परंतु कहीं से भी उसे भोजन नहीं मिल रहा था। जबकि उसी नगर में लोग जैन साधुओं को आग्रह करके भिक्षा में उत्तम पदार्थ दे रहे थे। यह दृश्य देख उस भिखारी

ने उन साधुओं के पास भीख माँगी । उन साधुओं ने कहा, ``इस भिक्षा पर हमारे गुरुदेव का अधिकार है ।''

वह भिखारी साधुओं के पीछे-पीछे चलकर आर्य सुहस्तिसूरिजी के पास आया । उसने आचार्य भगवंत से भिक्षा माँगी । अपने श्रुतज्ञान के बल से शुभ भावी को देख **आचार्य भगवंत ने कहा, ``यदि तू दीक्षा लेता हो तो तुझे भोजन दे सकते हैं ।''**

उस भिखारी ने 'हाँ' कही । आचार्य भगवंत ने उसे दीक्षा प्रदान की । अतिभोजन करने से रात्रि में उसे अजीर्ण हो गया । सभी साधु व सेठ लोग भी नूतन मुनि की भक्ति करने लगे । अंतिम समय में साधुधर्म के प्रति खूब आदर-बहुमान भाव पैदा होने से वे मुनि मरकर कुणाल के पुत्र के रूप में पैदा हुए ।

मगध की गादी पर श्रेणिक के पुत्र कोणिक, कोणिक के पुत्र उदायी पैदा हुए । उदायी की गद्दी पर नंद वंश के नौ नंद आए । उनकी गद्दी पर चंद्रगुप्त, उसकी गद्दी पर बिंदुसार, उसकी गद्दी पर अशोकश्री और उसकी गद्दी पर कुणाल था । उस कुणाल के पुत्र के रूप में संप्रति पैदा हुए, जिसे जन्म के साथ ही राज्य की प्राप्ति हो गई थी ।

◆ आर्य सुस्थितसूरिजी एक बार विहार कर उज्जयिनी में पधारे । पूज्य आचार्य भगवंत को देख झरोखे में बैठे संप्रति को जातिस्मरण ज्ञान पैदा हुआ । वह अपने उपकारी गुरुदेव के चरणों में अपना राज्य भी अर्पित करने के लिए तैयार हो गया । आखिर पूज्य गुरुदेव के उपदेशानुसार उसने अपने जीवन में नवीन सवा लाख जिनमंदिर, सवा करोड़ नवीन जिन प्रतिमाएँ, छत्तीस हजार प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार, धातु की 95000 प्रतिमाएँ भरवाईं तथा हजारों दानशालाएँ खोलकर कृत्रिम साधु बनाकर अनार्य देश में भेजकर, अनार्य प्रजा को भी साधु के आचार सिखाए । उस भूमि को भी साधु के विहार योग्य बनाया । अनेक राजाओं

को जैनधर्मी बनाया ।

आर्य सुहस्तिसूरिजी म. के वाघ्रापत्य गोत्रीय **सुस्थित** और **सुप्रतिबद्ध** नाम के दो पट्टधर हुए । वे सूरिमंत्र का एक करोड़ जाप करने के कारण कोटि तथा काकंदी में जन्म होने से काकंदी के रूप में प्रख्यात हुए ।

उन दोनों के पट्टधर कौशिकगोत्रीय आर्य श्री **इन्द्रदिन्न** हुए । उनके पाट पर गौतम गोत्रवाले **आर्यदिन्न** हुए । उनके पाट पर जातिस्मरण ज्ञानवाले कौशिकगोत्रीय आर्य **सिंहगिरिजी** हुए । सिंहगिरिजी के पाट पर आर्य **वज्र** हुए । उनके पाट पर उत्कौशिक गोत्रीय आर्य **वज्रसेन** हुए ।

आर्य वज्रसेन के आर्य नागिल, आर्य पौमिल, आर्य जयंत और आर्य तापस ये चार पट्टधर हुए । उनके प्रत्येक के नाम से अलग-अलग शाखा चालू हुई ।

एक आचार्य के भिन्न-भिन्न शिष्यों की शिष्य-प्रशिष्य आदि परंपरा शाखा कहलाती है । आचार्य के सभी शिष्यों का एक कुल कहलाता है । ऐसे अनेक कुलों का समुदाय गण कहलाता है । एक गण में एक समान वाचना व आचार होते हैं ।

विस्तृत वाचना : आर्य शय्यंभवसूरिजी के पट्टधर आर्य यशोभद्रसूरिजी तथा उनके दो पट्टधर हुए : आर्य भद्रबाहु और आर्य संभूतिविजय ।

श्री भद्रबाहु स्वामीजी के चार शिष्य हुए : स्थविर गोदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर यज्ञदत्त और स्थविर सोमदत्त । ये चारों काश्यपगोत्रीय थे ।

काश्यपगोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास नाम का गण निकला । उसकी चार शाखाएँ थीं (1) ताम्र-

लिप्ति 2) कोटि वार्षिका 3) पुण्ड्रवर्धनिका और (4) दासी खर्बटिका ।

आर्य संभूति विजय के (1) नंदनभद्र (2) उपनंदनभद्र (3) तिष्यभद्र (4) यशोभद्र (5) सुमनोभद्र (6) मणिभद्र (7) पूर्णभद्र (8) स्थूलभद्र (9) ऋजुमति (10) जंबू (11) दीर्घभद्र शिष्य हुए तथा (1) यक्षा (2) यक्षदिन्ना (3) भूता (4) भूतदिन्ना (5) सेना (6) वेणा और (7) रेणा ये स्थूलभद्र की सात बहिनें उनकी शिष्याएँ हुईं ।

श्री स्थूलभद्रजी के पट्टधर (1) श्री महागिरिजी तथा (2) श्री सुहस्तिसूरिजी हुए ।

आर्य महागिरिजी के (1) स्थविर उत्तम (2) स्थविर बलिस्सह (3) स्थविर धनाढ्य (4) स्थविर श्री भद्र (5) स्थविरकौडिन्य (6) स्थविर नाग (7) स्थविर नागमित्र और (8) स्थविर रोहगुप्त ये आठ शिष्य हुए ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों की प्ररूपणा करने से षड् तथा उलूक गोत्र होने से षडुलक कहलाए । उलूक और कौशिक शब्द समानार्थक होने से कौशिक गोत्री भी कहलाए ।

स्थविर रोहगुप्त ने जीव, अजीव और नोजीव इस त्रिराशि की प्ररूपणा की । इस कारण उनके शिष्य-प्रशिष्यों की त्रैराशिकी शाखा निकली ।

◆ श्री वीर निर्वाण के 544 वर्ष बीतने पर एक बार रोहगुप्त किसी गाँव से अन्तरंजिकापुरी में किसी व्यंतर के चैत्य में अपने गुरु को वंदन के लिए जा रहे थे । बीच मार्ग में पोट्टाल परिव्राजक ने वाद के लिए पटह बजवाया था । गुरु की आज्ञा बिना ही रोहगुप्त ने वह पटह स्वीकार लिया । गुरु के पास आकर जब वाद की बात की, तब गुरुदेव ने कहा, ``यह वाद अनुचित है ।'' प्रतिवादी परिव्राजक के पास बिच्छु, साँप, चूहा, मृग, सूअर, कौआ और शकुनिका रचने की शक्ति थी, उसके प्रतिकार के लिए गुरुदेव ने रोहगुप्त को

मोर, नेवला, बिलाड़ा, बाघ, सिंह, उल्लू तथा श्येन बनाने की विद्या प्रदान कर दी । इसके साथ ही सभी उपद्रवों को दूर करने के लिए अभिमंत्रित रजोहरण भी दे दिया ।

रोहगुप्त ने बलश्री राजा की सभा में प्रवेश किया । वहाँ परिव्राजक के साथ वाद प्रारंभ हुआ । रोहगुप्त ने अभिमान से कहा, ``परिव्राजक जो मत स्थापित करेगा, उसका मैं खंडन करूंगा ।'' परिव्राजक ने जैन मत ही स्थापित कर दिया, जगत् में दो राशि हैं-जीव और अजीव । रोहगुप्त अपने मिथ्याभिमान में फँस गए । परिव्राजक के मत का खंडन करे तो जैन मत का ही खंडन हो जाता है और खंडन न करे तो स्वयं की प्रतिज्ञा का भंग होता है ।

रोहगुप्त ने त्रिराशि की स्थापना की । जीव, अजीव और नोजीव । नोजीव अर्थात् गिलहरी की पूंछ । गुस्से में आए परिव्राजक ने बिच्छु आदि विद्याओं का प्रयोग किया, उसके प्रतिकार के लिए रोहगुप्त ने गुरु द्वारा प्रदत्त विद्याओं का प्रयोग किया । अंत में परिव्राजक ने सभी विद्याओं का प्रयोग किया, तब मंत्रित रजोहरण से विजय प्राप्त कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आया और गुरु को सब बातें कहीं । गुरु ने कहा, ``तुमने सब अच्छा किया, परंतु जीव, अजीव और नोजीव इन तीन राशियों की उत्सूत्र प्ररूपणा की है, अतः तुम वहाँ जाकर **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** दे आओ ।

मिथ्यात्व के अभिमान के कारण रोहगुप्त ने इस बात से इन्कार कर दिया । आखिर गुरु ने उसके साथ छह मास तक वाद किया । अंत में गुरु ने उसे कुत्रिकापणा (जहाँ सब वस्तुएँ मिलती हैं) से नोजीव लाने को कहा ।

नोजीव की प्राप्ति नहीं होने से रोहगुप्त झूठा साबित हुआ । गुरु ने 144 प्रश्न कर रोहगुप्त को निरुत्तर

किया। फिर भी आग्रह नहीं छोड़ने पर गुरु ने उसे संघ से बाहर कर दिया, वह छठा निह्नव हुआ और उसी से वैशेषिक दर्शन प्रगट हुआ।

स्थविर उत्तर और स्थविर बलिस्सह से उत्तर बलिस्सह नाम का गण और उससे (1) कौशाम्बिका (2) सुप्तवर्तिका (3) कौटुम्बायनी और (4) चंद्र नगरी शाखा निकली थी।

आर्य सुहस्ति सूरि के आर्य (1) रोहण (2) भद्रयक्षा (3) मेघगणी (4) कामार्द्रि (5) सुस्थित (6) सुप्रतिबद्ध (7) रक्षित (8) रोहगुप्त (9) ऋषिगुप्त (10) श्रीगुप्त (11) ब्रह्मगणी और (12) सोमगणी ये बारह मुख्य शिष्य हुए। अवंतिसुकुमाल मुनि को भी आर्य सुहस्तिसूरिजी ने ही दीक्षा दी थी। उनके पहले शिष्य आर्यरोहण से उद्वेह गण निकला। उसमें से (1) उदम्बरार्जिका (2) मास पूरिका (3) मतिप्राप्तिका (4) पूर्णप्राप्तिका ये चार शाखाएँ निकलीं। उसमें से (1) नागभूत (2) सोम (3) आर्द्रगच्छ (4) हस्तलेप्य (5) नंदिक और (6) पारिहासिक ये छह कुल निकले।

दूसरे शिष्य भारद्वाजगोत्रीय भद्रयशा से उडुपालित गण निकला। उसमें से (1) चंपार्जिका (2) भद्रार्जिका (3) काकंदिका और (4) मेखलार्जिका नाम की चार शाखाएँ और (1) भद्रयशस्क, (2) भद्रगुप्त और (3) यशोभद्रक ये तीन कुल निकले।

कोड़ालस गोत्रवाले आर्य कामार्द्रि से वेशपालित गण निकला। उसकी श्रावस्तिका, राज्यपालिता, अन्तरार्जिका और क्षेमलार्जिका ये चार शाखाएँ तथा गणिक, मेखलिक, कामर्द्रिक और इन्द्रपूरक ये चार कुल निकले। नौवें शिष्य ऋषिगुप्त से मानव गण निकला। उसमें से काश्यपार्जिका, गौतममार्जिका, वाशिष्ठिका और सौराष्ट्रिका ये चार शाखाएँ तथा ऋषिगुप्तिक, ऋषिदत्तिक और अभिजयंत ये तीन कुल निकले।

दसवें शिष्य हरिताय गोत्रवाले श्रीगुप्त से चारण गण निकला उसकी (1) हारित मालाकारी (2) सांकाश्यिका (3) गवेधुका और (4) विद्यानगरी ये चार शाखाएँ निकलीं तथा (1) वस्त्रलेप्य (2) प्रीतिधार्मिक (3) हारित्य (4) पौष्पमित्रेय (5) मालिद्य (6) आर्यवेटक और (7) कृष्णसख ये सात कुल निकले ।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति के दो पट्टधर शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध से कोटिक गण निकला । उससे (1) उच्चनागरी (2) विद्याधरी (3) वज्र और माध्यमिका ये चार शाखाएँ निकलीं तथा (1) ब्रह्मलिप्य (2) वस्त्र लिप्य (3) वाणिज्य और (4) प्रश्नवाहक ये चार कुल निकले ।

आर्य सुस्थित-सुप्रतिबद्ध से (1) स्थविर इन्द्रदिन्न, (2) स्थविर प्रियग्रंथ, (3) स्थविर विद्याधर गोपाल, (4) स्थविर ऋषिदत्त और (5) स्थविर अर्हद्दत्त ये पाँच शिष्य हुए ।

◆ एक बार आर्य स्थविर प्रियग्रंथसूरि अजमेर के पास हर्षपुर नगर में पधारे । वहाँ के राजा का नाम सुभटपाल था । एक दिन ब्राह्मणों ने एक बकरे का होम करना प्रारंभ किया । **प्रियग्रंथसूरि ने एक श्रावक द्वारा बकरे पर वासक्षेप डलवाकर इसे अंबिका अधिष्ठित कर दिया । वह बकरा आकाश में जाकर बोलने लगा, ''अरे ब्राह्मणो ! यदि मैं तुम्हारी तरह निर्दय हो जाऊँ तो क्षणभर में ही तुम सबको मार डालूँ । परंतु मैं तुम्हारी तरह निर्दय नहीं होता हूँ, तुम प्रियग्रंथसूरिजी के पास जाकर सत्य धर्म समझो ।'' वे ब्राह्मण पूज्य आचार्य भगवंत के पास आए । आचार्य भगवंत ने उन्हें धर्मबोध देकर जैन शासन की अद्‌भुत प्रभावना की ।**

स्थविर प्रियग्रंथसूरि से मध्यमा शाखा और स्थविर विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा निकली । आर्य इन्द्रदिन्न के पाट पर आर्यदिन्न हुए । उनके दो शिष्य आर्य शांतिश्रेणिक और जातिस्मरण ज्ञानवाले

आर्यसिंहगिरि हुए । आर्य शांति श्रेणिक से उच्च नागरी शाखा निकली । उनके आर्य श्रेणिक, आर्य तापस, आर्य कुबेर व ऋषिपालित ये चार शिष्य हुए । उनमें से प्रत्येक के नाम अनुसार श्रेणिक, तापसी, कौबेरी व ऋषिपालिका शाखा निकली । दूसरे शिष्य आर्य सिंहगिरि के (1) स्थविर आर्य समित, (2) धनगिरि (3) वज्रस्वामी और (4) अर्हद्दत्त ये चार शिष्य हुए ।

वज्रस्वामी

तुंबवन गाँव के निवासी धनगिरि ने अपनी गर्भवती स्त्री सुनंदा को छोड़कर दीक्षा अंगीकार कर ली । बाद में सुनंदा ने एक पुत्र को जन्म दिया । पुत्र के जन्म के बाद अपने पिता की दीक्षा की बात सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने भी दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया । माता के मोह को दूर करने के लिए वह बालक निरंतर रोने लगा । आखिर माँ भी ऊब गई । आर्य धनगिरि अपने गुरुदेव के साथ तुंबवन पधारे । गुर्वाज्ञा प्राप्तकर धनगिरि मुनि अपने सांसारिक घर में गोचरी के लिए पधारे । क्रंदन से कंटाल गई माता ने धनगिरि मुनि को अपना पुत्र ही बहोरा दिया । अति भारी वजन के कारण गुरुदेव ने कहा, ``क्या वज्र उठाकर लाए हो ?'' बालक का नाम पड़ गया-वज्र । गुरुदेव ने वह बालक साध्वीजी के उपाश्रय में रखा । श्राविकाएँ आकर बालक का पालन-पोषण करने लगीं । पालने में झूलते झूलते साध्वीजी म. के मुख से सुन-सुनकर वज्रकुमार ने आचारांग आदि ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया ।

सुनंदा ने जब अपने बालक को शांत देखा तो वह उसे ले जाने का प्रयत्न करने लगी । गुरु भगवंत वापस आए तब झगड़ा बढ़ गया । वह केस Case राजा के पास गया । राजा ने बालक को बीच में तथा एक ओर माता और दूसरी ओर पिता को रखा । माता ने बालक को खाने-पीने व खिलौने का लालच दिया, फिर

भी बालक उस ओर नहीं गया, जबकि पिता मुनि ने मात्र रजोहरण दिखाया और बाल वज्र उस रजोहरण को लेकर नाचने लगा। आखिर वज्र ने दीक्षा ली। पुत्र की दीक्षा जानकर माता ने भी दीक्षा ले ली। पूर्व भव के तिर्यक्जृंभक मित्रदेव ने वज्रमुनि की परीक्षा ली, परंतु वज्रमुनि ने देवपिंड जानकर वह भिक्षा ग्रहण नहीं की ! देव ने खुश होकर उन्हें वैक्रिय लब्धि प्रदान की।

दूसरी बार घेवर देने पर भी वज्रमुनि ने इन्कार कर दिया। देव ने वज्रमुनि को आकाशगामिनी विद्या दी।

◆ एक बार धन सेठ की पुत्री रुक्मिणी ने वज्रमुनि के साथ विवाह करने का निश्चय किया। धनसेठ 1 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ देने के लिए तैयार था। परंतु वज्रमुनि ने उस कन्या को प्रतिबोध देकर उसे ही साध्वी बना लिया।

◆ एक बार दुष्काल के समय में संघ को पट्ट पर बिठाकर, अपनी विद्या शक्ति से सुकाल वाले क्षेत्र में ले गए। पर्युषण आने पर उस नगर के बौद्ध राजा ने जैन मंदिर हेतु फूल देने से इन्कार कर दिया। वज्रस्वामी आकाशगामिनी विद्या के बल से पद्मसरोवर में रही श्रीदेवी के पास गए। वहाँ से महापद्म तथा हुताशन वन से 20 लाख फूल लेकर आए और उन फूलों से श्रावकों के पास प्रभुभक्ति कराई। राजा को भी प्रतिबोध दिया। वह भी जैन बना। आर्य वज्रस्वामी ने श्री भद्रगुप्तसूरिजी के पास 10 पूर्व का अभ्यास किया। आर्यरक्षितसूरिजी ने वज्रस्वामीजी के पास 9.5 पूर्व का अभ्यास किया था।

◆ एक बार कफ मिटाने के लिए कान पर रखा सूंठ का टुकड़ा, प्रतिक्रमण के समय नीचे गिरा, तब उन्हें अपने प्रमाद का ख्याल आया। अपने अल्प आयुष्य को जानकर अपने पट्टधर वज्रसेनसूरि को कहा, ``अब भविष्य में 12 वर्ष का अकाल पड़ेगा, जिस दिन तुम्हें लाख मूल्य वाले चावल गोचरी में मिलें तो उसके

दूसरे दिन से सुकाल समझना ।'' इसके बाद उन्होंने स्थावर्त गिरि पर जाकर अनशन व्रत स्वीकार कर लिया । वे काल कर देवलोक में गए । वज्रस्वामी अंतिम 10 पूर्वधर हुए । उनके कालधर्म बाद मध्य के चार संघयणों का भी उच्छेद हो गया ।

12 वर्ष के बाद सोपारक गाँव में जिनदत्त श्रावक व ईश्वरी श्राविका के घर 1 लाख मूल्यवाले चावल पकाने के बाद, जीवन की कठिनाइयों को जानकर वे चावल में विष डालने की तैयारी करने लगे, फिर गुरु के वचन को याद कर उन्हें रोका । वज्रसेनसूरिजी ने लाख मूल्यवाले चावल बहोरे । उसके दूसरे दिन से ही सुकाल चालू हो गया ।

जिनदत्त ने पत्नी तथा चार पुत्र (1) नागेन्द्र (2) चंद्र (3) निवृत्ति तथा (4) विद्याधर के साथ दीक्षा ले ली । उन चार पुत्रों के नाम से एक-एक शाखा निकली ।

आर्य समितसूरिजी

आभीर देश में अचलपुर के पास कन्ना व बेन्ना नाम की दो नदियों के बीच ब्रह्मद्वीप में 500 तापस रहते थे । उनमें से एक तापस अपने पाँव में लेप लगाकर नदी में भूमि की तरह चलता था । लोगों में बात फैलने लगी, `अहो ! इसके तप का कितना प्रभाव है ? जैनों में ऐसा कोई प्रभावशाली नहीं है ।'

श्रावकों ने आर्य समितसूरिजी को निवेदन किया । उन्होंने कहा, `यह तप का नहीं, बल्कि पादलेप का प्रभाव है ।'

एक श्रावक ने तापस को अपने घर भोजन का आमंत्रण देकर तापस के पाँव को धोने के बहाने सारा लेप साफ कर दिया । फिर वह तापस नदी पार करते नदी में डूबने लगा । तापस की सर्वत्र निंदा हुई । लोगों के

प्रतिबोध के लिए आर्य समितसूरिजी ने नदी में योगचूर्ण डालकर कहा, `मुझे उस पार जाना है, मुझे रास्ता दो ।'

बस, नदी दो भागों में बँट गई । बीच में मार्ग हो गया । यह देख जैनधर्म की प्रभावना हुई । आचार्य म. ने जाकर तापसों को प्रतिबोध दिया । वे सब तापस दीक्षित बने । उनसे ब्रह्मदीपिका शाखा निकली ।

अंतिम चौदह पूर्व स्थूलभद्र के बाद आर्य महागिरि, आर्य सुहस्तिसूरि, आर्य गुणसुंदरसूरि, श्री श्यामार्य, श्री स्कंदिलाचार्य, श्री धर्मसूरि, श्री रेवतीमित्रसूरि, श्री भद्रगुप्तसूरि, श्री गुप्तसूरि और श्री वज्रसूरि ये दशपूर्वधर युगप्रधान हुए हैं ।

आर्य वज्रस्वामी के आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ ये तीन पट्टधर हुए । आर्य वज्रसेन से आर्य नागिला, आर्य पद्म से आर्य पद्मा व आर्यरथ से आर्य जयंती शाखा निकली । आर्यरथ की पाट पर आर्य पुष्य गिरि, उनकी पाट पर आर्य फल्गुमित्र, उनकी पाट पर आर्य धनगिरि, उनकी पाट पर शिवभूति, उनकी पाट पर शिवभद्र उनकी पाट पर आर्य नक्षत्र, उनकी पाट पर आर्य रक्ष, उनकी पाट पर आर्यनाग, उनकी पाट पर आर्य जेहिल, उनकी पाट पर आर्य विष्णु, उनकी पाट पर आर्य कालक, उनकी पाट पर आर्य संपलित व आर्य भद्र हुए । उन दोनों की पाट पर आर्य वृद्ध, उनकी पाट पर संघपालित, उनकी पाट पर आर्य हस्ति, उनकी पाट पर आर्यधर्म, उनकी पाट पर आर्यसिंह, उनकी पाट पर आर्य धर्म तथा उनकी पाट पर आर्यशांडिल्य हुए ।

इस प्रकार 34 पाट की परंपरा है ।

1) गौतम गोत्रीय आर्य फल्गुमित्र, वाशिष्ट गोत्रीय आर्य धनगिरि, कुत्सगोत्रीय आर्य शिवभूति व कौशिक गोत्रीय आर्य **दुर्यन्तकृष्ण** को वंदन करता हूँ ।

2) काश्यप गोत्रीय भद्र, नक्षत्र व आर्यरक्ष को वंदन करता हूँ।
3) आर्य नाग, आर्य जेहिल, आर्य विष्णु, आर्य कालक को वंदन करता हूँ।
4) गौतमगोत्रीय कुमार, आर्य संपलित, स्थविर आर्य श्री वृद्ध को नमन करता हूँ।
5) स्थिर सत्त्ववाले चारित्र-ज्ञान से युक्त आर्य संघपालित को वंदन करता हूँ।
6) क्षमासागर, धीर आर्य हस्ती को वंदन करता हूँ।
7) जिनकी दीक्षा समय देव ने छत्र धारण किया, ऐसे लब्धिधारी आर्यधर्म को वंदन करता हूँ।
8) आर्यहस्ती, आर्यसिंह आर्य धर्म को वंदन करता हूँ।
9) स्थिर सत्त्ववाले चारित्र व ज्ञान संपन्न, आर्य जंबु को वंदन करता हूँ।
10) मृदु-मार्दव, ज्ञान, दर्शन चारित्र में उपयोग वाले आर्य नंदित को वंदन करता हूँ।
11) उत्तम सम्यक्त्व व सत्त्व वाले देशिगणि क्षमाश्रमण को वंदन करता हूँ।
12) अनुयोगधर स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण को वंदन करता हूँ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र व तप में सुस्थित कुमार धर्म गणि को वंदन करता हूँ।
क्षमादि से युक्त देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को वंदन करता हूँ।

देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण

देवर्द्धिगणि पूर्व भव में सौधर्म इन्द्र के सेनापति हरिणैगमेषी देव थे। प्रभु से उन्हें पता चला कि वे दुर्लभबोधि हैं। इन्द्र की सूचना से उस देव ने अपने पीछे पैदा होने वाले देव को प्रतिबोध करने के लिए विनंति लिखी। वह देव च्यवकर राजकुमार के रूप में पैदा हुआ। वह अत्यंत ही नास्तिक था और शिकार का शौकीन था। उसे प्रतिबोध करने के लिए नवीन उत्पन्न हुए देव ने बहुत प्रयत्न किये। आखिर प्रतिबोध पाकर उसने

दीक्षा अंगीकार की । उस काल के समस्त श्रुत के धारक बने । काल के प्रभाव से घटती हुई मेधा आदि के कारण श्रुत के समुद्धार के लिए वल्लभीपुर नगर में 500 आचार्य इकट्ठे हुए । अब तक जो मौखिक साहित्य था, उसे लेखनीबद्ध करने का कार्य प्रारंभ हुआ । मत-मतांतरों को भी लिखा गया और सभी साहित्य को पुस्तकारूढ़ किया गया । श्रुत के समुद्धारक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को कोटि-कोटि वंदन ! उन स्थविरों के गुणों के पार को पाना कठिन है । निर्मल केवलज्ञानी ही उन गुणों को जान सकते हैं । अथवा श्री ज्ञान विमल नाम के गुरु, जिन्होंने इन ढालों की रचना की है, वे ही उन स्थविरों के गुणों का पार पा सकते हैं ।

(ढाल में आठवें व्याख्यान में आदिनाथ चरित्र लिया है, फिर भी सुबोधिका टीका के क्रम के अनुसार सातवें व्याख्यान में आदिनाथ चरित्र और आठवें व्याख्यान में स्थविरावली ली है ।

आठवाँ व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

अनुवाद प्रशस्ति

जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव ***श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा*** *के शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर* ***श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य*** *के अंतिम शिष्यरत्न प्रभावक प्रवचनकार पंन्यास* ***श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य*** *ने* ***(वर्तमान में पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.)*** *वि.सं. 2061 कार्तिक वदी अष्टमी के शुभ दिन दीपक ज्योति टॉवर, मुंबई में चातुर्मास हेतु रहते हुए श्रीमद् ज्ञानविमलसूरि कृत रास के आधार पर यह हिंदी अनुवाद पूर्ण किया ।*

आठवाँ व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

व्याख्यान 9

यह व्याख्यान श्री संवत्सरी महापर्वके दिन प्रातः सविशेष धूप, दीप आदि सामग्रीपूर्वक महोत्सव पूर्वक सुनना चाहिए, मूल बारसां सूत्र के श्रवण जितना बहुमान करना चाहिए। मधुर स्वर से इसका गान करना चाहिए।

।। नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ।।

एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया । नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

नमः श्रीवर्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे । सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा ।।

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरमसयलसुयाणिं । सुत्तत्थकारगमिसिं, दसाण कप्पे अ ववहारे ।।

पीठिका की ढाल पहली.

(राग : प्रथम एक पीठिका)

पुण्यनी पोषणा, पर्व पर्युषणा, आवियां इणि परे जाणीए ए ।
हियड़ले हर्ष धरी, छट्ठ अट्ठम करी, ओच्छवे कल्प घेर आणीए ए ।।1।।

गुरु करे वाचना, सुणे सहु भविजना, कर्मनिकाचना पाचना ए ।
प्रथम जिनशासने, ऋजु-जड़ प्राणिया, वीरना वक्र-जड़ बहुजना ए ।।2।।

त्रुटक

शुभमना सरळ ने दक्ष प्राणी, मध्यजिनना जाणीये, तेह भणी बिहुंपरे नियत अनियत, कल्प चउ खट आणीये।
कल्प दशविध कह्यो मुनिनो, धर्मपूरव मानथी, भद्रबाहुस्वामिभाषित सूत्र सुणो बहुमानथी ।।3।।

ढाल

कल्पधर्म महातम, तृतीय रसायण परे, बहुगुण होय एहने सुणतां ए ।
नागकेतु परे, नाण लही ऊजलुं, पामीए शिवपद शाश्वतां ए ।।4।।
इणि परे पीठिका कही कल्प मांड़ीए, पंचकल्याणक वीरनां ए ।
दशम देवलोकथी, आवीय ऊपना, त्रण नाणी जम्बूना भरतमां ए ।।5।।

त्रुटक

तुरत माहणकुण्ड़ग्रामे, ऋषभदत्तद्विजनार ए, देवानंदा मध्य रयणी पेखे, सुपन दश ने चार ए ।
उत्तराफाल्गुनी चंद्रयोगे, शुक्ल छट्ठ शुचिमासनी, सुपन वीतक कंत आगळ, कहे आवी आसनी ।।6।।

ढाल

कहे तिहां ऋषभदत्त, आपणे घर होशे, सुत सवि शास्त्रनो पारगामी ।
लक्षण व्यञ्जन मान उनमानशुं, सुजश सौभाग्य गुण सयलधामी ।।7।।
वेदना भेद सवी जूजूआ दाखशे, गणित प्रमुखे जस नहि अ खामी ।
ते सुणी तहत्ति कही, गई य निज थानके, देवानंदा तस शीष नामी ।।8।।
इणसमे अवधिज्ञाने करी जोयतां, सोहमइन्द्र जिन देखिया ए ।
कार्तिक शेठनो जीव ए जाणीए, पूरवभव तेहनो भाखीए ए ।।9।।

त्रुटक

भाखियो प्रभुने रही सन्मुख, सिंहासनथी उतरी, शक्रस्तव कहे भाव आणी, सात पग ओसरी ।
धर्मसारथी पदे सुणीए, कथा मेघकुमारनी, ज्ञानविमळ प्रभुगुणनी व्याख्या प्रथम ए अधि कारनी ।।10।।

ढाल दूसरी

(पृथ्वी-पाणी-तेउ-वाउ-वनस्पति-ए पांचे थावर कह्यां ए-ए देशी.)

शक्रस्तव कहे पूरण रोमाञ्चित थई, भावि अतीत जिन मनधरी ए ।
पञ्चकल्याणके एम शक्र थुणे सदा, शक्रस्तव नाम तेह भणी ए ।।1।।
हवे चिंते मन इन्द्र एह शुं नीपन्युं, एह अच्छेरु जाणीए ए ।
कोईक कालने अंते नीपजे एहवां, अचरिजकारी लोकने ए ।।2।।
तोए महारी भक्ति उत्तम ठाममां, गर्भ पालटी मूकवो ए ।
तेड़्यो हरिणगमेषी सुर पायकधणी, वात अच्छेरां दश कह्यां ए ।।3।।
जिनपद लहे उपसर्ग स्त्री तीर्थंकरी, गर्भपालटो जाणीए ए ।
निष्फळ जिनउपदेश हरि धातकी गया, युगल नरकगति पामियां ।।4।।
चमरो सोहम्मे जाय उत्कृष्ट तनुधणी, शत आठ एक समे सिझिया ए ।
रवि-ससी मूलविमाने वंदण आविया, असंयत यति परे पूजिया ए ।।5।।
नीच कुले नरि होय जिन चक्री हरियुग, उच्च कुले सवि ऊपजे ए ।
कोईक कर्मप्रभाव आवी ऊपना, पण जनम नवि संभवे ए ।।6।।

भव सत्तावीश मांहे मरीचि त्रीजे भवे, गोत्रमदे ए बांधियो ए ।
तेणे हेते थयुं एह, पण ए मूकवा, खतियकुळ नरपति जिहां ए ।।7।।
क्षत्रियकुंड़ ग्रामे भूप सिद्धारथ त्रिशला राणी तेहनी ए ।
थापो ए तस कूखे, तस बेटी तणो, गर्भ अछे ते तिहां ठवो ए ।।8।।
शीघ्र करो आदेश महारा वाहला, तहत्ति करीने चालियो ए ।
वैक्रिय निर्मळ रूप करी निज शक्तिथी, निराबाधशुं ते लहीए ।।9।।
थाप्यो त्रिशला कूखे ब्याशी दिन पछे, मानुं शुभ लग्न जोवा रह्या ए ।
त्रण ज्ञानी भगवंत आवी तिहां वस्या, आसो ज वदि तेरसी दिने ए ।।10।।
सुंदर घर सुख सेजे सूती सुंदरी, सुपन चौद लहे मज्झिम निशि ए ।
गज वृषभ सिंह श्री दाम शशी रवि ध्वज घट, सरोदधि विमान रयण शिखी ए ।।11।।
सिंह प्रथम मुख मांहे पेखे पेसतो, अवर सवे इम जाणीए ए ।
नीरखी हरखे ताम कंत कहे सुणो, शूर-वीर सुत होयशे ए ।।12।।
देवानंदा ताम देखे एहवुं, मुज सुहणां त्रिशला हरे ए ।
ऋषभदत्त कहे एम न रहे रङ्क घरे, रयणनिधि परे एहवो ए ।।13।।
वासघर सुखसेज अने वळी सुपनड़ां, सूत्रमांहे सवि वरणव्यां ए ।
उज्ज्वल गज चउदंत रे ऐरावण समो, आवीने ऊभो रह्यो ए ।।14।।

वृषभ लष्टपुष्ट देह रे तीखां शृंग छे, भ्रमरोपम सम लोयणां ए ।
सिंह उज्ज्वल तीखी दाढ अने शुभलक्षणो, उन्नत सौम्य सोहामणो ए ।।15।।
लखमी कमळे वसंती हिमवंत पर्वते, पद्मद्रह छे अभिनवो ए ।
एक कोड़ी वीश लाख खट वलये मळी, चोथे लखमी देवता ए ।।16।।
चार सुपनना अर्थ भाखी राशीए, सूत्र वखाण बीजुं थयुं ए ।
वड़ोकल्प दिन एम ओच्छवशुं करो, ज्ञानविमल गुरुमुख सुणी ए ।।17।।

ढाल तीसरी

(देशी-चोपाई)

हवे दश सुपन वर्णना, सूत्रपाठ सुणीए एकमना ।
राजा मज्जन कौतुक करे, अङ्गे वस्त्रविभूषण धरे ।।1।।
कल्पवृक्ष जिम फल्यो-फूल्यो, बादलथी रवि नीकल्यो ।
तिम आवी बेठो आस्थान, तेड़े कौटुंबिक पुरुष प्रधान ।।2।।
कहे बाहिर जे आस्थानशाल, लिंपी शुद्ध करो धूपाल ।
सिंहासन तिहां मांड़ो सार, जिहां बेसीजे लई परिवार ।।3।।
राणी सिंहासन अंतरे, परियची (पविरची) विच अंतर धरे ।
पूरवदिशि भद्रासन आठ, मंड़ावो सवि मेली ठाठ ।।4।।

तेणे तिम कीधुं धसमसी, ते निसुणी राजा थयो खुशी ।
कहे सुपनपाठक घेर जई, तेड़ी लावो तेने गहगही ।।5।।
जे अष्टाङ्ग निमित्तना जाण, ड़ाह्या वृद्ध आचारप्रमाण ।
तेहवाने ते तेड़ण गया, नृप तेड़्यें रळिआयत थाय ।।6।।
नाही पूजी घरना देव, कीधां तिलक तिणे सयमेव ।
उत्तरासङ्ग जनोई धरे, नृपामिलण सवि संचरे ।।7।।
आव्या गढने सिंहदुवार, मिली एकठा करे विचार ।
जिम (जो) अणमिल्या पांचसें सुभट, न लह्या मान थया गहगट्ट ।।8।।
ते माटे सवि संपे थई, वृद्ध एकनी आणा लेई ।
बोलीजे तो लहीजे मान, जिहां संत त्यां श्रेयनिदान ।।9।।
चिरंजीव जय जय भूपाळ, आशीर्वाद बोले गुणमाळ ।
आसन बेसण राजा दीए, फूल-फळादिक करमां लीए ।।10।।
सुपन तणो भाख्यो वृत्तान्त, लब्ध अर्थ भाख्यो इम तंत ।
मांहोमांहे विचारी कहे, निगमशास्त्रमां जेहवुं लहे ।।11।।
बहोंतेर सुपनां शास्त्रे लह्यां, तेमां बेंताळीस मध्यम कह्यां ।
त्रीश तेहमां उत्तम अछे, चौद विशेषे विस्तर रुचे ।।12।।

जिन वा चक्री माता लहे, हरिमाता सग चउ बळ ग्रहे ।
मण्ड़लिक एक लहे ए मांहे, शुभसूचक ए सुपन अथाहे ।।13।।
दीठो सांभळ्यो ने अनुभव्यो, आधि व्याधि चिंताशुं मव्यो ।
मळमूत्रादि प्रकृतिविकार, दीठां सुपन फळे न लगार ।।14।।
धर्मकर्मथी सुर सांनिध्ये, अतिपापोद्रेक अनविधे ।
एहथी सुपनां दीठां होय, प्राये तेह फळे सहु कोय ।।15।।
थिरचित्त जितेन्द्रिय शान्त, धर्मरुचि ने श्रद्धावंत ।
इत्यादिक गुणनो जे धणी, फळे शुभाशुभ सुपनह त (भ)णी ।।16।।
वुत्लदीपक ने वंशआधार, कीर्तिलाभ बळ भंड़ागार ।
होशे सुत रायनो राय, कहे चक्री के जिनवर थाय ।।17।।
इस्यां वयणे हरख्यो राज, आपे धन बहु करी सुपसाय ।
चौद सुपनारथ ए समुदाय, चौदराज उपर शिव ठाय ।।18।।
चउदंतो जग हरख्यो राज, आपे धन बहु करी सुपसाय ।
भरत क्षेत्रे बोधि बीज वावशे, वृषथी धर्मधुरा ठावशे ।।19।।
वुदृष्टि श्वापदे भविवन भांजतुं, राखशे सिंहबळे ए छतुं ।
वरसीदान दे जिनपद लच्छी, भोगवशे लच्छी फळ अच्छी ।।20।।

शिर धरशे सवि एहनी आण, कुसुमदाम फळ एह मंड़ाण ।
भविकुवलयबोधने शशी, भामण्ड़लभूषित रवि जिसी ।।21।।
धर्मप्रासाद शिखर बेसशे, पूर्णकळश फळ एह पामशे ।
ध्वजफळ शोभा होयशे, धर्मध्वज चउदिशि सोहशे ।।22।।
सुरनिर्मितकज पद ठावशे, सरोवव फळ इणिपरे भावशे ।
रत्नाकरदर्शन फळ मान, केवळज्ञान-रयण अहिठाण ।।23।।
चउ सुर वैमानिक पर्यन्त, सेवित थाशे विमान फळ कंत ।
रत्नराशि फळ ए थायशे, रत्नादिक गढ त्रय वासशे ।।24।।
शुद्ध स्वभाव कञ्चन शुद्धिकार, निर्धूम अग्निनो एह विचार ।
एहवां फळ प्रगट भाखियां, सुपनशास्त्र कीधां साखीयां ।।25।।
निसुणी राजा रंज्यो घणुं, प्रीतिदान ते केतुं भणुं ।
निजघर पोहता सुपनपाठवी, भूपे वात स्त्रीने दाखवी ।।26।।
सुपनपाठक आव्या जेटले, त्रीजुं वखाण थयुं तेटले ।
पण सुपनारथ आगळथी कह्यो, ज्ञानविमळ गुरुथी जे लह्यो ।।27।।

ढाल-चौथी (देशी 'शत्रुञ्जय मंडण' स्तुति)

हवे इन्द्र आदेशे, धनद तणा जे देव, तिर्यजृम्भक नामे, नृपघर भरे नित्यमेव ।
धन-कणनी कोड़ी, होड़ी करे कुण तास, सप्ताङ्ग नृपतिबळ, वाधे अतिउल्लास ।।1।।

मन चिंते एहवुं, मात-पिता तेणी वार, ए जनमे देशुं, नाम वर्द्धमानकुमार ।
एम मनोरथ वधते, गर्भ वधे गुणवंत, तव एकदिन चिंते, मायभक्ति भगवंत ।।2।।
नवि हाले फरके, मानुं साधे कोई ध्यान, मोह जीवन हेते, रहसि करे कोई तान ।
तव माताने मन, प्रसर्यो शोकसमुद्र, नवि खावे पीवे, चिंतातुर गतनिद्र ।।3।।
कंई वनदव दीधां, के भांज्यां बहुमाल, के सरोवर शोष्यां, के दीधां ऋषिआल ।
के तावड़े नाख्या, जू मांकड़ ने लीख, पशु पंखी पञ्जर, के केई भांजी भीख ।।4।।
ज्ञान-देव-साधारण-गुरुकल्पित जे द्रव्य, ते भख्यां भखाव्यां, कीधी करणी अभव्य ।
वळी अविधि आशातना, कीधी अने करावी, वळी अशुद्ध प्रवृत्ति, शक्ति तें न वरावी ।।5।।
कर्यां शातन कामण, कपट करीने वंच्यां, माया-बकवृत्ति, पापकरम बहु संच्यां ।
वळी शियळ विलुप्यां, के केई गर्भ हराव्यां, इत्यादिक बहुलां, पाप तणां फळ आव्यां ।।6।।
इहा दोषं न कोईनो, शोच करे शुं थाय, जिम जलधि मूक्यो छिद्रे घड़ो न भराय ।
मधुमासे न फूले, जो करीर तरु एक, तिहां जलधि वसंतनो, वांक किश्यो कहो छेक ? ।।7।।
तरु फळियो फळ नवी, वामन पामे घूक, देखे नवि ऊग्यो, सूरज तस शुं चूक ?
निर्भाग्यशिरोमणी, मेरु चढावी पाड़ी, लोचन दई लीधा, धिग् धिग् कर्म अजाड़ी ।।8।।
भोजन शुभ पीरसी, काढी लीए जिम थाल, तिम हुं दुःखणीने राज्यसुख सवि आल ।
किहां गई कुळदेवी, आज करी न संभाल, ए जीवित धन शुं ? कीजे सुख सुकुमाल ।।9।।

पूछे जिम सहियर, तिम तिम दुःख बहु साले, मूर्छा लही जाणी, शीतळ जळशुं वाळे ।
उपरत सवि नाटक, देखी नृपनुं गेह, तव ज्ञान प्रयुंजे, त्रिभुवनकरुणा गेह ।।10।।
सुख काजे कीधुं, दुःख काजे थयुं तेह, भावि कलि लक्षण, गुण ते दोष अछेह ।
इम जाणी फरक्या, एक दिशि प्रभु जाम, तव हरखी त्रिशला, फूल्युं मुखकज ताम ।।11।।
हुं त्रिभुवनधन्या, भाग्यदशा वळी आज, जिनपदसेवादि, सिद्धयां सघळां काज ।
मनोरथ कल्पद्रुम, फळियो सदळ सच्छाय, जिनघर जिनपूजा, धवलमङ्गल गवराय ।।12।।
वुंग्वुग्मना हाथा, बांधी तोरण माळ, नाटक प्रारंभे, उछाळे वर शाळ ।
मोतीचोक पूरे, चूरे सवि दारिद्र, सवि अर्थी जनने, देई दान अमुद्र ।।13।।
शणगारे तस जन, राजभुवन देवलोक, सरीखुं ते वेळा, मङ्गल थोकाथोक ।
तिहां सातमे मासे, अभिग्रह लीए गर्भमांहि, हुं श्रमण न थाउं, मातापिता होय ज्यांहि ।।14।।
(हवे त्रिशलादेवी, स्नान तिलक प्रसिद्ध, सवि अलङ्कार पहेरी, गर्भपालना कीध.)
शुभ दोहद पूरे, सिद्धारथ नृप तास, परिजन जिम कहे तिम, विचरे निज आवास ।
बिहुं महिलागर्भे, वसिया प्रभु नव मास, साड़ासात दिन उपर, पूरण पूरी आश ।।15।।
तिणे काळे समये, चैत्र तेरसी अजुआळी, दिसि निर्मळ पवनह, अनुकूळे रज टाळी ।
सवि शकुन प्रदक्षिणा, मेदिनी सवि निष्पन्न, जनपद सवि सुखियो, मुदित लोक सुप्रसन्न ।।16।।
उत्तराफाल्गुनी योगे, चन्द्र थयो शुभ लग्न, उच्चथानिक ग्रह सग, मज्झरयणी सुखमग्न ।
जनम्या निराबाध, त्रणनाणी गुणखाण, ज्ञानविमळगुरुए, भाख्युं चोथुं वखाण ।।17।।

ढाल पाँचवीं (देशी एकवीशानी-जिन जन्म्याजी, जिण वेळा जननी घरे.)

ढाल

जिन जन्म्याजी, सुखिया नारकी थावरा, तेज त्रिभुवनेजी, प्रगटे समीर सुहंकरा ।
दिशिकुमरीजी, छप्पननां आसन चळे, अवधिए जाणीजी, सपरिवार आवी मळे ।।

त्रुटक

मिले चउदिशि, उर्ध्व-अधोदिशि, आठ आठ तिम विदिशिनी ।
रुचकनिवासिनी चउ चउ, इम छप्पन सुहासिनी ।।
जिन-मात लेई त्रण केळघर करी, शुचिमज्जन ते करे ।
वरवस्त्रभूषण करीय शोभा, आवियां तिम संचरे ।।1।।

ढाल

सवि सुरपतिजी, जन्ममहोत्सव जिनतणो, मेरु आवेजी, मेली समुदाय अति घणो ।
इन्द्र सोहमजी, आवी जिनमाता नमे, लई जावेजी, करी अभिषेक पातक गमे ।

त्रुटक

रमे नाटिक भक्ति पूजा, करी आणंद अति घणो,
आठ मङ्गल भरी एकशत-आठ काव्य रचना भणे ।
बत्रीश कोड़ी सुवर्ण वरसी, भूपघर जिन मेलीआ,
अट्ठाईमहोत्सव नंदीसर करी, सकल सुर ठामे गया ।।2।।

ढाल

हवे राजाजी, परभाते महोत्सव करे, दश दिननोजी, नगर सवि ऊरण करे ।
नाम थापेजी, वर्द्धमान गुणथी भलुं, सग कर तनुजी, कञ्चनवाने निर्मलुं ।।

त्रुटक

अति भलुं बळ धैर्य जिननुं, हरि कहे ते न सही शक्यो,
अन्नाणी सुर एक आवी, रमत रमवाने धक्यो ।
आहि अमलीवृक्ष वींटी, रह्यो नाखे करें ग्रही,
वली ड़िम्भरूपे वृद्धि पाम्यो, ताड़ियो प्रभुए ग्रही ।।3।।

ढाल

पाय लागीजी, नाम महावीर देई गयो, लेखशाळेजी, ऊणां आठ वरसे थयो ।
जाणी अवधेजी, सुरपति तव तिहां आविया, द्विजरूपेजी, अध्यारू बोलाविया ।।

त्रुटक

बोलाविया सवि जन्मसंशय, हरि पूछे ते जिन कहे,
जैनेन्द्र व्याकरण प्रगट कीधुं, पाय लगी ते रहे ।
सहु लोक विस्मय देखी हरखे, ज्ञान परखे प्रभु तणुं,
ए भुवनभूषण प्रभुतणा गुण, इन्द्र कहे केता भणुं ? ।।4।।

ढाल

प्रभु परण्याजी, नरवर्मनृप यशोदा सुता, भोगवतांजी, विषयसुख थई एक सुता ।
अनुक्रमेजी, माता-पिता स्वर्गे गयां, वर्ष अड़वीशजी, घरवासे पूरण थयां ।।

त्रुटक

थयो अभिग्रह पूर्ण जाणी, नन्दिवर्धन विनव्या,
अनुमति न आपे नेहथी वळी, वरस दोय घरे रह्या ।
तिहां ब्रह्मचारी अचित्तआहारी, बन्धु प्रति करुणा करी,
लोकान्तिक सुखयण निसुणी, दिए दान संवत्सरी ।।5।।

ढाल

एक कोड़ीजी, अड़लख उपर नितु दिए, वर वरजोजी, इस्युं भाखे सवि भवि लीए ।
हरि चउसठजी, आव्या संयम ओच्छवे, चंद्रप्रभाजी, पालखी जिन आगळ ठवे ।

त्रुटक

स्तवे बहुपरे सकल सुरवर, नन्दिवर्द्धन नृप नरा,
ध्वज कळश मङ्गल आठ आगळ, वहे हय गय रथ वरा ।
क्षात्रियवुण्ड ग्राम मध्ये, दिवख लेवा संचरे,
नर-नारी नीरखे नयण हरखे, मुखे जय जय उच्चरे ।।6।।

ढाल

मृगशिर वदिजी, दशमी दिन पहर पाछले, ज्ञातखण्ड़ वनेजी, अशोकतरु तळे एकले ।
छट्ठभत्तेजी, चउविहार दूजे दिने, वस्त्र देवदूष्यजी, खंध धरे हरि शुभ मने ।।

त्रुटक

शुभ मने लोचे केश सघळा, पञ्चमुष्टि मुख भणे,
'करेमि सामाइयं' सामी तव, नाण मणपज्जव मुणे ।
हवे वीर वंदी नन्दिवर्द्धन-नृपप्रमुख वळे सुरवरा,
अवशेष मुहूर्त दिवस हुंते, कुमारग्रामे संचर्या ।।7।।

ढाल

तिणि रातेजी, गोपे परिसह मांड़िया, शुद्धि वृषभनीजी, न कहे रोषे ताड़िया ।
तव इन्दाजी, वारी कहे सेवा करुं, प्रभु भाखेजी आपबळे केवळ करुं ।।

त्रुटक

धरुं सहाय न केहनुं हुं, सुणी हरि सरगे गया,
सिद्धार्थ व्यंतर पासे थापे, प्रभु संयमधर थया ।
बहुल ब्राह्मण घरे पारणुं, परमान्ने पञ्चादिव्यशुं,
पांचमुं वखाण इणि परे सुणो, ज्ञानविमल कहे इश्युं ।।8।।

कल्पसूत्र के हिंदी प्रवचन

ढाल-छठी (देशी-झांझरिया मुनिनी, सुमतिनाथ गुणशुं मिलेजी)

पिता मित्र तापस मिल्योजी, बांह्य पसारी आय, कहे चोमासुं पधारजोजी, माने प्रभु इम थाय।
चउनाणी वीरजी भूतल करे रे विहार ।। ए आंकणी ।।1।।

दिव्य चूर्णवासे करीजी, भमरा पण विलगंत, कामीजन अनुकूलथीजी, आलिङ्गन देयंत ।। चउ0 2।।

मित्रद्विज आवी मील्योजी, चीवर दीधुं आध, आव्या तापस ऊड़वलेजी, चोमासे निराबाध ।। चउ03।।

अप्रीति लही पण अभिग्रह धरीजी, एक पख करी विचरंत, शूलपाणी सुर बोधियोजी, उपसर्ग सही अत्यंत ।। चउ04।।

मुहूर्त मात्र निद्रा लहीजी, सुहणां दश देखंत, उत्पल नाम निमित्तियोजी, अर्थ कहे इम तंत ।। चउ05।।

तालपिशाच हण्यो जे पहेले, ते हणशो तुमे मोह, सितपंखी फळ ध्यायश्योजी, शुक्लध्यान अखोह ।। चउ06।।

विचित्र पंखी पेखियोजी, कहेशो दुवालस अङ्ग, गोवर्गसेवित थापशोजी, अनुपम चउविह सङ्घ ।। चउ07।।

चउविध सुरसेवित हशोजी, पद्मसरोवर दिट्ठ, मेरु आरोहणे होयशेजी, सुवर्ण सिंहासन इट्ठ ।। चउ0 8।।

सूरजमंड़ल देखियुंजी, ते होशे केवळनाण, मानुषो अंतरे वीटियोजी, ते जग कीर्ति मंड़ाण ।। चउ09।।

जलधितरण फळ ए होशेजी, तरशो तुमे संसार, दामयुगल फळ नवि लहुंजी, ते कहो करी उपकार ।।चउ010।।

कहे प्रभु तव फळ तेहनुंजी, धर्म दुविध कहुं संत, प्रथम चोमासुं तिहां करीजी, विचरे समतावंत ।। चउ011।।

उतरतां गंगा नदीजी, सुरकृत सहे उपसर्ग, सम्बल कम्बले वारियोजी, पूर्वभवे गोवर्ग ।। चउ0 12।।

चण्ड़कोशियो सुर कीयोजी, पूर्वे भग्नचरित्र, सिंचे नयन सुधारसेजी, हवे मिल्यो मंखलीपुत्र ।। चउ013।।

नदीतीरे प्रतिबिम्बीयाजी, जिनपद लक्खण दिट्ठ, सामुद्रिक जोई कहेजी, इन्द्र थयो मनि इट्ठ ।। चउ014।।

सुर सङ्गम अधमे कर्याजी, बहु उपसर्ग सहंत, देश अनारज संचर्याजी, जाणी कर्म महंत ।। चउ0 15।।

व्यन्तरीकृत सही शीतथीजी, लोकावधि लहे नाण, पूर्वकृत कर्मे नड़्याजी, जेहना नहि परमाण ।।चउ016।।
चमरो शरणे राखियोजी, सुसुमारपुरि धरी ध्यान, अनुक्रमे चन्दनबालिकाजी, प्रतिलाभे भगवान ।।चउ017।।
काने खीला घातिजी, गोप करे घोर कर्म, वैदये ते वली उद्धर्याजी, सही वेदन अति मर्म ।। चउ0 18।।
साड़ाबार वरस लगेजी, कर्म कर्यां सवि जेर, चउविहार तप जाणवुंजी, नितु काउस्सग्ग जिम मेर ।।चउ019।।
हवे तपसंकलना कहुंजी, जे कीधो जिनराय, भूमि बेठा कदीये नहिजी, गोदुहिका आसन ठाय ।।चउ020।।

ढाल सातवीं (प्रभु पासनुं मुखडुं जोवा-ए देशी)

नव चउमास दो छ मास, अढीमासी दोढमासी, दुग दुग दुग त्रणमासी, कीधो एक छमासी ।।1।।
मासखमण बार जाणो, बहोंतेर पख दिल आणो, पण दिन ऊणा छमास, बिसय गुणतीस छट्ठ खास।।2।।
भद्र-महाभद्र पड़िमा, तेम सर्वतोभद्र महिमा, दुग चउ दश दिनमान, बार अट्ठम गुणखाम ।।3।।
दिक्खादिन एक लहीए, पारणदिन सवि कहीए, त्रणसें ओगणपचासे, तउविहार उल्लासे ।।4।।
बार वरस खट मास, उपर पख एक खास, एम छद्मस्थ पर्याय, प्रभु जृंभक गामे जाय ।।5।।
ऋजुवालिका तीरे, जीरणचैत्य अदूरे, सामा कोड़ंबीने खेटे, शालिद्रुम तणे हेठे ।।6।।
छट्ठभक्तने अंत, गोदुहिकासने बेसंत, माधव सुदि दशमी सङ्गे, शुक्लध्यान धरे मनरङ्गे ।।7।।
उत्तराफाल्गुनी योगे, पाछले प्रहर प्रसङ्गे, सूर्य पश्चिमे जावे, विजयमुहूर्त तिहां आवे ।।8।।
केवलज्ञान ए पावे, सकल सुरासुर आवे, दिये तिहां उपदेश, कोई न लह्यो धर्मलेश ।।9।।
तिहांथी अपापाए आव्या, समवसरण करी ठाया, तिहां प्रभुदेशना दीधी, कर्मकचोले ए पीधी ।।10।।

ढाल आठवीं (मैं भेट्यो रे गिरिराज-ए देशी)

तिहां अपापामां वसे रे, माहण सोमिल नाम तो यज्ञ मंड़ाव्यो छे तिहां, तेड़्या माहण रे, यज्ञना जाण के धन धन वीर वाणी, धन प्राणी रे, जेणे हृदये आणी के ।
धन धन वीर वाणी-ए आंकणी ।।1।।

(राग : श्रावण सुदी दिन पंचमीए)

मगधदेश गोबर गामथी, आविया धरी अहंकार तो ।
इन्द्रभूति आदे दई, अधिकारी रे, माहण अगियार तो ।। धन0 ।।2।।
इन्द्रभूति अग्निभूति, वायु सगा त्रिबन्धु तो ।
व्यक्त सोहम मण्ड़ित मोरिय, अकम्पिताचलभ्राता रे, मेतार्य प्रभास तो ।। धन0 ।।3।।
चउसहस चारसें अछे, तेहनो सवि परिवार तो ।
एकेको संदेह छे, मनमांहि रे, वहे गिरि जिम भार तो ।। धन0 ।।4।।
जीव कर्म जीव ते शरीर, भूत तेहवो थाय बंध तो ।
देव नारक पुण्य परलोकनो, मोक्ष न माने रे, ए संशय देख तो ।। धन0 ।।5।।
सुणी वीर सर्वज्ञने, आविया धरी अभिमान तो ।
निःसंशय करी तेहने, देई दीक्षा रे, कर्यो जन्म प्रमाण तो ।। धन0 ।।6।।
गणधर इग्यार थापिया, तीरथ थापे सार तो ।
सोहमने आदे करी, हस्तदीक्षित रे, मुनि चौद हजार तो ।। धन0 ।।7।।

आर्या चन्दना आदे दई, साधवी सहस छत्तीस तो ।
एक लाख गुणसट्ठी व्रतधरा, शङ्ख प्रमुखो रे, श्रावक लहेस तो ।। धन0 ।।8।।
सुलसा रेवति आदे दई, श्राविका त्रण लाख सार तो ।
सहस अढारह उपरे, ओहिनाणी रे, वळी तेरसें सार तो ।। धन0 ।।9।।
चौदपूरवी त्रणसें, सातसें केवळनाणी तो ।
तिम वैक्रिय-मणपज्जवी, सग पांचसें रे, वादी चउसय मान तो ।। धन0 ।।10।।
इत्यादिक परिवारशुं, करे भविकने उपकार तो ।
मध्य अपापापुरी जिहां, तिहां आव्यां रे, श्री वीर उदार तो ।। धन0 ।।11।।
प्रथम चोमासुं अस्थिग्रामे, विशालाए बार तो ।
चौद राजगृही जाणीए, पृष्टचम्पा रे, निश्राए त्रण सार तो ।। धन0 ।।12।।
षट् मिथिला दोय भद्रिका, आलम्भिकाए एक तो ।
एक अनारज भूमिका, सावत्थी रे, निश्राए एक तो ।। धन0 ।।13।।
बेतालीशमुं अपापाए, कर्युं करुणा आगार तो ।
हस्तिपालराजा तणी दानशाला रे, अंतिम चोमासुं सार तो ।। धन0 ।।14।।
अमावासी कार्तिक तणी, नक्षत्रे स्वाति संयोग तो ।
सोळ प्रहर देशना देयतां, करी पोसह रे, सुणे सवि नृप लोक तो ।। धन0 ।।15।।

सर्वार्थ मुहूर्ते पाछली, घड़ी होय रयणी जाम तो ।
योगनिरोध करी तिहां, छट्ठ भक्त रे, एकाकी स्वाम तो ।। धन0 ।।16।।
शिव पहोता श्री वीरजी, ते सुणी गौतमस्वाम तो ।
आपस्वभावे भावतां, परभाते रे, लहे केवल ताम तो ।। धन0 ।।17।।
तिणे समे वुंथु अणुद्धरी, ऊपनी जाणी विशेष तो ।
भस्मग्रह पण संक्रम्यो, जन्मरिक्षे रे, आयति फळ पेख तो ।। धन0 ।।18।।
दोय सहस वरिसां लगे, होशे भस्मग्रह प्रभाव तो ।
उदितोदित पूजा नहि, प्रवचने रे, एहवो कह्यो भाव तो ।। धन0 ।।19।।
भस्मग्रह पीड़ा टळ्ये, पछी होशे अधिक मंड़ाण तो ।
एकवीश सहस वरसां लगे, वीरशासननुं रे, कह्युं प्रमाण तो ।। धन0 ।।20।।
त्रीश वरस घरमां वस्या, बेंतालीस व्रतमांहि तो ।
सवि बहोंतेर वर्षनुं, आयु जाणो रे, जिननुं उछांहि तो ।। धन0 ।।21।।
पख दिवाली ते थयुं, जिहां लह्या जिन शिवसुख तो ।
सूत्रमांहे अधिकार छे, ते सुणतां रे, जाये भवदुःख तो ।। धन0 ।।22।।
श्री वीरना निर्वाणथी, नवसें ने ऐंशी वर्षे तो ।
ए सूत्र पुस्तके संग्रह्यो, देवड़्ढी रे, खमासमणे देख तो ।। धन0 ।।23।।

ध्रुवसेननृप उपरोधथी, आनंदपुरमां एह तो ।
सभा समक्षे वांचियो, नवसें त्राणुं रे, वरसे ससनेह तो ।। धन0 ।।24।।
नव गणधर श्री वीरना, जिन छते हुआ सिद्ध तो ।
राजगृही माससंलेखना, करी पहोता रे, परिवार प्रसिद्ध तो ।। धन0 ।।25।।
वरस बारे शिव लह्या, वीरथी गौतमस्वाम तो ।
ए अतिशय मोटो कह्यो, जे दिक्खे रे, ते लहे शिवठाम तो ।। धन ।।26।।
संप्रति वरते मुनिवरा, सोहमस्वामी परिवार तो ।
वीशे वरसे सिझिया, श्री वीरथी रे, सोहम गणधार तो ।। धन0 ।।27।।
पंच कल्याणक ए कह्यां, श्री वीर तणां विस्तार तो ।
ज्ञानविमल गुरुथी लह्यो, व्याख्याने रे, छट्ठे ए अधिकार तो ।। धन0 ।।28।।

ढाल नवमी-(देखी कामिनी दोय, के कामे व्यापियो-ए देशी.)

हवे सुणे पञ्च कल्याणक, श्री जिनपासनां, मारा लाल के श्री जिनपासनां ।
जिम होय समकित शुद्ध, सदा शुभ वासना, मारा लाल सदा शुभ वासना ।।
काशीदेश विभूषण, नयरी वाणारसी ।। मारा0 ।।नयरी ।।
अश्वसेननृप वामा, रति रम्भा जिसी ।। मारा0 ।। रति0 ।।1।।
प्राणतकल्पथी चविया, चैत वदि चोथमां ।। मारा0 ।। चैत0 ।।
विशाखा विधुयोगे, समय मज्झरयणीमां ।। मारा0 ।। समय0 ।।

वामाकूखे ऊपन्या, चौद सुपन लहे ।। मारा0 ।। चौद0 ।।
वीरतणी परे सर्व, कंत आगे कहे ।। मारा0 ।। कंत0 ।।2।।
अनुक्रमे पोष बहुल, दसमी दिन जाईआ ।। मारा0 ।। दसमी0 ।।
विशाखा मज्झरयणी, त्रिनाण सहाईआ ।। मारा0 ।। त्रिनाण0 ।।
दिशिकुमरी मह इन्द्र, नृपति आदे करे ।। मारा0 ।। नृपति0 ।।
सज्जन कुटुम्बने साखे, पास नाम ते धरे ।। मारा0 ।। पास0 ।।3।।
कृष्णसर्प निज शय्या, पासे दीठा भणी ।। मारा0 ।। पासे0 ।।
नीलवरण नव हाथ, काया सोहामणी ।। मारा0 ।। काया0 ।।
नयर कुशस्थल स्वामी, प्रसेनजित कुंअरी ।। मारा0 ।। प्रसेन0 ।।
प्रभावतीने परण्या, अनुक्रमे वयधरी ।। मारा0 ।। अनु0 ।।4।।
एक दिन बेठा जोवे, गोखे पुर जोवाय ।। मारा0 ।। गोखे0 ।।
एक दिशि लोक खलक, मिल्यो बली ढोयवा ।। मारा0 ।। मिल्यो0 ।।
पूछे पासकुमार किश्युं ए जन मले ।। मारा0 ।। किश्युं0 ।।
कमठ तापसनी वात, कही ते सांभले ।। मारा0 ।। कही0 ।।5।।
कौतुके नहि पण सहज-स्वभावे तिहां गया ।। मारा0 ।। स्वभावे0 ।।
बळतो पन्नग देखी, कहे तुज नहि दया ।। मारा0 ।। कहे0 ।।

तुरत कुठार मंगावी, काष्ठ विदारिओ || मारा0 || काष्ठ0 ||
जलतो पन्नग देखी, सहुए धिक्कारियो || मारा0 || सहुए0 ||6||
सेवक मुख नवकार, सुणावी उद्धर्यो || मारा0 || सुणावी0 ||
मरी थयो धरणेन्द्र, प्रभु जश विस्तर्यो || मारा0 || प्रभु0 ||
अपमान्यो तिहां कमठ, हठें बहु तप करी || मारा0 || हठें0 ||
मेघमाली थयो देव, अज्ञानपणे मरी || मारा0 || अज्ञान0 ||7||
त्रीश वरस गृहवासे, दे दान संवत्सरी || मारा0 || दे0 ||
पोषबहुल अगियारसी-दिन व्रत आचरी || मारा0 || दिन0 ||
त्रणसें पुरुष संघात, विशाखा अट्ठम तपे || मारा0 || विशाखा0 ||
आश्रमपद उद्यान, अशोक तणें द्रुमे || मारा0 || अशोक0 ||8||
धन्य विप्र घरे पारणुं, परमान्ने करे || मारा0 || पर0 ||
एक दिन वड़ तले, रयणिए काउस्सग्ग धरे || मारा0 ||रय0 ||
तिहां मेघमाली नाम, अधम सुर आवियो || मारा0 || अधम0 ||
देखी करे उपसर्ग, जलद वरसावियो || मारा0 जलद0 ||9||
जळमळी धूळीनी वृष्टि, करी नभ छाहियो || मारा0 || करी0 ||
तिणे रजे तेहि ज दुष्ट, कमठ शठ वाहियो || मारा0 || कमठ0 ||

मुशल परे जलधार, झबूके वीजळी	।। मारा0 ।। झबूके0 ।।
वहे तिहां नदी असराल, के राति तमे मळी	।। मारा0 ।। राति0 ।।10।।
आसन कंपे ताम, धरण सुर आवियो	।। मारा0 ।। धरण0 ।।
करी निज फणनो छत्र, घनौघ रखावियो	।। मारा0 ।। घनौघ0 ।।
पण नासा लगे नीर, चढयो तव जोईओ	।। मारा0 ।। चढ्यो0 ।।
हांक्यो कमठ उल्लंठ, भणे ए शुं कीयो	।। मारा0 ।। भणे0 ।।11।।
स्वामी आशातना कीध, हवे जाईश किहां ?	।। मारा0 ।। हवे0 ।।
चरणे शरणे पेसी, खमावे ते तिहां	।। मारा0 ।। खमावे0 ।।
करी नाटिक धरणेन्द्र, स्वकीय पदे गया	।। मारा0 ।। स्वकीय0 ।।
प्रभु पण करे विहार, त्र्याशी दिन थया	।। मारा0 ।। त्र्याशी0 ।।12।।
चैत्र बहुल तिथि चोथ, विशाखा विधु मळे	।। मारा0 ।। विशाखा0 ।।
छठभक्त धावड़ी हेठे, केवळ झळहळे	।। मारा0 ।। केवळ ।।
गणी गण आठ उदार, मुनि आर्यदिन	।। मुखा ।। मारा0 ।। मुनि0 ।।
सोल सहस तिम साहूणी, पुष्पचूला मुखा	।। मारा0 ।। पुष्प0 ।।13।।
अड़त्रीस सहस सुणो हवे, श्रावक श्राविका	।। मारा0 ।। श्रावक0 ।।
एक लख चौसठ सहस, सुव्रत मुख भाविका	।। मारा0 ।। सुव्रत0 ।।
त्रण लख सहस्स सत्तावीश, नन्दा आदि छे	।। मारा0 ।। नन्दा0 ।।
केवली सहस्स ज एक, अवधि मुनि चौदसें	।। मारा0 ।। अवधि0 ।।14।।

छसय ऋजु मणपज्ज, विपुलमति आठसें ।। मारा0 ।। विपुल0 ।।
चौदपूर्वी सय ऊठ, वादी मुनि छे छसें ।। मारा0 ।। वादी0 ।।
दश सय सिद्धया साधु, वीश सय साधवी ।। मारा0 ।। वीश0 ।।
बार सयां मुनिराज, अनुत्तर गति मवी ।। मारा0 ।। अनु0 ।। 15।।
सत्तरि वर्ष व्रतमांही, रही संमेतगिरि ।। मारा0 ।। रही0 ।।
आयु वरस शत एक, अंते योग संवरी ।। मारा0 ।। अंते0 ।।
मासभक्ते तेत्रीश, मुनिशुं परिवर्या ।। मारा0 ।। मुनिशुं0 ।।
काउस्सग्गमां मध्यरयणी-समय प्रभु शिव वर्या ।। मारा0 ।। समय0 ।।16।।
श्रावण सुदि दिन आठम, विशाखा रिख मिले ।। मारा0 ।। विशाखा0 ।।
वीरनिर्वाणथी वर्ष, अढीसय पाछले ।। मारा0 ।। अढी0 ।।
पुरिसादाणी एह, बिरुद एम दाखीए ।। मारा0 ।। बिरुद0 ।।
ज्ञानविमल गुरुवयणे, थिरचित्त राखीए ।। मारा0 ।। थिर0 ।।17।।

ढाल दसवीं-(देशी झमखड़ानी)

(राग : आओ बच्चे तुम्हे सिखाए)

नेमिसर तणां दाखीए रे, पोढां पञ्च कल्याण ।। सोभागी सांभळो ।।
अपराजित अनुत्तर थकी रे, चविया श्री जिनभाण ।। सोभागी सांभळो ।। ए टेक ।।1।।

बत्रीश सागर भोगवी रे, सोरीपुरे अभिराम || सो0 ||
समुद्रविजय नृपनी प्रिया रे, माता शिवादे नाम || सो0 ||2||
कार्तिक वदि बारसी दिने रे, चित्रा रिख विधु योग || सो0 ||
सुपनपेखण गर्भपोषणा रे, पाछल परे सवि भोग || सो0 ||3||
श्रावण सुदि पञ्चमी दिने रे, जन्म्या श्री जिनराज || सो0 ||
जन्ममहोत्सव सुर करे रे, पूरव परे नृपराज || सो0 ||4||
अरिष्टनेमि नाम थापियो रे, यदुकुळनो शिणगार || सो0 ||
एक दिन आयुधधर गया रे, शस्त्र ग्रह्यां तेणी वार || सो0 ||5||
राङ्ग पूर्यो जब शामळे रे, तव थया त्रिभुवन कम्प || सो0 ||
शंकित मन हरिनुं थयुं रे, न लहे किहां हि जम्प || सो0 ||6||
बल परिखण पण हारिओ रे, जिम जुआरी दाय || सो0 ||
अनुक्रमे गोपी मळे सवि रे, कीधा बहुला उपाय || सो0 ||7||
राजीमतीने परणवा रे, तोरण आव्या जाम || सो0 ||
पशुपोकार सुणी करे रे, पाछा वळिया ताम || सो0 ||8||
कुमारपणे वर्ष त्रणसयां रे, वार्षिक देई दान || सो0 ||
श्रावण सुदि छट्ठी दिने रे, सहस पुरुषशुं मान || सो0 ||9||
छट्ठभक्ते चित्ता रिखे रे, सहसावन लीये जोग || सो0 ||
छद्मस्था चौपन दिना रे, लहे केवळ संजोग || सो0 ||10||

आसो ज वदि अमावसी रे, अट्ठम करी चउविहार || सो0 ||
पच्छिम याम चित्रा रिखे रे, सहसावन गिरनार || सो0 ||11||
गणी अढारह थापिया रे, मुनिवर सहस अढार || सो0 ||
सहस चालीश जस साधवी रे, गुणमणी रयण भंड़ार || सो0 ||12||
एक लख गुणसत्तरी सहस्स रे, श्रावक सम व्रतधार || सो0 ||
त्रण लख सहस छत्तीस कह्यो रे, श्राविकानो परिवार || सो0 ||13||
चारसें चौद पूरवधरा रे. ओहिनाणी दोढ हजार || सो0 ||
वैक्रियलब्धि केवली रे, पन्नरसय वळी सार || सो0 ||14||
सहस विपुलमति जाणीए रे, आठसें वादी विचार || सो0 ||
सोलशत साधु अनुत्तर गया रे, सिद्धया दोढ हजार || सो0 ||15||
त्रण सहस सिद्धि आर्यिका रे, इम जिननो परिवार || सो0 ||
राजीमती संयम ग्रही रे, जिनहाथे लई शिव सार || सो0 ||16||
त्रणसें वरस घरे रह्या रे, सातसें व्रतपर्याय || सो0 ||
सहस वरसनुं आउखुं रे, रैवतगिरि जिनराय || सो0 ||17||
अषाढ सुदि आठम दिन रे, चित्रा रिख मध्य रात || सो0 ||
पांचसे छत्रीस साधुशुं रे, मासभक्ते विख्यात || सो0 ||18||
पर्यङ्कासन शिव लह्या रे, पासथी अंतर मान || सो0 ||
त्यासी सहस ने सातसें रे, वर्ष पचासनुं मान || सो0 ||19||

पांच कल्याणक नेमिनां रे, भाख्यां कल्पप्रमाण || सो0 ||
ज्ञानविमल गुरुमुखथी रे, विस्तार सुण्यो जाण || सो0 ||20||

ढाल ग्यारहवीं (नमो रे नमो श्री शेत्रुंजा गिरि-ए देशी)

(सुमतिनाथ गुणशुं मिलेजी)

सवि जिननां अवदात भणंतां, वाधे ग्रन्थविस्तार रे ।
तेह भणी शेष जिनना कहीए, अंतरनो अधिकार रे ||
सांभळजो श्रोताजन वारु0-ए आंकणी ||1||
नेमथकी पांच लाखे वरसे, श्री नमिजिनवर जाण रे ।
षट्लाखे मुनिसुव्रत मल्लि, चोपन लाख वर्ष प्रमाण रे || सांभळजो0 ||2||
कोटि सहस वर्षे अर जिनवर, कुन्थुने अंतर जाणो रे ।
एक पल्योपमनो भाग चोथो, कोटि सहस वर्ष ऊणो रे || सांभळजो0 ||3||
अर्द्ध पल्योपमे शान्ति जिनेश्वर, त्रण सागर पहेलां धर्म रे ।
पोण पल्योपम ऊणे कहीए, चार सागरे अनंतजिन मर्म रे || सांभळजो0 ||4||
नव सागर श्री विमल जिनेश्वर, त्रीश सागरे वासुपूज्य रे ।
चोपन सागरे श्री श्रेयांस, जिनवर थया जगपूज्य रे || सांभळजो0 ||5||
एक कोड़ी सागर गये शीतळ, तेहमां एटलुं न्यून रे ।
एक शत सागर ने छासठ लख, छव्वीस सहस वर्ष न्यून रे || सांभळजो0 ||6||

कल्पसूत्र हिन्दी प्रवचन

सुविधिनाथ नव कोटि सागर, नेवुं क्रोड़ सागरे चन्द्र रे ।
श्री सुपास नव शत क्रोड़ सागर, अंतर एह अमंद रे ।। सांभळजो0 ।।7।।
नव हजार क्रोड़ सागरे जाणो, पद्मप्रभ जिनचंद रे ।
नेवुं हजार क्रोड़ सागर सुमति, नव लख क्रोड़ अभिनंदन रे ।। सांभळजो0 ।।8।।
दश लाख क्रोड़ अयरे श्री संभव, त्रीश लाख सागर क्रोड़ रे ।
अजित थया तेहथी लख पंचाश, सागरे ऋषभजिन क्रोड़ रे ।। सांभळजो0 ।।9।।
ए निरवाणथी पश्चानुपूर्वी, अंतर केरुं मान रे ।
चोवीश जिननां त्रेवीश अंतर इम, चोथा आर प्रमाण रे ।। सांभळजो0 ।।10।।
सहस बेंतालीश पंचोतेर, मास वली साड़ा आठ रे ।
एटले ऊणो चोथो आरो, त्रेवीश जिनना पाठ रे ।। सांभळजो0 ।।11।।
ज्ञानविमल गुरुमुखथी लहीए, सातमे एह वखाण रे ।
सवि जिननां चरित्र सुणंतां, दिन दिन क्रोड़ कल्याण रे ।। सांभळजो0 ।।12।।

ढाल बारहवीं-(जी हो जाण्युं अवधि प्रयुंजीने-ए देशी)

जी हो पंच कल्याणक भाखीए, जीहो ऋषभ तणां सुखदाय ।
जी हो त्रीजा आराना छेहड़े, जीहो सुषम-दुषम कहेवाय ।।
चतुर नर सुणीए सूत्र सुजाण0-ए आंकणी ।।1।।
जी हो चुलसी लख पूरव वली, जी हो वर्ष त्रण ने अड़मास ।
जी हो एकपख उपरी थाकते, जी हो कुलघर घर थयो वास ।। चतुर0 ।।2।।

जी हो वदि चोथे आषाढनी, जी हो जम्बू भरत मझार ।
जी हो सरवारथथी आविया, जी हो नाभिनृपति शणगार ।। चतुर0 ।।3।।
जी हो मरुदेवी कूखे ऊपन्या, जी हो उत्तराषाढे चंद ।
जी हो मज्झरयणी तिहुं नाणशुं, जी हो देखे चौद सुपन ।। चतुर0 ।।4।।
जी हो नाभि अर्थ आपे कहे, जी हो अथवा भाखे इंद ।
जी हो सुपन-पाठक नथी ते समे, जी हो उचित करे सवि इंद ।। चतुर0 ।।5।।
जी हो चैत्र बहुल आठम दिने, जी हो उत्तराषाढे चंदयोग ।
जी हो जिन जन्म्या तव आविया, जी हो सकल सुरासुर लोग ।। चतुर0 ।।6।।
जी हो प्रथम वृषभ दीठा भणी, जी हो अथवा वृषभनुं अंक ।
जी हो वृषभ नाम तिणे थापियुं, जी हो वंश इक्खाग मयंक ।। चतुर0 ।।7।।
जी हो राजा प्रथम ए जाणीए, जी हो जुगलिक नर अभिषेक ।
जी हो करवाने तिहां आविया, जी हो हरि दाखे सुविवेक ।। चतुर0 ।।8।।
जी हो नयर विनीता वासियो, जी हो देखी विनयगुण ठाय ।
जी हो विवाहादिक सवि करे, जी हो इन्द्र इन्द्राणी आय ।। चतुर0 ।।9।।
जी हो ब्राह्मी-भरत सुमङ्गला, जी हो प्रसवे युगल समेत ।
जी हो सुंदरी-बाहुबली जणे, जी हो सुनन्दा सुभचेत ।। चतुर0 ।।10।।
जी हो सुमङ्गलाने थया, जी हो युगल ओगणपचास ।
जी हो शत बेटा दोय बेटड़ी, जी हो शतविज्ञान प्रकाश ।। चतुर0 ।।11।।

जी हो बहुत्तेर पुरुष तणी कला, जी हो नाही कला चौसट्ठ ।
जी हो लिपि अढारे सोहामणी, जी हो कुल चउ थापे उक्किट्ठ ।। चतुर0 ।।12।।
जी हो वीश लख पूरव कुमारमां, जी हो त्रेसठ पूरव राज ।
जी हो देश दिये सवि पुत्रने, जी हो भरत विनीता राज ।। चतुर0 ।।13।।
जी हो लोकान्तिक सुर वयणथी, जी हो देई वरसीदान ।
जी हो बेसी सुदंसणा पालखी, जी हो चार सहन नर मान ।। चतुर0 ।।14।।
जी हो चैत्र बहुल आठम दिने, जी हो छट्ठ तप उत्तराषाढ ।
जी हो चउमुट्ठी लुंचन करे, जी हो परीषह सहे अगाढ ।। चतुर0 ।।15।।
जी हो वरसाधिक गये पारणुं, जी हो इक्खुरस दीए श्रेयांस ।
जी हो वरस सहस छद्मस्थमां, जी हो विहार करे निराशंस ।। चतुर0 ।।16।।
जी हो फाल्गुण वदि अगियारशे, जी हो पुरिमताल उद्यान ।
जी हो अट्ठम उत्तराषाढशुं जी हो पामे केवलज्ञान ।। चतुर0 ।।17।।
जी हो सकळ सुरासुर आविया, जी हो चक्री भरत नरिंद ।
जी हो मरुदेवी सिद्धया तणो, जी हो उत्सव करे आणंद ।। चतुर0 ।।18।।
जी हो ऋषभसेन आदे करी, जी हो चोराशी गणधार ।
जी हो सहस चोराशी मुनिवरा, जी हो साधवी त्रण लख सार ।। चतुर0 ।।19।।
जी हो त्रण लख श्रावक जेहने, जी हो उपर पांच हजार ।
जी हो पण लाख चोपन सहस छे, जी हो श्राविका परिवार ।। चतुर0 ।।20।।

जी हो चार सहस साड़ा सातसें जी हो चौद पूरवधर जाण ।
जी हो नव सहस ओहि केवली, जी हो वीश सहस परिमाण ।। चतुर0 ।।21।।
जी हो वीश हजार छ सय उपरे, जी हो वैक्रियलब्धि मुणिंद ।
जी हो बार सहस छय विपुलमति, जी हो पंचाश अधिक अमंद ।। चतुर0 ।।22।।
जी हो तेता वादी जाणीए, जी हो वीश सहस मुनि सिद्ध ।
जी हो चालीश सहस सिद्ध साहूणी, जी हो तेणे मनवंछित लीध ।। चतुर0 ।।23।।
जी हो सहस बावीश नव शत मुनि, जी हो अनुत्तर पहोत्या तेह ।
जी हो एक लाख पूरव इणी परे, जी हो व्रतपर्याये एह ।। चतुर0 ।।24।।
जी हो लख चोराशी पूर्वनुं जी हो पाळी पूरण आय ।
जी हो दश सहस मुनिशुं परिवर्या, जी हो अष्टापदगिरि जाय ।। चतुर0 ।।25।।
जी हो माघबहुल तेरशी दिने, जी हो अभिजित नक्षत्रे चंद ।
जी हो चौदभक्त पद्मासने, जी हो शिव पहोता जिनचंद ।। चतुर0 ।।26।।
जी हो आसन चले सवि इन्द्रनां, जी हो आवे लई परिवार ।
जी हो करे उत्सव निरवाणनो, जी हो जन्बूपन्नति अधिकार ।। चतुर0 ।।27।।
जीहो पख नेव्याशी थाकते, जी हो त्रीजा आरा मांह ।
जीहो ऋषभजी शिवसुंदरी वर्या, जी हो ए थितिनो प्रवाह ।। चतुर0 ।।28।।
जीहो आदिकरण ए धर्मनो, जी हो एहशुं धर्मसनेह ।
जीहो प्रथम तीर्थंकर मुनिपति, जी हो ज्ञानविमल गुणगेह ।। चतुर0 ।।29।।

ढाल तेरहवीं-(नमो नमो मनक महामुनि ए देशी, कडवा फल छे क्रोधना)

नमो नमो गणधर स्थविरोने, वीर तणा अगियार रे ।
इन्द्रभूति अग्निभूति वायुभूति, व्यक्त सोहम गणधार रे ।। नमो0 ।।1।।
मंड़ित मोरियपुत्रजी, अकंपित अचलभ्रात रे ।
मेतार्य प्रभास जाणीए, एकादश गणी ख्यात रे ।। नमो0 ।।2।।
वीर छते नव शिव लह्या, सपरिवार मासभक्ते रे ।
राजगृहे वळी गोयमो, बार वरस वीर अंते रे ।। नमो0 ।।3।।
सोहमगणी श्री वीरथी, वीश वरसे शिव लहिया रे ।
तेहना जंबू केवली, पछी शिव केवळ रहिया रे ।। नमो0 ।।4।।
प्रभव सिज्जंभव जाणीए, जशोभद्र संभूति विजया रे ।
भद्रबाहु थूलिभद्रजी, श्रुतकेवळी[1] षट् कहिया रे ।। नमो0 ।।5।।
आर्यसुहस्ति महागिरि, सुस्थित सुपड़िबद्धा रे ।
इन्द्रदिन्न सिंहगिरि जाणीए, दिन्न धनगिरि सुप्रसिद्धा रे ।। नमो0 ।।6।।
वयरसेन वज्रसेनजी, ए दश पूरवधारी रे ।
गुणसुंदर श्यामाचार्यजी, शाण्ड़िलाचार्य गुणधारी रे ।। नमो0 ।। 7।।
श्रीधर्म रेवतिमित्रजी, भद्रगुप्त ने श्रीगुप्त रे ।
वज्रसूरि दश पूरवी, युगप्रधान पवित्र रे ।। नमो0 ।।8।।

तोसलीपुत्र आर्यरक्षित, मनकने (?) आर्यसमिता रे ।
यावत देवर्द्धिगणी, थविर सवे गुणवित्तारे ।। नमो0 ।।9।।
शाखा-कुळ वळी एहनां, नंदि आवश्यके कहीए रे ।
कल्पसूत्र थविरावली, तस गुण सुणी गहगहीए रे ।। नमो0 ।।10।।
आदि चरित्र थविरावली, कही आठमे वखाणे रे ।
पार न एहना गुणनो, ज्ञानविमल गुरु जाणे रे ।। नमो0 ।।11।।

ढाल चौदहवीं- (देशी-अलबेलानी, एक दिन पुंडरिक)

हवे संवत्सरीने दिने रे लाल, करे ओच्छवमंड़ाण-सवि साहमी रे ।
पुस्तक पूजो प्रेमशुं रे लाल, निसुणो सूत्र वखाण-सुखकारी रे ।।
सूत्र सुणो विधिशुं सदा रे लाल ।।1।।
जिम लहो निर्मळ नाण-सु0 । योगवाही गुरु जे हुवे रे लाल, आचारी अर्थना जाण-सुखकारी रे ।
अनभिनिवेशी अमत्सरी रे लाल, सुविहित मुनिगुणखाण-सुखकारी रे।। सूत्र0 ।।2।।
गीत-गान वाजिंत्रशुं रे लाल, पूरो मङ्गल आठ-सु0 ।।
सावधान बहुभावशुं रे लाल, सुणो कल्पसूत्रनो पाठ-सु0 ।। सूत्र0 ।।3।।
पूजा ने परभावना रे लाल, चैत्यप्रवाड़ी सार-सु0 ।।
पोसह आराधना करो रे लाल, अट्ठम धरे नर-नार-सु0 ।। सूत्र0 ।।4।।

लाहो लीए निज वित्तनो रे लाल, करी अति परिघल चित्त-सु0 ।।
सूत्र संपूरण सांभळे रे लाल, पर्व ए सर्वपवित्त-सु0 ।। सूत्र0 ।।5।।
आगम अक्षर सांभळे रे लाल, जावे पूरव पाप-सु0 ।।
विधिजोगे जो सांभळे रे लाल, नासे तिमिर संताप-सु0 ।। सूत्र0 ।।6।।
संपूरण तेह सांभळी रे लाल, भावे आपस्वभाव-सु0 ।।
करे वधाई न्युंछण रे लाल, जिम होय धर्म जमाव-सु0 ।। सूत्र0 ।।7।।
ज्ञानविमलगुरु उपदिशे रे लाल, सामाचारी मुनिधर्म-सु0 ।।
आलावा चोसठे करी रे लाल, अड़वीश भेदे मर्म-सु0 ।। सूत्र0 ।।8।।

ढाल पंदरहवीं-(टोडरमल जीत्योजी-ए देशी, आतम भक्त्ये मल्पाकेई)

इम ओच्छव आड़म्बरे रे, सुणी सुणी सूत्र वखाण-जिणंदराय जीत्यो रे ।
जीत्या जीत्या कर्मना मर्म-जिणंदराय0 भाग्या भाग्या मिथ्यात मर्म-जिणंद0 ।।आंकणी।।
विषय-कषाय शमाविया रे, प्रसरी समतावेली-जिणंद0 ।।
जिनशासन वर मंड़पे रे, साधर्मिक करे केली-जिणंद0 ।।
गाय गाय गोरी गेली-जिणंद0 ।। कूड-कपट सवि मेली-जिणंद0 ।।
काढ्या काढ्या दुश्मन ठेली-जिणंद0 ।। जागी जागी अनुभव वेली-जिणंद0 ।।1।।
सतीय सोहागण सुंदरी रे, गावे गावे मधुरी गीति-जिणंद0 ।।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रनी रे, बांधी बांधी सबली नीति-जिणंद0 ।।

थई थई जगमां जीत-जिणंद० ।। पामी पामी पुरुषप्रतीत-जिणंद० ।।
मल्या मल्या मनना मित्त जिणंद० ।। गई गई भवनी भीत-जिणंद० ।।2।।
अनुभवलवे जे गुण होय रे, ते भांगे भवनी कोडी-जिणंद० ।।
दुरित उपद्रव उपशमे रे, न करे को अनुभव होडी-जिणंद० ।।
नहि जिनशासन जोडी-जिणंद० ।। हर्षित होडा-होडी जिणंद० ।।
मली मली मोडा मोडी-जिणंद० ।। चूरे चूरे कर्म कठोरी-जिणंद० ।।3।।
एम श्रीपर्व सोहामणो रे, करे जिनमतना जाण-जिणंद० ।।
ज्ञानविमल गुरुयोगथी रे, प्रगटे पुण्यप्रमाण-जिणंद० ।।
आज ऊलुं सुविहण-जिणंद० ।। प्रगट्यो समकित भाण-जिणंद० ।।
नाठां नाठां दुरित अन्नाण-जिणंद० ।। आगम मोज महिराण-जिणंद- ।।4।।
वाग्यां वाग्यां जयंत निशान-जणंद० । नमता राणोराण-जिणंद० ।।
गाळ्यां गाळ्यां कुमतिनां मान-जिणंद० ।। पोष्यां पोष्यां पुण्यनां ठाण-जिणंद० ।।
उत्सव अधिक मंड़ाण-जिणंद० । सज्जननां मेलाण-जिणंद० ।।
बोले बोले जय जय वाण-जिणंद० ।। दिन दिन कोड़ी कल्याण-जिणंद० ।।5।।

पट्टावली

दोहा

हवे सुविहित पट्टावली, जिनशासन शिणगार । आचारज अनुक्रमे थया, नाम थकी कहुं सार ।।1।।
एक एकना गुण घणा, कहेतां नावे पार । परंपराए आविया, धर्म तणा दातार ।।2।।

ढाल सोल्हवीं (तपगच्छनन्दन सुरतुरु प्रगट्या-ए देशी)

वीरतणी पाटे हवे पहेला, सोहमगणी गुणखाणीजी ।
बीजा जम्बूस्वामी कहीए, छेल्ला केवळनाणीजी ।।
त्रीजा प्रभवगणी वळी चोथा, सिज्जंभव गणधारजी ।
मनकपुत्र हेतु जेणे कीधुं, दशवैकालिक सारजी ।।1।।
यशोभद्रगणी पंचम जाणो, छट्ठा संभूतिविजयजी ।
भद्रबाहु ए चौदपूरवी, कल्पसूत्र जेणे रचियांजी ।।
दश निर्युक्ति ने उवसग्गहर, स्तोत्र रच्युं सङ्घ हेतजी ।
थूलिभद्रगणी सत्तम पाटे, जेह थया शुभ चित्तजी ।।2।।
नागरकुल आगर सवि गुणना, कोश्या जेणे प्रतिबोधीजी ।
शीलवंत सिरदार त्रिभुवने, विजयपताका लीधीजी ।।
आर्यमहागिरि आर्यसुहस्ति, पाट आठमे कहीएजी ।
द्रम्मक दिक्खी संप्रति कीधो, जिनकल्प तुलना लहीएजी ।।3।।
नवमा सुस्थित-सुप्रतिबद्धा, दोय आचारज जाणोजी ।
क्रोड़ वार सूरिमंत्र जापथी, कोटिक बिरुद धराणोजी ।।
आठ पाट लगे बिरुद निर्ग्रन्थनुं, हवे दशमा इन्द्रदिन्नाजी ।
एकादशमा दश पूरवधर, सूरि श्री वळी दिन्नाजी ।।4।।

बारमां श्री सिंहगिरिसुरिसर, तेरसमां वयरसामिजी ।
अंतिम ए दश पूरवधारी, लब्ध अनेक जिणे पामीजी ।।
नभोगामी वैक्रिय खिरासव, शासन भासनकारीजी ।
प्रवचन रचना जेणे समारी, अतिशय गुणना धारीजी ।।5।।
वज्रसेन तस पाटे चौदमा. जेणे सोपारानयरेजी ।
कही सुगाल चउ सुत व्यवहारी, विषभक्षणथी वारेजी ।।
दिक्ख दईने भवजल तार्या, चार आ चारज थाप्याजी ।
एकेकना एकवीश, चोराशी गण थाप्याजी ।।6।।
चंदसूरि पन्नरमे पाटे, चंदगच्छ बिरुद बीजुंजी ।
समंतभद्र सोळमा वनवासी, बिरुद थयुं ए त्रीजुंजी ।।
वृद्धदेवसूरि सत्तरमा, अढारमा प्रद्योतनसूरिजी ।
मानदेव ओगणीशमा जाणो, शान्ति करी जेणे भूरिजी ।।7।।
मानतुंगसूरि वळी वीशमा, भक्तामर जेणे कीधुंजी ।
वीरसूरि एकवीशमा जाणो, अभिग्रहव्रत जेणे लीधुंजी ।।
जयानन्दसूरि बावीशमा, देवानन्द तेवीशाजी ।
चोवीशमा श्री विक्रमसूरि, श्री नरसिंह पणवीशाजी ।।8।।

समुद्रसूरि छव्वीस सगवीसा, वळी सूरि श्री मानदेवजी ।
विबुधप्रभसूरि अड़वीशा, जयानन्द गुणत्रीशाजी ।
रविप्रभसूरि थया वली त्रीशा, जशोदेव एकत्रीशाजी ।
श्री प्रद्योतनसूरि बत्रीशमा, मानदेव तेत्रीशाजी ॥9॥
विमलचंदसूरि चउतीसा, उद्योतन पांत्रीशाजी ।
सर्वदेवसूरि छत्रीशमा, देवसूरि सड़त्रीशाजी ॥
वळी सर्वदेवसूरि अड़त्रीशा, वड़गच्छ बिरुद धराव्युंजी ।
गुणचालीसा जशोभद्रसूरि रैवततीर्थ शोभाव्युंजी ॥10॥
नेमिचन्द मुनिचन्द मुनीसर, चालीशमे दो भायाजी ।
अजितदेवसूरि इगचालीशमा, जिनवरचरित रचायाजी ॥
विजयसिंह बेतालीश पाटे, सोमप्रभ मणिरयणाजी ।
दोय आचारज तेतालीशमा, रचित सिंदुरप्रकरणाजी ॥11॥
जगतचन्द्रसूरि चुंमालीशमा, महातपा बिरुद उपायुंजी ।
जावजीव आंबिल पर साधी, जिनमत सबल सोहायुंजी ॥
कर्मग्रन्थ-भाष्यादिक कीधां, देविंदसूरि पणयालेजी ।
धर्मघोषसूरि षट्चालीशा, कोरिंट तीर्थने वालेजी ॥12॥

आराधना प्रकरणना कर्ता, सोमप्रभ सगचालीशाजी ।
सोमतिलक अड़तालीश गुणवन्न, देवसुन्दरसूरीशाजी ।।
पाटे श्री सोमसुन्दरसूरि, ते पंचाश प्रसिद्धाजी ।
उपदेशरत्नाकर अध्यातम-कल्पद्रुमादि बहु कीधांजी ।।13।।
कर्ता संतिकरंना जाणो, मुनिसुन्दर एगवन्नाजी ।
कीधा श्राद्धविध्यादिक ग्रन्था, रत्नशेखर बावन्नाजी ।।
लक्ष्मीसागरसूरि त्रेपनमा सुमतिसाधु चोपनमाजी ।
हेमविमलसूरिसर जाणो, प्रगटपुण्य पणपन्नाजी ।।14।।
श्री आनंदविमलसूरीसर, थया छप्पनमी पाटजी ।
क्रिया उद्धार करीने कीधी, ऊजली प्रवचनवाचजी ।।
विजयदानसूरि सत्तावन, पाटे जस गुण पूराजी ।
अड़वन्न पाटे हीरविजयसूरि, जस गुण नहि अधूराजी ।।15।।
साही अक्कबरने प्रतिबोधी, शासनसोह चढावेजी ।
विजयसेनसूरि गुणसट्ठ पाटे, निजमति वादी हरावेजी ।।
पाट साठमे पुण्ये प्रगट्या, विजयदेव गणधारजी ।
आचारज विजयसिंहने दिक्ख्या, मोदिनीपुर शिणगारजी ।।16।।

सुरप्रतिबोधन काजे पहोत्या, जाणी निज पट थापेजी ।
श्री विजयप्रभसूरि एकसठ पाटे, विजयदेवसूरि आपेजी ।।
संवेगी शुद्ध पंथपरूपक, विमल शाखा शिणगारीजी ।
ज्ञानविमलसूरि बासठ पाटे, विजयवंत सुखकारीजी ।।17।।
पूर्वाचार्य थया गुणवंता, ज्ञान-क्रियागुण भरियाजी ।
श्रद्धा ज्ञान कथन ने करणी, ए चउगुणना दरियाजी ।।
ते सुविहित मुनिवन्दन करतां, निर्मल समकित थावेजी ।
अहोनिश आतमभाव अनुपम, ज्ञान अनंतु पावेजी ।।18।।

।। मूल रास संपूर्ण ।।

कल्पसूत्र के विविध प्रवचन

प्रवचन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

द्वारा आलेखित **210** पुस्तकों में से प्राप्य हिन्दी भाषा में जैन धर्म का अमूल्य खजाना

Sr. No.	पुस्तक क्र.	पुस्तक का नाम	मूल्य
अध्यात्मयोगी पूं.पं.श्री पंन्यासजी म. का साहित्य			
1	100	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
2.	161	अजातशत्रु अणगार	100/-
3.	201	महान् योगी पुरुष	85/-
4.	146	आध्यात्मिक पत्र	60/-
5.	178	परम-तत्व की साधना भाग-2	150/-
6.	179	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
7.	183	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
8.	186	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
9.	193	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
10.	207	मंत्राधिराज प्रवचन सार	80/-
जैन धर्म का पाठ्यक्रम			
1.	97	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
2.	104	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
3.	107	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-
4.	120	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-
5.	132	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-
6.	133	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-
7.	123	जीव विचार विवेचन	60/-
8.	122	नव तत्त्व-विवेचन	60/-
9.	135	दंडक सूत्र	50/-
10.	194	लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	100/-
11.	127	तीन भाष्य (चैत्यवंदन भाष्य, गुरुवंदन व पच्चक्खाण)	150/-
12.	102	कर्मग्रंथ-पहला (हिन्दी विवेचन)	100/-
13.	196	कर्मग्रंथ-दूसरा-तीसरा (हिन्दी विवेचन)	70/-
14.	197	चौथा-कर्मग्रंथ (हिन्दी विवेचन)	55/-
15.	204	पाँचवाँ-कर्मग्रंथ	100/-
16.	205	छठा-कर्मग्रन्थ	160/-
17.	144	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	100/-
18.	164	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-
19.	165	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
20.	192	विवेकी बनो	90/-
वैराग्य पोषक ग्रंथ			
21.	140	वैराग्य शतक	80/-
22.	156	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
23.	191	संबोह-सित्तरि	70/-
जीवन-उपयोगी साहित्य			
24.	13-14	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना-भाग-1-2	140/-
25.	18-19	जैन-महाभारत	130/-
26.	29	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
27.	34-35	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
28.	36	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
29.	42	भक्ति से मुक्ति (पांचवी आवृत्ति)	40/-
30.	73	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
31.	84	प्रभु दर्शन सुख संपदा	60/-
32.	53	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
33.	139	सज्झायों का स्वाध्याय	35/-
34.	203	प्रेरक-प्रवचन	80/-
35.	109	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
36.	128	विविध-तपमाला	100/-
37.	55	विविध-देववंदन	60/-
38.	167	Pearls of Preaching	60/-
39.	200	अमृत रस का प्याला	300/-
40.	202	बारह चक्रवर्ती	64/-
41.	145	आओ संस्कृत सीखें भोग-2	270/-
42.	190	संस्मरण	50/-
43.	206	Celibacy	70/-
44.	61	Panch Pratikraman Sootra	60/-
45.	172	रत्न-संदेश-भाग-1	150/-
46.	174	रत्न-संदेश-भाग-2	150/-
47.	170	आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-2	70/-
48.	134	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-
49.	208	श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
50.	209	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-
51.	210	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-

Shubhay 98338 35899